सोल एजेन्टः—शारदा मन्दिर लि०,
नई सड़क देहली.

बाबू चांदमल चण्डक प्रवन्धकर्त्ता के प्रवन्ध से
वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित.

भूमिका

इस ग्रन्थ "कर्मरहस्य" की सामग्री कई वर्षों से एकत्र की जा रही थी और लगभग ३ वर्ष हुए जब एकत्रित हो चुकी थी परन्तु अनेक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण उस सामग्री को तरतीब देकर लिखने का अवसर नहीं मिल सका था। गत वर्ष सार्वदेशिक सभा के कार्य-भार से अवकाश प्राप्त होने पर अवसर मिला कि मैं इसे लिखूं। तदनुसार $1\frac{1}{2}$ वर्ष के परिश्रम से ग्रन्थ के समाप्ति का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके लिये मैं ईश्वर को अनेक धन्यवाद देता हूं। कर्म के सम्बंध में किसी विस्तृत ग्रन्थ के न होने से, सदैव इस प्रकार के ग्रन्थ की मांग रहा करती थी। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस ग्रन्थ से वह ज़रूरत पूरी हो जावेगी परन्तु यह अवश्य होगा कि प्रत्येक स्वाध्यायशील विद्वान् के हाथ में, विचार करने के लिये, बहुतसी सामग्री, आजायेगी।

ग्रन्थ के तय्यार करने में अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गई है। उनकी सूची प्रारंभ के पृष्ठों में दी गई है। मैं उन सभी ग्रन्थकर्त्ताओं का, जिनके वे ग्रन्थ हैं, आभारी हूं और हृदय से उन्हें धन्यवाद देता हूं। इन्हीं प्रारंभिक शब्दों के साथ, ग्रन्थ, स्वाध्यायशील जनता के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। ग्रन्थ के अन्त में एक छोटासा कोष, पाठकों के लाभार्थ, दे दिया गया है जिससे ग्रन्थ में प्रयुक्त विशेष हिन्दी शब्दों के साथ असली अंगरेज़ी के शब्द भी जाने जा सकें।

नारायण-आश्रम,
रामगढ़ (नैनीताल)
ज्येष्ठ शुक्ला ३ सं० १९९४ वै०

नारायणस्वामी.

(२०) New Essays (Locke).
(२१) Rech de la Verite by Male Branch (English Translation).
(२२) System of Logic by J. S. Mill.
(२३) Theory of Good and Evil by Rashdall.
(२४) महाभारत व्यासकृत ।
(२५) शुक्रनीति ।
(२६) Problems of Time by Alexander Gune.
(२७) A Follower of the Scholastic Philosophy by Thomas Aquinos
(२८) Treatise by Bossuat.
(२९) The Works of Thomas Reid (Hamilton's Edition)
(३०) C. F. Lecture by Bradley
(३१) The Memorium (Robinson's Edition)
(३२) शतपथ ब्राह्मण ।
(३३) योगदर्शन का व्यासभाष्य ।
(३४) First Principles by H. Spencer
(३५) Christ and Human Suffring by E Stanley Jones
(३६) वेदान्त का शंकरभाष्य ।
(३७) Leslie Stephen's Science of Ethics.
(३८) Mill's Utilitarianism (15th Edition)
(३९) Passing of Empire by H F. Halles
(४०) Method of Ethics by Sidgwick (7th Edition)

(४१) मनुस्मृति ।

(४२) संयुक्त निकाय (Quoted by Mrs. Davids).

(४३) Nicome Ethics.

(४४) Problem of Freedom.

(४५) The Problem of Philosophy.

(४६) Principles of Philosophy by Descartes.

(४७) Letter to Peremers, Edition V Cousin Vol. VI.

(४८) Letter to a Jesuit Father Edition V. Cousin Vol. IX.

(४९) Ethics by Spinoza

(५०) Enquiry Concerning the Human Understanding by Hume.

(५१) Preface to 2nd Edition of the Critic of Pure Reason by Kant.

(५२) The Socialistic PhilanthiophicalS ystem of Robert Owen

(५३) The Renaissance by W. Petre.

(५४) The Will to Believe and Other Essays by William James.

(५५) C. F. Foillee, L Avenir de la Metaphy sique (English Translation).

(५६) Mind by D. S. Shadworth Hodgson.

(५७) Prelegomena to Ethics by Greene.

(५८) Companion Volume Melaphysics by Laurie

(५९) Modern Philosophy by J. Ward

(६०) L Evolution Ensmedes Idees Eorces by M. Fouillee (Introduction) English Translation

(६१) Appearance and Reality by Bradley.

(६२) The World and the Individual by Royce.

(६३) English Works of Hobbes (Molesworth's Edition)

(६४) Jonathan Edward's "Enquiry" (4th Edition)

(६५) Encyclopedea Britannica (9th Edition).

(६६) The World as Will and Idea (English Translation).

(६७) Pathway to Reality by R. B. Haldeme.

(६८) Dr. J S Haldeme's Two Geny's Hospital Lectures on Life and Mechanism.

(६९) The Natural and Agnosticism by Prof James Ward

(७०) Prof Taylor's Element of Metaphysics.

(७१) Analytic Payehology by Dr. Stout.

(७२) Eccelesiastical Polity by Dune Scotus

(७३) *Sur les donnees immed, de la conscienc Passim.* (English Translation)

(७४) Lotze के निम्न ग्रन्थ नियति (Determinists) के विरुद्ध लेखकों में यह सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है:—

(१) Microcosmos (English Translation).

(२) Practical Philosophy.
(३) Philosophy of Religion.
(७५) Study of Religion by Martineau
(७६) Die Beiden Gruno Problemeder Ethic (English Translation). शौपन हम ।
(७७) Some Dogmas of Religion by Dr. M. C. Taggart
(७८) The Philosophy of Experience by Dr. Shadworth Hodgson Vol. IV
(७९) Examination of Hamilton's Philosophy by J. S. Mill.
(८०) Study of Ethics by J. Dewey.
(८१) Outlines of Ethics by J Dewey.
(८२) Manual of Ethics by J. S Mackenzie.
(८३) The Dilemma of Determinism by W James
(८४) Principles of Psychology by W. James.
(८५) Short Study of Ethics by C. F. D Arcy
(८६) The New Psychology and Automatism by A. Seth
(८७) System of Ethics by Paulson (English Translation).
(८८) The Religious Aspect of Philosophy by J. Royce
(८९) Spirit of Modern Philosophy by J. Royce.
(९०) The Conception of God by J. Royce.

(९१) Studies of Good and Evil by J. Royce.
(९२) Theory of Reality by Prof. Ladd.
(९३) Study in Karma by Dr. Annie Becent.
(९४) The Karma Mimamsa by A. B. Keith.
(९५) Karma Joga by S. Vivekanand.
(९६) ज्ञान और कर्म सरगुरुदास बनरजी कृत ।
(९७) The Free Will Problem by Herbert W. Carr
(९८) Time and Free Will by Bergson.
(९९) A History and Defense of Animism by Mr Mc Dougall.
(१००) Varieties of Religious Experience by Prof James.

विषय-सूची

उपोद्घात

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

सातवां सर्ग

आठवां सर्ग



मुख्य ग्रन्थ

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

विषय पृष्ठ संख्या

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

बारहवां अध्याय

तेरहवां अध्याय

चौदहवां अध्याय

पन्द्रहवां अध्याय

सोलहवां अध्याय

सत्रहवां अध्याय

तेईसवां अध्याय

चौबीसवां अध्याय

पच्चीसवां अध्याय

छब्बीसवां अध्याय

सत्ताईसवां अध्याय

अट्ठाईसवां अध्याय

उन्तीसवां अध्याय

तीसवां अध्याय

ओ३म्

कर्म-रहस्य

उपोद्घात

पहला सर्ग

कर्म का विषय बड़ा गहन है। आत्मा के साथ स्वभावतः इसका संबंध होने से पूर्वी और पश्चिमी सभी विद्वानों ने जी खोलकर इसके अंग और प्रत्यंगों पर विचार करने का यत्न किया है। पश्चिमी विद्वानों ने, अपनी शैली के अनुसार, अधिक विस्तार से इस संबंध में लेख लिखे हैं, जिन सबका आद्योपांत पढ़ना भी कठिन है। फिर भी यत्न किया गया है कि अधिकांश और विशेषकर उत्कृष्ट विचारकों के अनुकूल और प्रतिकूल मत पाठकों को इस ग्रंथ में मिल सकें।

प्रारम्भ

ग्रंथ के प्रारम्भ में वेदादि शास्त्रों के मत प्रदर्शित करने के बाद कर्म और फलादि के सम्बन्ध में उसके आगे के अध्यायों में युक्ति और प्रमाण के साथ विस्तृत बहस की गई है। इस बहस से, कर्म के सम्बन्ध में, यथासम्भव सभी ज्ञान की बातों का पाठकों को ज्ञान होगा और उन्हें उस पर अच्छी तरह विचार करने का अवसर मिलेगा।

ग्रन्थ के अन्त में, पश्चिमी देश निवासी विद्वानों का दृष्टि-

कोण, कर्म के संबंध में क्या रहा है, उसके प्रकट करने का यत्न किया गया है।

यहां इस उपोद्घात में उपर्युक्त बहस में आये हुए विषयों का संकेत भी नहीं किया जायगा, क्योंकि व्यर्थ पुनरुक्ति होगी। यहां हम केवल उन बातों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनमें से अधिकांश ग्रन्थ में नहीं आई हैं और यह केवल इसलिये कि ग्रंथ में अंकित विषयों और विवरणों से भिन्न कुछ और भी सामिग्री पाठकों के हाथ आजाय जिससे विषय के समझने में उन्हें और भी अधिक सुभीता हो।

अवश्य विचार करने के लिये किन्हीं किन्हीं विद्वानों की ग्रन्थ में अंकित सम्मति, इस उपोद्घात में पुनः देनी पड़ी है। उसका देना अपरिहार्य था परन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्तरूप में दी गई है।

इन्हीं कुछेक प्रारम्भिक शब्दों के साथ, उपोद्घात के मुख्यभाग का प्रारंभ किया जाता है।

मानवसंस्कृति के विकास ने, विकासवाद से प्रभावित, एक पश्चिमी लेखक के अनुसार तीन रूप धारण किये:—

(१) कृत्रिम जीवन बनाना। मनुष्य ने अनेक प्रकार के औज़ार और बनाव सिंगार की वस्तु बनाकर नैसर्गिक जीवन के ढंग से कृत्रिम जीवन बनाना शुरू किया।

(२) प्राकृतिक औज़ारों और वस्तुओं को बनाते बनाते वह इस कला में निपुण शिल्पकार बन गया और अब उसने अप्राकृतिक वस्तुओं को भी शिल्प के शिकंजे में कसना आरंभ किया, यहांतक कि अपने ही रूप और रंग के अनुकूल उसने ईश्वर को भी बना डाला।

(३) अन्त में हम उसे प्रकृति और पुरुष दोनों के परिडत

के रूप में देखते हैं। कहीं वह तार्किक बना हुआ है, कहीं दार्शनिक पहेलियों को हल कर रहा है, कहीं तरह तरह की स्कीमें बना रहा है, कही लोगों को अपनी बात समझा रहा है, कहीं एक वस्तु को पसन्द करके दूसरी को अप्रिय ठहरा कर फेंक रहा है। इन्हीं दार्शनिक समस्याओं की उधेड़-बुन ने उसके भीतर आचारिक उत्तरदायित्व पैदा किया। इसी आचारिक उत्तरदायित्व से कर्मस्वातंत्र्य-समस्या का सूत्रपात होता है। यदि मनुष्य के लिये आवश्यक है कि अपने किये कर्म का फल भोगे तो उसे करने में स्वतंत्र तो होना ही चाहिये। १६ वीं शताब्दी से पहले, पश्चिमी देशों में, इस विषय की प्रगति क्या रही है पहले इसी बात का जानना कदाचित् उपयोगी होगा।

योरुप के विद्वान् इसे मानते हैं कि लाइब निटज़ (Laibnitz) ने उन्हें इस योग्य बनाया कि वे मनुष्य के इतिहास को पहाड़ी चट्टानों के (Record of rocks) रिकार्ड से पढ़ें। उसने दिखलाया कि किस प्रकार प्राकृतिक जगत् से आचारिक जगत् उत्पन्न हुआ करता है और किस प्रकार जगत् की कार्यप्रणाली को देखते देखते मनुष्य दिव्य प्रभाव से प्रभावित हुआ करता है। इस वैज्ञानिक युग में, मनुष्य के संबंध में फिलासोफी और विज्ञान का काम मिलता जुलता है और मनुष्य की आशाओं की पूर्ति विज्ञान की सफलता पर निर्भर है। मनुष्य पर प्राकृतिक नियमों के ऊपर उसका अधिकार होने से आचारिक उत्तरदायित्व का बड़ा बोझ आ गया है। ज्ञान और यत्न से वह अपना नाश भी कर सकता है और उनसे यह भी हो सकता है कि वे इसे विजय

लाइब निटज़ और कर्मस्वातन्त्र्य

की ओर ले चलें। लाइबनिटज़ का कहना है कि मनुष्य अपनी विशेष योग्यताओं से इस योग्य हुआ है कि बनावटी चुनाव से प्राकृतिक चुनाव को रद्द कर सके और यह उसका पहला कर्म-स्वातन्त्र्य है जो उसे अपने ही इन्द्रियमय शरीर से प्राप्त हुआ है।

जब हम मनुष्य की समयोचित सरगरमियों का पशु-जगत् से मिलान करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के कार्य्यों में बुद्धि से नाप तोल कर अपनी रुचि के अनुकूल काम करने की योग्यता पाई जाती है और ये दोनों नियम उसके प्रत्येक कार्य को शासित करते हैं। और इन दोनों नियमों के साथ काम करने से स्वतन्त्रता उपलक्षित होती है। पीछे लौटाने वाले कार्यों (Reflex action) में पीछे लौटने की स्वतः एक उत्तेजक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे प्रकट होता है कि मानो स्वतन्त्रता का अभिप्राय प्रारम्भ में केवल रोकने वाली शक्ति ही होती है, परन्तु केवल निग्रहकारी शक्ति से सदैव तर्क-सिद्ध काम नहीं किये जा सकते। क्योंकि तर्क-सिद्ध काम करने के लिये स्वतन्त्रता चाहिये। इसलिये तर्क-सिद्ध कार्यों के कर सकने की योग्यता का तात्पर्य्य केवल पसोपेश करना अथवा मानसिक नाप तोल करना ही नहीं अपितु रुचि के अनुकूल कार्य्य करने का निश्चय करना भी है। यही योग्यता है जिसका नाम इच्छा-स्वातन्त्र्य है और जिससे रचनात्मक कार्य्य भी किये जाते हैं अतः इच्छा स्वातन्त्र्य एक विश्व स्वीकृत घटना है। प्रश्न केवल उसके बुद्धिपूर्वक अर्थ लगाने का है। अर्थात् इच्छा स्वातन्त्र्य एक कल्पित इच्छा है जिससे अपने किये जाने वाले कर्मों की जानकारी उत्पन्न होती है और उन बातों के न जानने से, जिनसे उन कर्मों का किया जाना निश्चित होता है, जो रुकावट पैदा

होती है वह भी दूर होती है, अथवा मनुष्य के भीतर यों कहिये कि इच्छा स्वातन्त्र्य एक विधानात्मक शक्ति है जो न केवल उसकी इच्छा को कार्य्य में परिणत करती है किन्तु वह इच्छा शक्ति है जिससे वह जिस प्रकार की चाहे इच्छा करे और उस इच्छा को जिस प्रकार का चाहे रूप रंग देवे।

यदि प्रश्न के पहले भाग को ठीक माना जाय तो उसका अभिप्राय यह होगा कि मनुष्य के समस्त कार्य्य वाह्य साधनों से निश्चित होते हैं जिन साधनों का नियन्त्रण उसके अधिकार से वाहर है, यदि दूसरे और प्रश्न के अन्तिम भाग को ठीक माना जावे तो जैसा ऊपर कहा गया है इच्छा स्वातन्त्र्य एक विधानात्मिका शक्ति है, जिसे मनुष्य स्वयं पूर्ण आचारिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुये पैदा किया करता है। लाइव निटज़ इसी अन्तिम पक्ष का पोषक है।[1] अस्तु इच्छा स्वातन्त्र्य का प्रश्न ऐसा नहीं है कि विशेष अवस्थाओं के उपस्थित होने से उठे और उनके दूर हो जाने से दूर हो जावे, वल्कि जैसा कि पालसन[2] ने लिखा है यह आचार और विद्यासम्वन्धी प्रश्न है। वे हेतु, जो इस प्रश्न के आधार हैं, सदैव हमारे साथ रहते और रहते आये हैं इसलिये यह प्रश्न भी न समाप्त हुआ और न उसके निकट भविष्य में समाप्त होने की आशा है। कांट ने एक जगह लिखा है कि "आज भी यह प्रश्न वैज्ञानिक वुद्धि और आचारिक तथा धार्मिक विश्वास के

---

1. The Free Will Problem by Herbert W. Carr. P. 7 (Benn's Sil Penny Series no. 29)

2. "A Problem which exists only for a Theological or Scholastic Philosophy". (Ethics by Paulson, VOL. I P. 351)

मध्य गहरी जमी हुई जड़ वाले अर्थवैपरीत्य के रूप में वर्तमान है।"

जानसन के जीवनचरित्र के लेखक बोसवैल (Boswell) के अनुसार जानसन ने इच्छा स्वातन्त्र्य के लिये कहा "मैं मानता हूं कि इच्छा तो स्वतन्त्र है परन्तु उसकी सीमा है।"

डाक्टर सेमुएल जानसन
Dr. Samual Johnson

इच्छा स्वातन्त्र्य संबंधी एक निबंध में, जो प्रश्नोत्तर के रूप में था, लौरनशियस ने एक से प्रश्न कराया है कि "बतलाओ कि मैं कौन सा पैर फैलाऊंगा और वह जो कुछ भी उत्तर देगा उस पर मैं दूसरा पांव फैला कर कह दूंगा कि उत्तर झूठा था।"

लौरनशियस वैला
Laurentius Valla

लौरनशियस ने इस प्रश्नोत्तर से इच्छा स्वातन्त्र्य की सिद्धि करनी चाही है, परन्तु इस प्रकार की क्रियात्मक जांच से इस विषय की सिद्धि नहीं हो सकती। देखना और बतलाना यह होगा कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का आधार क्या है। और जो कुछ भी आधार है वह युक्तिपूर्ण है या कि कल्पनामात्र ? और यह भी कि यदि आधार जीवन अथवा जीवात्मा है तो उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है या वह प्रकृति ही की क़रामात का फल है। ईसा से पूर्व हुये एक ग्रीक दार्शनिक ने एक वाद स्थापित किया कि कोई चीज़ गतिवान नहीं है। उसने मेंढक और अचीलेस (Achilles) के उदाहरण देकर प्रमाणित करने का यत्न किया है कि गति की सत्ता का विचार भ्रममात्र है। जब ज़ेनो की दृष्टि में गति की कोई हक़ीक़त ही नहीं तो उसके

ज़ेनो (Zeno)

लिये गति (कर्म) के स्वतन्त्र परतन्त्र होने पर विचार करने की गुंजाइश ही नहीं रहती।

वरीडैन योरुप के मध्यकालीन युग का एक बड़ा तार्किक (Logician) था, इसने एक उदाहरण दिया है कि एक गदहा यदि किसी ऐसी जगह हो जिसके दोनों ओर हरी घास के खेत हों और दोनों की हरियाली आदि में कुछ भी विषमता न हो तो फल यह होगा कि वह गदहा दोनों में से किसी एक खेत को तरजीह न दे सकने के कारण भूखा ही रहेगा। इसी उदाहरण के अनुकूल वह कहता है—इच्छा स्वातन्त्र्य का विषय है यदि विना इरादे के कोई कर्म किया जाय तो वह तो गतिमात्र ही होगा कर्म तो वही कहा जा सकता है जो इरादा करके किया जाय। अच्छा कल्पना करो कि इरादा करके कोई काम किया गया तो अव देखना यह है कि उस कर्म के विरोधी हेतुओं की मात्रा कितनी है ? यदि अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के हेतुओं की मात्रा में समता है तो कोई कर्म न हो सकेगा। इस प्रकार यदि देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इच्छा स्वातन्त्र्य से कुछ न हो सकेगा और वरीडैन का गदहा भूखा ही रहेगा। अतः जव तक कर्म के साधन इरादे और वाह्य हेतु (Motives) रहेंगे तव तक इच्छा स्वातन्त्र्य के लिये कोई जगह नहीं। अव यदि कल्पना करो कि इच्छा का आधार इरादा या वाह्य हेतु नहीं तव इच्छा स्वातन्त्र्य के लिये मानना पड़ेगा कि वह स्वयमेव कर्त्री, धर्त्री और एक यन्त्र के सदृश है।

वरीडैन (Buridan)

दूसरा सर्ग

१६वी शताब्दी में जब ईसाई मत के सुधार हुए तो योरुप में दो सुधारक हुए एक मार्टिन लूथर, दूसरा जान काल्विन।

मार्टिन लूथर और जान काल्विन
Martin Luther and John Colvin

लूथर का प्रभाव जरमनी और स्केन्डिनेविया के द्वारा योरुप में फैला, दूसरी ओर काल्विन का प्रभाव जनेवा, फ्रांस, स्काटलैंड, हॉलैंड और इंगलैंड तक पहुंचा। इनमें से काल्विन का मत यह था कि सब कुछ ईश्वर के आधीन है वही जिस पर चाहे दया करे जिस पर न चाहे न दया करे[1]। लूथर और काल्विन के मतों में कुछ अन्तर था जैसे ईसा के भोज के सम्बन्ध में जो कहा जाता है कि रोटी और शराब, ईसा के रक्त और मांस में परिवर्तित होगई (The Doctrine of Trans-substantiation) लूथर इस को यद्यपि नहीं मानता था, परन्तु फिर भी "यह मेरा रक्त और यह मेरा मांस है[2]।" इन शब्दों को अक्षरशः ठीक मानता था परन्तु काल्विन की दृष्टि में यह सब अलंकारिक वर्णन था और भी इसी प्रकार के छोटे मोटे अन्तर थे परन्तु आमतौर से ये दोनों प्रायः एक विचार के सुधारक थे। अवश्य सर्वेटस (Servatus) और "जैकोबस आरमीनियस" (Jacobus Armeniaus) ये दोनों काल्विन के विचारों के

---

1. Colvinism is identified with the doctrine of Pre-destination and election to grace. (The Free Will Problem by H. W. Carr.)

2. "This is my flesh and my blood". (Christ).

घोर विरोधी थे, इनमें से सर्वेटस को कालविन ने मृत्युदंड दिलाकर जिन्दा जलवा दिया था, आरमीनियस (१५६०–१६०८) उच्च पादरी था, इच्छा-स्वातन्त्र्य के ये दोनों सुधारक विरोधी थे।

धार्मिक विचारों में इडवार्डस काल्विन का अनुयायी था, परन्तु दार्शनिक विचार इसके विशप वर्कले से मिलते जुलते थे। उसका विचार था कि केवल मन की सत्ता तो वास्तविकता रखती है और प्रकृति की सत्ता विचार (कथन) मात्र है। ईश्वर आकाश (Space) में नहीं है किन्तु आकाश ईश्वर में है। ईश्वर की सत्ता के सिवा अन्त में किसी में वास्तविकता नहीं है। अस्तु ! इडवार्डस ने विचार-स्वातन्त्र्य पर एक निबंध लिखा था जिसका बड़ा लंबा शीर्षक[1] रक्खा था। उस निबंध को उसने चार भागों में विभक्त किया था:—

जोनाथन इडवार्डस
Jonathan Edward
1703–1758

(१) पहले भाग में निबंध की परिभाषायें थीं।
(२) दूसरे भाग में उसने इस बात पर विचार किया था कि कर्ता के कर्म करने की स्वतन्त्रता किसी प्रकार की इच्छा-स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।
(३) तीसरे भाग में इस बात पर बहस की थी कि क्या इच्छा-स्वातन्त्र्य कर्म के लिये आवश्यक है ?

---

(१) निबन्ध का शीर्षक यह था:—"A careful and strict inquiry into the modern prevailing notions of that freedom of the will, which is supported to be essential to moral agency, virtue and vice, reward and punishment, praise and blame".

(४) चौथे भाग में परतन्त्रतावाद के सिद्ध करने का यत्न किया है उसने इच्छा को पसन्द का माध्यम ठहराया है और इस पसन्द का कर्ता मन या जीव है। इच्छा के अनुकूल किये गये प्रत्येक कार्य में, किसी भी पसन्द की हुई वस्तु के लिये, तरजीह या रुचि पाई जाती है। इच्छा के असन्दिग्ध और स्थिर कर्ता, मनुष्य के भीतर उत्पन्न या उठे हुये वे प्रवृत्तिहेतु हुआ करते हैं जो पसन्द करते समय सब से अधिक बलवान् होते हैं। ये हेतु पहले से समझे और विचार किये हुये होने चाहियें, विना विचार किये हुये प्रवृत्तिहेतु अपना कोई मूल्य नहीं रखते हैं। वह प्रवृत्तिहेतु इस अर्थ में अच्छा होना चाहिये कि अधिक से अधिक अनुकूलता और कम से कम प्रतिकूलता उन विकल्पों में, जो उस समय कर्ता के सम्मुख उपस्थित थे, रखता है।

एक आक्षेप

इडवार्डस के प्रस्तुत किये वाद पर आक्षेप यह किया जाता या किया जा सकता है कि पसन्द करने की इच्छा के लिये स्वतन्त्रता चाहिये। परन्तु सब से अधिक बलवान प्रवृत्तिहेतुओं से स्थिर की हुई इच्छा परतन्त्रता पर निर्भर होती है और फिर इस स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों की संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है। इस आक्षेप के समाधान दोनों पक्ष वालों ने अपने २ ढंग से पृथक् २ किये हैं।

इच्छा स्वातन्त्र्यवादियों का समाधान

इच्छा स्वातन्त्र्यवादी वाद में उत्पन्न की हुई परतन्त्रता से इन्कार करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु की पसन्द करते समय इच्छा प्रत्येक प्रकार के बाह्य बंधनों से मुक्त होती है और स्वतन्त्रता के साथ पसन्द करने की इच्छा का ठह-

राच किया करती है। पसन्द करने की स्वतन्त्रता का अर्थ ही यह है कि इच्छा प्रवृत्तिहेतुओं से मुक्त है और उन हेतुओं की परवाह न करते हुये कर्म को स्थिर करने की स्वयमेव शक्ति रखती है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से भलाई को समझते हुए बुराई किया करता है अथवा बुराई के आकर्षण से न खिंच कर भलाई किया करता है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रकार का निश्चय करने के लिये उसके भीतर स्वतन्त्रता मौजूद है।

परतन्त्रतावादी प्रवृत्तिहेतुरहित इच्छा से इन्कारी हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार पसन्द की स्वतन्त्रता जीवात्मा के भीतर पृथक् मौजूद नहीं है। मनुष्य के भीतर भी जैसी जगत के बाहर कारण की शृंखला से प्रत्येक वस्तु बद्ध है और उसी बद्धता की सीमा में रहते हुये प्रत्येक कर्मकर्ता द्वारा किये जाया करते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ प्रवृत्तिहेतुओं से उपेक्षा करना अथवा उनकी परवाह न करने के नहीं हैं। इस बंधन में रहते हुये ही मनुष्य के लिये अवसर होता है कि वह जैसा चाहें करें।

परतन्त्रतावादियों का समाधान

क्या कोई असीम शक्ति संसार के भूत और भविष्यत् के कार्य्यों को वर्त्तमान कार्य्य के सदृश नहीं देखती? इस प्रश्न के उठाने से इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न व्यक्तिगत नहीं रहता किन्तु समष्टिगत हो जाता है और एक ऐसा प्रश्न बन जाता है जो आचार और अध्यात्म के संबंध में प्रथम श्रेणी का है। कल्पना करो कि हमारे समस्त कर्म कारणकार्य्यवाद के नियम से निश्चित होते हैं और कारण

एक और प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में कैसे और क्यों का उत्तर

दो प्रकार के होते हैं (१) अध्यात्म जगत् से सम्वन्धित (२) प्राकृतिक संसार से संबंधित। प्रयोजन या परिणाम जिसके लिये कर्म किया जाता है वह अन्तिम कारण होता है और साधन जिनसे उस कर्म की पूर्ति होती है गतिमय कारण कहे जाते हैं। अन्तिम कारण आदर्श होते हैं उनमें अपूर्णता या गति का प्रश्न नहीं होता, परन्तु गतिमय कारण वास्तविक होते हैं और कार्य्य प्रतिकार्य्य के समतापूर्ण नियमानुकुल यान्त्रिक रीति से काम करते हैं प्रत्येक कार्य्य के लिये यह प्रश्न होता है कि कैसे और क्यों किया गया ? प्रत्येक के उत्तर के लिये दो विभिन्न संबंधों का हवाला दिया जायगा। (१) प्राकृतिक जगत् की वास्तविक घटनाओं का संबंध (२) अध्यात्म या मानसिक जगत् के भाव-प्रधानमय घटनाओं का संबंध।

इस प्रकार इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न केवल दार्शनिक प्रश्न वन जाता है।

अन्तिम कारणत्व चाहता है कि कर्त्ता में स्वतन्त्रता हो, परन्तु गतिमय कारणत्व में यान्त्रिक परतन्त्रतावाद निहित है। पहले का संबंध मन और दूसरे का संबंध शरीर से है। दर्शनशास्त्र में इसीलिये इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न मौलिकता रखता है और अन्तिम कारणों की स्थिति का साधक माना जाता है। अन्तिम कारणों या उद्देश्यों के संबंध में यह बात समझने के योग्य है कि अपने सत्ताधिकार से वे अपनी कोई हस्ती रखते हैं या नाम रूपमात्र हैं ? अर्थात् वे वास्तविकता के निर्माता हैं अथवा उसका वाह्य रूपमात्र ? इसका निर्णय किसी घटना के आधार पर नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन-शास्त्र में प्रत्येक अनुभूत घटना के अर्थ लगाने की जरूरत हुआ करती है इसलिये प्रश्न का रूप अब यह हो जाता है

कि क्या प्राकृतिक नियम इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ चल सकते हैं अर्थात् क्या प्राकृतिक नियमों की कार्य्यप्रणाली में इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान मिल सकता है या नहीं ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में १७ वीं शताब्दी के दो दार्शनिक भिन्न २ एक दूसरे से विरुद्ध दो प्रकार के विचार रखते थे ।

तीसरा सर्ग

उनमें से स्पाईनोज़ा परतन्त्रतावादी था । उसकी फ़िलॉसोफी में ब्रह्माण्ड वस्तुतत्व या नाम रूप दोनों दृष्टियों से ईश्वरीय सत्ता का प्रकटीकरण है ।[1]

स्पाईनोजा
Spinoza

इसके विरुद्ध लाइब निटज़ इच्छा स्वातन्त्र्यवादी था उसकी फिलॉसोफी में ब्रह्मांड वास्तविकता रखता है और उत्पन्न होने से पहले ईश्वर के अन्दर विचाररूप में मौजूद था। उसके विचारों का दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है और प्रकरणानुसार उसकी अन्य आवश्यक बातों का आगे भी उल्लेख होगा। पहले स्पाईनोजा के परतन्त्रतावाद का विवरण दिया जाता है ।

लाइबनिटज Laibnitiz

स्पाईनोजा ने अन्तिम (प्रयोजन अथवा उद्देश्यमय) कारण को इन्द्रजाल कह कर रद्द कर दिया है। उसकी सम्मति में ब्रह्मांड की वास्तविक सत्ता के सयुक्तिक विचार से वह मेल नहीं खाता और न अद्वैतवाद से ही, कि ईश्वर ही

स्पाईनोजा का परतन्त्रतावाद

---

(१) स्पाईनोजा की परिभाषा में यह बात इस प्रकार कही जायगीः—
"Mind and Nature are models of the divine substance".

एक तत्व है जिसके अन्दर हम अपनी सत्ता रखते हुये, रहते और हिलते जुलते हैं, उसकी संगति लगती है। यदि ईश्वर किसी परिणाम के लिये कार्य्य करता है तो मानना पड़ेगा कि वह किसी अप्राप्त वस्तु की इच्छा कर रहा है और यदि यह मान लें कि वह किसी अप्राप्त वस्तु ही की इच्छा कर रहा है तो फिर इससे उसकी पूर्णता में बाधा पहुंचेगी। ईश्वर के लिये स्पाईनोजा का कहना है कि—समझना चाहिये कि वह अपने स्वभाववश ही अपनी हस्ती रखता है और जो कुछ भी करता है स्वभाववश ही करता है सब कार्य्य, किस प्रकार क्या होगा, ईश्वर ने पहले से निश्चय कर रक्खा है। यह निश्चय उसने अपनी सर्वज्ञता अथवा शिवसंकल्प से नहीं कर रक्खा है किन्तु अपनी अनन्तशक्ति और पूर्णसामर्थ्य से किया हुआ है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जब अन्तिम कारण ईश्वरीय कार्य्यों के निर्णय करने से असंबद्ध हैं तो फिर वे व्यर्थ हैं और उनकी कुछ भी उपयोगिता मनुष्यस्वभाव में भी नहीं हो सक्ती। तब आखिर अन्तिम कारण के लिये यह भ्रम (इन्द्रजाल) उत्पन्न कैसे होता है? स्पाईनोजा उत्तर देता है कि मनुष्य के अज्ञान से, जो स्वयं उसके स्वभाव का एक अंग है, मनुष्य, अपनी उत्पत्ति के कारणों को न जानते हुये, उत्पन्न होते हैं परन्तु अपने भीतर एक इच्छा पाते हैं कि लाभदायक वस्तुओं को प्राप्त करना चाहिये और उन्हें अपनी इस इच्छा का ज्ञान भी होता है इसलिये वे अपने को स्वतंत्र समझ बैठते हैं, परन्तु वास्तव में वे इच्छा क्यों करते हैं इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता। मनुष्य अपने लाभ की खोज किया करता है इसलिये उसे अन्तिम कारण सत्य प्रतीत होते हैं और चूंकि इन्हीं अन्तिम कारणों

से ये कर्म करने की इच्छा किया करते हैं इसलिये कल्पना करने लगते हैं कि अन्य कारण भी यही (अन्तिम कारण) है। स्पाईनोजा, इन सब बातों की चर्चा करते हुये, कहता है कि प्राकृतिक नियमों का कोई नियत उद्देश्य नहीं है। अन्तिम कारण, जिन्हें कहते हैं वे सब मनुष्यों ही की गढ़न्त हैं। जगत् के समस्त कार्य्य परतन्त्रता से होते हैं परन्तु होते अत्यन्त पूर्णता से हैं।

वरीडैन का गदहा और स्पाईनोज़ा

वरीडैन के गदहे वाली उलझन के सुलझाने के लिये स्पाईनोजा कहता है:—"यदि मनुष्य स्वतन्त्रता से काम नहीं करता तो वरीडैन के गदहे की स्थिति में होने से क्या वह भूख से मर जायगा? यदि उत्तर हां में दिया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह मनुष्य गदहा या मिट्टी का माधो ही है। यदि उत्तर नकार में हो तो उस मनुष्य के लिये मानना पड़ेगा कि वह स्वतन्त्रता से जो चाहे कर सकता है।" इतना कथन करने के बाद स्पाईनोजा उस गदहे के संबंध में इस प्रकार उत्तर देता है:—"मेरा उत्तर यह है कि मैं इस बात से पूर्णतया सहमत हूं कि जो मनुष्य उस (वरीडैन के गदहे) की स्थिति में हो वह भूख प्यास के सिवा कुछ नहीं सोच सकता और यदि खाना पीना दोनों उससे दूर ही रहे तो वह ज़रूर भूख प्यास से मर जावेगा।" यदि तुम (स्पाईनोजा कहता है कि) मुझसे पूछो कि ऐसे मनुष्य को तो फिर गदहा काठ का उल्लू ही कहना अच्छा होगा 'बजाय इसके उसे मनुष्य कहा जाय तो मैं इसका उत्तर यह दूंगा कि "मैं नहीं जानता" ठीक उसी तरह से जैसे मैं नहीं जानता कि क्यों एक आदमी अपने को फांसी पर लटका लेता

है ? या बच्चों, मूर्खों और पागलों को क्या समझना चाहिये ?"

स्पाइनोज़ा के विचारों का निचोड़ यह है कि जगत् के समस्त कार्य्य, ईश्वर के अनादि नियमानुकूल, ठीक उसी मर्य्यादा के अनुसार हुआ करते हैं जिस मर्यादा के रूस किसी भी त्रिभुज के तीनों कोन मिल कर दो समकोन के बराबर हुआ करते हैं। आचारिक नियम आध्यात्मीयता पर निर्भर होते हैं। प्रसन्नता या दिव्य सुख कृपा या दया का फल नहीं होते किन्तु उनकी सत्ता ईश्वर के भाव में निहित रहती है। वह दिव्य ज्ञान हमें यह सिखलाता है कि किसी से न द्वेष करना चाहिये न घृणा, न किसी को झिड़कना चाहिये न किसी की हंसी उड़ानी चाहिये। जो कुछ हमारे पास हो उससे हमें सन्तुष्ट होना चाहिये और सदैव अपने पड़ोसियों की सहायता करने के लिये तय्यार रहना चाहिये, पक्षपात या अंधविश्वास के साथ नहीं किन्तु बुद्धि की पथप्रदर्शकता के साथ।

स्पाइनोज़ा की फिलासोफी का निष्कर्ष

लाइबनिटज़ ने जो अन्तिम कारणवाद की स्थापना की है वह जगत् के तत्वों पर विचार करने का आवश्यक परिणाम है लाइबनिटज़ के मतानुसार जगत् में एक ही तत्व है परन्तु उसकी यह एक तत्व की कल्पना, स्पाइनोज़ा के अद्वैत्वाद से सर्वथा भिन्न है। उसके एक तत्व और स्पाइनोज़ा के एक तत्व में दरजों का भेद नहीं किन्तु श्रेणी का भेद है। लाइबनिटज़ का यह तत्व एक सक्रिय शक्ति है। उसने अपने इस तत्व को खींची हुई कमान से उपमा दी है। जिस प्रकार बाहर के दबाव जाते ही कमान सीधी होकर

लाइबनिटज़ का अन्तिम कारणवाद

अपनी असली हालत में आजाती है इसी प्रकार वह तत्व भी बाहरी दबाव के जाते ही अपनी असली हालत में आ जाता है। वह तत्त्व प्रारम्भ में अप्रकटता का रूप धारण किये हुये होता है उसके बाद प्रकटता का रूप धारण कर लेता है। समस्त कर्तृत्व व्यक्तिगत होता है और चेतन जगत् में उसकी छाप दिखाई देती है। चेतन जगत् में जो 'शरीर' और 'मन' दो वस्तुयें दिखाई देती हैं उनमें इतना अन्तर है कि शरीर मिश्रित और मन अमिश्रित है। मिश्रित शरीर में अनेक अमिश्रित मन समाविष्ट होते हैं। प्रत्येक असलियत रखने वाली वस्तु का अन्तिम रूप अमिश्रित और वक्तव्यपूर्ण मन ही होता है, अतः स्पष्ट है किसी भी एक प्राणी का शरीर अनेक अमिश्रित सक्रिय शक्तिवान चेतन तत्वों का समुदाय ही हुआ करता है और ये तत्व[1] एक दूसरे से इस प्रकार मेल रखते हैं कि इनके सम्मेलन ही से प्राणी चेतन समझा जाया करता है। लाइबनिटज़ के कथनानुसार इन सक्रिय, शक्तिवान, वक्तव्यपूर्ण और स्वतंत्र शरीरों के मेल का फल ही ब्रह्मांड हुआ करता है। उसने अपने इस वाद में आचारिक जगत् का भौतिकी जगत् से क्या संबंध है, इसका भी समावेश किया है। लाइबनिटज़ कहता है कि उस चेतनतत्व (मोनाद) के कर्तृत्व में दो बातें होती हैं:—(१) ज्ञान प्राप्त करना (२) इच्छा करना। इनमें से ज्ञानप्राप्ति की समता-बुद्धि और इच्छा की समता इच्छा-शक्ति से है। लघुतम चेतन तत्वों में ज्ञानप्राप्ति की योग्यता गड़बड़

(१) इस तत्व का नाम लाइबनिटज़ ने मोनाद (Monad) रक्खा है। उसका कहना है कि यह तत्व उसी प्रकार अदृश्य होते हैं जैसे भौतिक विज्ञान में प्रकृति के परमाणु समझे जाते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि परमाणु जड़ होते हैं परंतु लाइबनिटज़ मोनाद को चेतन बतलाता है।

और निकम्मी होती है और इच्छा भी अंधी। और इसीलिये वे चेतनाशून्य होते हैं, परन्तु महत्तम चेतन तत्वों में ज्ञान-प्राप्ति और इच्छा करने की पूर्ण योग्यता होती है और वे इसीलिये चेतन होते हैं।[1]

ब्रह्मांड में जब प्रत्येक घटित घटना, अनिवार्य्य कारण की ज़ंजीर से जकड़ीं हुई कही जाती है तब उसमें स्वतंत्रता की खोज नहीं हो सकती और न उसके खोज का प्रश्न ही उठाया जा सकता है, बल्कि असली प्रश्न, लाइबनिटज़ की सम्मति में, यह है कि किस प्रकार स्वतंत्रता से परतंत्रता (बंधन) पैदा होती है। जब हम किसी क्रिया के लिये कर्म ठहराते हैं तो उसके कर्त्ता में स्वतंत्रता का मानना अनिवार्य्य है जिस प्रकार झुकी हुई कमान के विचार में स्वतंत्रता मौजूद है, क्योंकि ज्यों ही बाहरी दबाव दूर होता है कमान सीधी हो जाती है। अस्तु; स्पाइ-नोज़ा और लाइबनिटज़ के विचारों को संक्षिप्ततया इस प्रकार कह सकते हैं। पहिले की दृष्टि में, कर्म परतंत्रता का यांत्रिक दृश्य है जो पहले ही से पूर्णतया निश्चित है और प्रत्येक घटना अनिवार्य्य कारणों का अनिवार्य्य फल होती है। दूसरे की दृष्टि में समस्त कर्म, कर्त्ता की इच्छा की पूर्ति रूप मे होते हैं और

कारण का बंधन

(१) लाइबनिटज़ का यह वाद "The System of the Pre-established Harmony" कहा जाता है। इस वाद मे ईश्वर में गुणों की कल्पना करते हुए जहां उन (गुणों) में अत्यन्त पूर्णता की कल्पना की गई है वहां उन चेतना के आदिम तत्वों (Monad) में उन गुणों की अत्यन्त न्यूनता बतलाई गई है। वे गुण चाहे कितनी ही अल्प मात्रा में क्यों न हों परन्तु "मोनादों" की सत्ता उनमें खाली नहीं है।

वे सभी किसी उद्देश्य या अन्तिम परिणाम से शासित होते हैं, दोनों का प्रत्यक्ष रूप यह है कि पहली सूरत में कारण की शृङ्खला वर्त्तमान से असीम भूतकाल की ओर फैली हुई है और दूसरी सूरत में उसका फैलाव अनन्त भविष्य की ओर है।

चौथा सर्ग

इच्छा-स्वातन्त्र्यकार की सम्मति में अनुभव से भी सिद्ध है, जो काम हम सोच समझ कर इरादे से करते हैं उनको करते हुये हम अनुभव किया करते हैं कि हम अपनी इच्छा या पसन्द को काम में ला रहे हैं, इन कर्मों के करने में हमें बुद्धि और इच्छा दोनों से काम लेना पड़ता है, इन दोनों में जो भेद है उसका विवरण इस प्रकार है। 'बुद्धि' मनुष्य की एक योग्यता है जिसका काम यह है कि जो कुछ वह चाहता है उसके संबंध में इधर उधर की सब बातों से उसे जानकार बना दे। 'इच्छा' दूसरी योग्यता है जिसकी प्रेरणा से मनुष्य कर्म करता है और जिससे उस कर्म में निहित उद्देश्य का वह अनुभव किया करता है। इच्छा-स्वातन्त्र्य में निषेध और विधानात्मक दोनों बातें हुआ करती हैं, उसका निषेधात्मक रूप उस अवस्था में प्रकट होता है जब वह बिना रोक-टोक कोई काम करती है और विधानात्मक रूप उस समय अनुभव में आता है जब वह अनेक पर्यायों में से किसी एक को काम में लाने के लिये छांट लिया करती है।

इच्छा स्वातन्त्र्य और बुद्धि तथा इच्छा

यह कहा जाता है कि इच्छा-स्वातंत्र्य में वादविवाद का

कारण उसका विधानात्मक रूप अर्थात् किसी पर्याय का छांटना है, परन्तु यह बात विचार से ठीक नहीं जचती, क्योंकि यदि पर्यायों ही से कर्म नियत होते हैं तब पसन्द अथवा रुचि के लिये कोई स्थान बाक़ी नहीं रहता और यदि पसन्द नहीं रही तब इच्छा-स्वातन्त्र्य कहां? दर्शन में इच्छा-स्वातंत्र्य का संबंध कारणत्व के प्रकार से बतलाया जाता है।

इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्वरूप और उस पर विचार

क्या उद्देश्य या अन्तिम कारण इन्द्रजाल और केवल नामरूप-मात्र है? कदापि नहीं, क्यों ऐसा कहा जाता है इसका कारण यह है कि मनुष्य अपनी सत्ता और उस जन्मसिद्ध प्रवृत्ति से, जो उसकी रक्षा के लिये प्राकृतिक नियम उसे देते हैं, अत्यन्त अनभिज्ञ उत्पन्न हुआ करता है। अतः संक्षेपतः प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य सर्वतोभावेन परतंत्रता का फल या रूप है या किन्हीं सुबोध अर्थों में उसका अपने अन्तिम उद्देश्य पर अधिकार भी है? उत्तर में कहा जा सकता है कि एक ओर तो यह असंभव है यदि यह कह दिया जावे कि मनुष्य के समस्त कार्य गातिमय अथवा कार्यपूर्ति के साधक कारणों पर निर्भर नहीं होते दूसरी ओर बिना अन्तिम कारण अथवा बिना अन्तिम उद्देश्य के स्वीकार किये भी यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि मनुष्य कर्त्तव्य की ओर चल सके या अपने व्यक्तित्व का कोई अर्थ बतला सके। अस्तु, अब देखना यह है कि वर्त्तमान विज्ञान ने इस प्रश्न के हल करने में कहांतक सफलता प्राप्त की है।

पांचवां सर्ग

इच्छा-स्वातन्त्र्य और विज्ञान

वर्तमान विज्ञान में जो समय समय पर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं उन्होंने इच्छा-स्वातन्त्र्य के प्रश्न का रूप बदल कर, इस प्रश्न पर विचार करने वालों का ध्यान दूसरी ओर लगा दिया है। अब यह प्रश्न इस रूप में है कि क्या मानव जीवन का प्रादुर्भाव प्रकृति के भिन्न भिन्न अवयवों के मेल का परिणाम है या उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता है और सब कुछ करने में वह स्वतन्त्र है? इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि जहां इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न पहले व्यक्तिगत और आन्तरिक था वहां अब समष्टि और जगत् से संबंधित प्रश्न हो गया। अब भी प्रश्न जिस परिवर्तित रूप में है, उसके दो पहलू हैं—

प्रश्न का नया रूप

(१) प्रकृति से बने हुए बाह्यजगत् में तो परिस्थिति और परतन्त्रता का पूर्णतया साम्राज्य है, परन्तु (२) मानव-जीवन के विकास में स्वतन्त्रता, भीतर से बिना बाह्य प्रभावों से प्रभावित हुए काम करने की योग्यता, शरीर और बाह्य प्रकृति की इच्छानुसार काम में लगाने और उन्हें नियन्त्रण में रखने की शक्ति, जिससे अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति हो सके पाई जाती हैं, अथवा जीवन में आन्तरिक शक्ति का होना पाया जाता है जो उसकी वास्तविकता का प्रकाश करती है और प्रकृति में वास्तविकता है जो उसकी आन्तरिक शक्ति को सीमित रखती है[1]। प्रश्न (इच्छा स्वातन्त्र्य) का अब असली रूप यह है।

---

(१) अंगरेज़ी के शब्द ये हैं:—"In life there seems to be a potentiality which transcends its actuality

विज्ञान में जो डारविन के विकासवाद से परिवर्तन हुए हैं, उनको लक्ष्य में रखते हुए देखा जाता है तो दो समस्यायें हैं जो वर्तमान विज्ञान के सामने हैं—

विज्ञान के दो प्रश्न

(१) योनिविकास, जिसके द्वारा प्रचलित उन्नत प्राणियों की उत्पत्ति पुरानी और सरल योनियों से बतलाई जाती है।

(२) जगदुत्पत्ति जो नीहार नैविड्य (नेबूलाओं के घनत्व) से हुई और जिसमें अधिक दिलचस्पी पैदा हो जाने का कारण नूतन संबंध-नियमवाद और प्रकाश-मात्रावाद के आविष्कार हुए[1]।

इस शास्त्र का संबंध चेतन प्राणियों की आदिमोत्पत्ति या उनके कर्तृत्व प्रकार से नहीं है, इस शास्त्र का अभिप्राय केवल इतना बतला देना है कि किस प्रकार विशेष योनियों में विभिन्नता हुई। इसीलिये इस शास्त्र में प्रकृति और चेतनामय जीवन को सिद्ध स्वीकार कर लिया गया है।

प्राणि-शास्त्र की सीमा

विकासवाद के लिये भी, यह ठीक कहा जाता है कि उसका काम चेतनामय जीवन की आदिमोत्पत्ति बतलाना

In matter an actuality which circumscribes its potentiality.

(१) नूतन सम्बन्ध-नियम वाद (New principle of relativity) का अभिप्राय यह है कि दो स्थानों की दूरी और दो घटनाओं के बीच का समय निश्चित दूरी और निश्चित समय नहीं हैं वे भिन्न भिन्न अन्वेषकों के लिये अपना भिन्न भिन्न मूल्य रखते हैं। (यह वाद भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित है)।

विकासवाद

नहीं है, क्योंकि यह विकासवाद है उत्पत्तिवाद नहीं और यह भी ठीक है कि यह वाद इच्छा-स्वातन्त्र्य या उत्तरदायित्व संबंधी प्रश्नों का भी कोई हल उपस्थित नहीं करता, जिन प्रश्नों के लिये यह समझा जाता है कि वे बुद्धि के रूप में, आत्मज्ञान पाये जाने से, मनुष्य के भीतर हैं।

न्यूटन के मतानुसार, जो उसने आदिम गतिनियम को प्रकट करते हुए प्रकट किया, जड़त्व नियम यह है कि प्रत्येक

जड़त्व नियम

प्राकृतिक वस्तु, चाहे वह गति में हो या ठहरी हुई हो, जिस हालत में भी होती है उसी में रहा करती है। उसमें परिवर्तन उसी अवस्था में होता है जब कोई वाह्य शक्ति हस्तात्तेप करती है।

व्यक्तियों, इन्द्रियमय शरीरधारियों, स्वयं उत्पन्न होने वालों, अपने पांव खड़े होने वालों और ऐसे प्राणियों से, प्राणि-संसार

प्राणीसंसार

बना करता है, जो अपने कर्तृत्व को अपने लिये सुरक्षित रक्खा करते हैं। वह कर्तृत्व यान्त्रिक नहीं होता बल्कि सोच समझ कर किया हुआ होता है। इसीलिए उसे केवल गति नहीं कह सकते किन्तु चेतनामय शक्ति। एक चेतन प्राणी अपना उत्तरदायित्व समझने वाला, सदैव उद्देश्यमय हुआ करता है और चेतनामय पुरुषार्थ सदैव अन्तिमोद्देश्य से निश्चित हुआ करता है, चाहे उसकी पूर्ति का साधन गतिमय कारण ही क्यों न हो। अतः यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि प्राणिशास्त्र अन्तिम कारणों और उद्देश्यों को इन्द्रजाल ठहरावे।

उदाहरण के लिये एक वृक्ष, अत्यन्त क्षुद्रजन्तु जिन्हें खुर्दबीन ही की सहायता से देखा जाता है, या किसी पशु

एक उदाहरण

को लो। प्राणीशास्त्र का काम, उसके शरीर की बनावट भौतिक और रासायनिक तत्त्वों से भूतकाल में कैसी थी और अब वर्तमान में कैसी है, इसका अत्यन्त पूर्णता के साथ वर्णन कर देना है, परन्तु वह वर्णित विवरण इतना स्पष्ट हो कि जिससे उस प्राणी का ज्ञान हो सके। पुराने ढंग को छोड़कर विज्ञान उसका वर्णन अब उसके ढांचे की बनावट और उसके कार्य्यों की जांच से किया करता है, परन्तु यदि हम मान लेवें कि उसका उद्देश्य, उसका अन्त और अन्तिम कारण केवल इन्द्रजाल है तो उसके बनावट और उसके कार्यों के जानने की कोई उपयोगिता ही नहीं रहती।

चेतना का विवरण देने में वैज्ञानिक दो भागों में विभक्त हैं:—

चेतना और विज्ञान

(१) जड़ाद्वैतवादियों का विचार यह है कि शरीर के अवयवों के मेल से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है।

(२) परन्तु जीवन-पार्थिक्यवादियों का मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। उनका कहना यह है कि जीवन के नियम और प्राणियों के कर्म करने की योग्यता का हल उपर्युक्त जड़वाद से नहीं हो सकता।

जीवन-पार्थिक्यवादियों के मतानुसार जीवन एक शक्ति है जो विघ्नबाधाओं के विरुद्ध काम करती है, अवसरों से

जीवन पार्थिक्यवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य

लाभ उठाते हुये ऐसी सूरतें और ऐसी अवस्थायें पैदा करती है जिनसे वह अपना प्रकाश कर सके।

जीवन एक क्रान्तिकारी और आगे बढ़ाने वाली शक्ति है जो अपने प्रकाश के लिये नये नये स्थानों की खोज किया

करती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मालूम यह होता है कि कतिपय कार्बन मिश्रितों (Carbon Compounds) की अस्थिरता से लाभ उठा कर, इस धराधाम पर पांव जमाने के लिये सूर्य्य की ताप-शक्ति का उपयोग लेते हुये उन्नत विकसित रूप में जीवन भिन्न भिन्न योनियों में प्रकट हुआ।

जीवन-पार्थिक्यवादियों के उपर्युक्त मतानुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वयं वेडन के नियम ही इच्छा-स्वातंत्र्य की वास्तविकता के पोषक हैं और इस बात को निराद्रित करते हैं कि स्वतन्त्रता इन्द्रजाल है।

परिणाम इच्छास्वातंत्र्य

छठा सर्ग

गैलिलियो (Galileo) के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के फैलने और डैकार्ट (Descartes) के नूतन पद्धतियों के प्रभाव से कारण और कार्य्यवाद की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ था। कार्य्य कारण का संबंध समझने की दृष्टि से वैज्ञानिकों के दो भेद हो गये। (१) पहली श्रेणी में वे वैज्ञानिक थे जो इस संबंध को वास्तविक संबंध समझते थे (२) और दूसरी श्रेणी के वैज्ञानिक इस संबंध को केवल आदर्श मानते थे। एक फ़रीक़ के मतानुसार यह संबंध मन की आन्तरिक आवश्यकता थी, परन्तु दूसरा फ़रीक उसे वस्तुओं का इस संबंध में वास्तविक रूप मानता था। अस्तु! कार्य्यकारण का संबंध सार्वत्रिक है और प्रत्येक का अनुभूत मौलिक नियम है। किसी बात की घटना का नाम देने से हमें कार्य्यकारण के सम्बन्ध का

कारण और कार्य्यवाद

मानना अनिवार्य्य सा हो जाता है। यदि एक वस्तु प्राकृतिक वस्तु है तो क्यों ऐसी ही है, क्यों दूसरे प्रकार की नहीं ? यदि एक घटना है तो वह क्यों घटित हुई और क्यों इसी प्रकार से घटित हुई ? इस "क्यों" का उत्तर जिससे मिलता है उसी को हम कारण कहते हैं और उस वस्तु या घटना को कार्य्य। इस विश्वव्यापक विचारशैली से, जब उसका प्रयोग हम किसी घटना पर करते हैं तो स्वयमेव वह घटना परतन्त्रता का रूप धारण कर लेती है। परन्तु इस विश्वव्यापक विचार-शैली से हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि वह परतंत्रता हमारे विचार की आन्तरिक अवस्था है अथवा विचाराधीन वस्तु की वाह्य अवस्था, क्योंकि कारण दो विभिन्न प्रकार के संबंधो के लिये प्रयुक्त हुआ करता है। (१) वे कारण जो वस्तुओं के प्रकार से सम्बन्ध रखते हैं, (२) वे कारण जिनका सम्बन्ध वस्तुओं के प्रकार से नहीं होता अपितु वे कर्ता के इच्छित और कृत कर्म हुआ करते हैं। अतः स्पष्ट है कि कर्ता के इच्छित और कृत कर्म परतंत्रता के कर्म नहीं हो सकते। यदि उन्हें परतंत्रता कहा भी जाय तो उस परतंत्रता के दूसरे अर्थ होंगे। कल्पना करो कि एक जंगल में आग लग गई। इसके दो ही कारण हो सकते हैं (१) एक तो यह कि जंगल के सूखे होने के कारण रगड़ से आग पैदा हुई और वायु ने उसे फैला दिया, (२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि किसी ने सिगरेट जला कर जलती हुई दियासलाई को जंगल की घास पर फेंक दिया। इस दूसरी सूरत में कर्ता के कर्म में पर-तंत्रता का आरोप किया भी जाय तो वह परतंत्रता दूसरे अर्थ वाली होगी। यहां यह बात याद रख लेनी चाहिये कि जो कर्म इरादा करके ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं उनके करने वालों

में इस प्रकार की परतंत्रता के साथ एक शक्ति भी होती है जिससे वे प्राकृतिक नियमों में निहित परतंत्रता नियम को काम में लाया करते हैं। यही शक्ति कर्ता के स्वतन्त्र होने का संकेत करती है। इस कारण और कार्य्यवाद के संबंध में योरुप के कुछेक दार्शनिकों के मत, जो विषय से संबंध रखते हैं, दिये जाते हैं।

डेविड ह्यूम
(David Hume)
१७११–१७७६ ई०

हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्राप्त हुआ करता है और अनुभव संस्कार और विचारों की धारा का नाम है जो एक दूसरे के बाद क्रमपूर्वक मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते रहते हैं। प्रत्येक अनुभव में, वर्तमान प्रभावों के सिवा भूतकालिक स्मृति और वासनाओं का भी समावेश होता है। हम वर्तमान संस्कारों का भूतकालिक संस्कारों से, जो उनसे मिलते जुलते होते हैं, मुकाबिला कर सकते हैं। इस प्रकार भूतकालिक संस्कारों के पुनः स्मरण से न केवल वर्तमान संस्कारों से मिलती जुलती पुरानी स्मृति ताज़ा होती है, वल्कि वे पुराने विचार भी ताज़ा होते हैं जो भूतकालिक अनुभव में सम्मिलित थे। इस प्रकार हम अपने अनुभवों को वस्तु का रूप देते हैं और संस्कारों और विचारों की जगह, जो हमारे अधिकार में होते हैं, हम एक ऐसी दुनियां का विचार करने लगते हैं जो ऐसी वस्तुओं से बनी है और जो हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान का स्रोत या कारण होती है। हम कितना ही ध्यान से अपने अनुभव की जांच या उस का विश्लेषण करें तो भी हम किसी घटना में कोई ऐसी चीज़ नही पाते हैं जिसे किसी अन्य वस्तु का कारण कहा जा सके।

हम एक दियासलाई का बक्स लेकर उसमें से एक दियासलाई निकालते हैं और उसे बक्स से रगड़ते हैं तब हम को एक और वस्तु अग्नि या प्रकाश का ज्ञान होता है, दोनों वस्तुयें दियासलाइ और अग्नि एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं। दियासलाई का तत्वतः विश्लेषण करने से भी अग्नि का कारण उसमें नहीं मिलता और इसी प्रकार अग्नि के भी विश्लेषण से दियासलाई के कार्य्य का चिह्न उसमें दिखाई नहीं देता। अतः ह्यूम की सम्मति में कारण और कार्य्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न वस्तु हैं और एक में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसके आधार पर दूसरे की कोई आशा कर सके। तब कारण और कार्य्य का संबंध इनमें नहीं खोजा जा सकता। यह संबंध इनके लिये जो हमारी विचारशैली है उसी में कहीं होना चाहिये? अस्तु, ह्यूम ने परिणाम यह निकाला है कि कारण कार्य्यवाद कहीं नहीं पाया जाता और उन घटनाओं में इस प्रकार का कोई संबंध नहीं है जो अनुभव का निर्माण करती हैं; यह विश्वास रिवाज के तौर पर हमारे अन्दर मौजूद है अन्यथा इस कारण कार्य्यवाद की कुछ असलियत नहीं है। हम हमेशा देखते हैं कि दियासलाई के रगड़ने से आग पैदा हो जाती है इसलिये जब हमें ज़रूरत होती है दियासलाई रगड़ देते हैं और विश्वास रखते हैं कि ज़रूर आग पैदा हो जावेगी।

एक उदाहरण

ह्यूम का यह तर्क ह्यूम के सन्देहवाद (Humes Scepticism) के नाम से प्रसिद्ध है, यदि ह्यूम के इस तर्क को ठीक मान लिया जावे तो फिर तो समस्त वर्तमान विज्ञान इन्द्रजाल ही ठहरेगा, क्योंकि उसकी भित्ति कारण कार्य्य-

ह्यूम के इस तर्क पर कुछ विचार

वाद ही पर ठहरी हुई है और यदि यह मान लिया जावे कि समस्त ज्ञान अनुभव ही से उत्पन्न होता है तो ह्यूम का तर्क ठीक ठहरेगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि अनुभव से अनुभव की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। अवश्य योरुप के कुछेक दार्शनिकों ने ह्यूम का समर्थन अपने तर्कों से करते हुये, अपनी सम्मति प्रकट की है कि भौतिक विज्ञान ह्यूम के निकाले परिणाम को स्वीकार करके कारणवाद के विचार को छोड़ सकता है परन्तु ह्यूम का यह तर्क सन्तोषप्रद नहीं है। उसने कारण शब्द का ठीक प्रयोग नहीं किया है। उसने कदाचित् इस शब्द को भौतिक नियति या इच्छानुसार किये हुये कर्म ही के अर्थ में लिया है।

कान्ट

ह्यूम के इस तर्क का उत्तर जगतप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट ने दिया है।[1] उसने इम ज्ञानप्राप्ति के संबंध मे एक नया वाद स्थापित करते हुये उसका नाम सर्वातिरिक्तवाद (Transcendental sheory) रक्खा है। उसने इस वाद के द्वारा प्रमाणित किया है कि संभावित अनुभव से ज्ञान का संबंधमात्र है साक्षातत: अनुभव उसका स्रोत नहीं है जैसा कि ह्यूम ने कल्पना किया है। कान्ट के इस वाद में कारणत्व ज्ञान-प्राप्ति की एक सीढ़ी है और मन एक प्रकार का सांचा है जिसमें अनुभव का आकार वना करता है। ज्ञान इस प्रकार कान्ट के मतानुसार दो साधनों से अपना रूप ग्रहण किया करता है (१) अनुभव—जिससे भीतरी मलवा प्राप्त हुआ करता है, (२) मन—जिससे आकार की प्राप्ति हुआ करती है।

ह्यूम और कान्ट के विचारों से सर्वथा विभिन्न विचार

(१) देखो "Critique of Pure Reason" by Kant.

कारणवाद के संबन्ध में विकासवाद ने उपस्थित किया है।

कारणवाद के संबंध में विकासवाद

एक व्यक्ति के शरीर के अन्दर शारीरिक कार्य्यप्रणाली की निरन्तरता और विभिन्न योनियों के विकास में ऐतिहासिक निरन्तरता ये दोनों भौतिक कारणवाद के विचार से सर्वथा विभिन्न हैं।

भौतिक कारणवाद के विषय में कारण और कार्य्य के मध्य कार्य्यप्रणाली की निरन्तरता नपी तुली गणित के नियमों, दो और दो चार, के सदृश होती है और समय तथा आकाश इस अवस्था को स्थिर रक्खा करते हैं। जब हम कहते हैं कि अग्नि से जंगल जल गया तो इसका अभिप्राय यह होता है कि हम भौतिक घटना की दो अवस्थायें ले सक्ते हैं:—(१) आग लगने से पहले उस (जंगल) की हालत (२) जलने के बाद की उसकी अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं में निरन्तरता और क्रम दोनों पाये जाते हैं। अग्नि ने यद्यपि जंगल का रूप बदल दिया परन्तु वस्तु को नष्ट नहीं किया अस्तु इस उदाहरण में अग्नि, जिसे कारण कहते हैं, केवल रूप बदलने का हेतु हुई। इस उदाहरण में अग्नि मात्रा की दृष्टि से शक्ति समझी जाती है और इस शक्ति समझने के विचार में कार्य्य और प्रतिकार्य्य की पूर्ण समता का समावेश है। निष्कर्ष यह है कि भौतिक कार्य्य कारणवाद प्रारम्भ से अन्त तक, गणित के नियमों के सदृश, नपा तुला होता है। परंतु इस भौतिक कारण कार्य्यवाद की स्कीम में शारीरिक कार्य्यप्रणाली नहीं आती। शारीरिक कार्य्यप्रणाली में भी कारण कार्य्यवाद पाया जाता है परन्तु वह गणित के नियमों के सदृश नपा तुला और यान्त्रिक नहीं होता। जीवित वस्तुओं में ऐति-

हासिक निरन्तरता पाई जाती है परन्तु ऐतिहासिक निरंतरता और गणितानुकूल यान्त्रिक निरंतरता में दरजों का नहीं किन्तु श्रेणी का भेद होता है।

एक उदाहरण

एक जीवित प्राणी की दो अवस्थाओं को देखो:—(१) जब वह माता की गोद में रहता है और उसे मल मूत्र त्याग की बुद्धि नहीं होती। (२) जब वह युवा होकर वेश भूषा से सुसज्जित होकर स्वयं कारोबार करता है। ऐतिहासिक निरन्तरता का, जिससे प्राणी की इन दोनों अवस्थाओं की पहचान हुआ करती है, गाणितिक निरन्तरता की समता से कुछ सम्बन्ध नहीं है। गाणितिक निरन्तरता के क्षेत्र को चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न कर दो, उसकी समता ऐतिहासिक निरन्तरता से नहीं हो सकती। ऐसा होने पर भी, कान्ट कहता है कि शारीरिक कर्तृत्व से हम कारणत्व के विचार को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं के सदृश, जीवित प्राणियों की बनावट में वर्तमान, भूतकाल से बनता और भविष्य को बनाता है।

जीवित प्राणियों के कारणत्व के निर्माण में एक बड़ा और आवश्यक साधन उनका जीवनोद्देश्य हुआ करता है जिसका भौतिक पदार्थों में न केवल अभाव होता है बल्कि वह भौतिक पदार्थों के नियमों से सर्वथा विरुद्ध भी है। जीवित प्राणियों के कर्म सोद्देश्य होते हैं और उद्देश्य बनाने का आवश्यक साधन इच्छा-स्वातन्त्र्य है और वह भी अभावात्मक अर्थ में नहीं अर्थात् रुकावटों का अभावमात्र नहीं होता किन्तु रचनात्मक अर्थों वाला भी होता है अर्थात् उत्पन्न करने की योग्यता भी उसमें होती है।

जीवित प्राणियों के कर्मों में एक और भी विशेषता होती है अर्थात् वे (कर्म) निरन्तर कुछ न कुछ नई वात पैदा करते रहते हैं और वे नई बातें न केवल ऐसी होती हैं कि जो पहले की देखी हुई नहीं होती किन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिनका पहले से कुछ विचार भी नही कर सकते।

जव हम जीवित प्राणियों की इच्छा-स्वातन्त्र्य का उल्लेख करते हैं तव इस प्रकार का उसका अभिप्राय नही होता कि पानी न्यागरा से गिरने में स्वतन्त्र है किन्तु तात्पर्य्य यह होता है कि जीवन नई वातों की रचना करने में स्वतंत्र होता है। जड़ता और जीवन के कारणत्व की तुलना करो तो पता चलेगा कि जड़वस्तु का भूत उससे सर्वथा पृथक् और पीछे छूट जाता है और वर्तमान में वह वस्तु जैसी है, वैसी रहती है परन्तु उसका वर्तमान रूप वह नहीं रहता जैसा भूतकाल में था। परंतु जीवित प्राणियों की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न होती है। जीवित प्राणी अपने भूत को वर्तमान में ले जाता है और निरंतर अपने भविष्य का निर्माण करता रहता है।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय

प्राकृतिक वस्तुओं के कारणत्व का रूप किसी अन्य वस्तु के साथ जुड़ा हुआ वाह्य संवंध हुआ करता है और यह स्पष्ट है कि उनमें से कोई कारण निरपेक्ष[1] कारण नहीं हो

(१) प्रकृति (सत, रज, तम की साम्यावस्था) प्रकृति रूप में कभी कार्य नहीं हुआ करती इसलिये वह निरपेक्ष कारण है परन्तु मिट्टी घड़े रूपी कार्य में परिवर्तित हो जाती है इसलिये वह सापेक्ष कारण है। सापेक्ष कारण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से कभी कारण और कभी कार्य हुआ करता है।

सकता, यदि उसके कार्यरूप में परिवार्तित हो जाने की सम्भावना हो अथवा वह कार्य्यरूप में परिवार्तित हो गया हो। जगत् में प्रचलित प्राकृतिक कारण इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते, परन्तु जीवित प्राणियों में भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों काल, मिले हुये रहा करते हैं। वह भूतकाल को अपने भीतर रखते हुये ही भविष्य की ओर चला करता है।

प्राकृतिक वस्तुओं के भविष्य का हिसाव लगाया जा सकता है यदि वर्तमान में काम करने वाली शक्तियों का हिसाव लगा लिया जावे, परन्तु जीवित प्राणियों के भविष्य का हिसाव नहीं लगाया जा सकता क्योंकि उनके भीतर परिवर्तन करने वाली जो शक्ति काम किया करती है वह उनसे न तो पृथक् हो सकती है और न पृथक् की ही जा सकती है। यह नियम सार्वत्रिक है और सभी प्रकार के जीवित प्राणियों में, चाहे वे वुद्धि रखते हों, जैसे मनुष्य अथवा तुच्छ कीट पतंग और वृत्तादि, काम करता हुआ देखा जाता है।

डिसाईडुअस (Deci-duous) एक वृत्त की कार्य्यप्रणाली को देखो, वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने में अपेक्षित परिवर्तन कर लिया करता है। न केवल तात्कालिक प्रभावों से प्रभावित होकर किन्तु ऋतुओं के अनुकूल जो प्रभाव उस पर पड़ने वाले होते हैं उनके लिये, अपेक्षित परिवर्तन करके, पहले ही से अपने को तय्यार कर लिया करता है। वह (वृत्त) प्रतीक्षा नहीं करता कि शीत आकर उसे सताने लगे तव वह अपनी कोमल कलियों को पाले से रक्षा करने की कोई स्कीम वनावे, किन्तु पहले ही से अपने पत्तों को गिरा कलियों को दृढ़ वना लिया करता है। स्पष्ट है कि उसने

एक वृत्त का उदाहरण

अपने भविष्य अर्थात् आने वाली शीत ऋतु का प्रवन्ध वर्तमान काल ही में कर लिया। उसके इस सोद्देश्य कार्य्य को इन्द्र-जाल नहीं कहा जा सकता।

इन समस्त घटनाओं पर विचार करके अनिवार्य रीति से यह नतीजा निकालना पड़ता है कि जहां जीवन है वहां सोद्देशता पाई जाती है और सोद्देशता के लिये स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

परिणाम

यह स्वतंत्रता उस परतंत्रता के मुकाविले में है जिसका साम्राज्य भौतिक संसार में फैला हुआ है। और इस स्वतंत्रता को प्राणी अपेक्षित प्रयोग में लाते और ला सकते हैं, प्राणियों की विभिन्नता की दृष्टि से इस स्वतन्त्रता का मात्राभेद तो प्राणियों में, अवश्य पाया जाता है परन्तु स्वतंत्रता है समस्त प्राणियों में इस में कुछ संदेह नहीं है।

सातवां सर्ग

इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्वन्ध में उस पुरानी पहेली 'वरीडेन के गदहे' को वर्गसन ने इस प्रकार सुलझाने की कोशिश की है।

वर्गसन (Bergson) और इच्छा-स्वातंत्र्य

वर्गसन कहता कि इच्छा-स्वातंत्र्य से एक भ्रम उत्पन्न होता है। वह भ्रम प्रायः कहा जाता है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में है परन्तु वास्तव में उस भ्रम का संबंध परतंत्रता से है।

वर्गसन ने अपने प्रथम वर्गीय ग्रन्थ "समय और इच्छा-स्वातंत्र्य[1]" में इच्छा-स्वातंत्र्यवाद की कठिनाइयों का अच्छा

1. 'Time anb Freewill' by Bergson.

समाधान किया है और विचार करते हुये उत्तमता से बतलाया है कि किस प्रकार एक शारीरिक कृत्य के समाप्त होने से पहले एक भ्रम उत्पन्न होता है और वह भ्रम स्वाभाविक या यों कहिये कि अनिवार्य्य रीति से उत्पन्न होता है कि एक शक्ति उस कृत्य का पहले से निश्चय किये हुये है। बर्गसन के कथनानुसार हम प्रत्येक प्राणी की तरह जीवन का अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति में बद्ध हैं। घड़ी-घड़ी के बाद ज्यों ज्यों हमारी आयु कटती जाती है, हम अपने को बनाते चले जाते हैं। और बर्फ़ के गोले के सदृश कि ज्यों ज्यों वह लुढ़कता है, बढ़ता चला जाता है हम अपने भूतकाल के साथ बढ़ते रहते हैं। कर्म करने का प्रारम्भ करने से पहले बराबर हमें अपनी इच्छा बनानी पड़ती है। और उस रुचि (इच्छा) से हम न केवल आगे के कर्तव्य का कुछ निश्चय करते हैं बल्कि अपने लिये भी कुछेक अन्य आवश्यक बातें निश्चय करते जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म का प्रारम्भ करते हुये हम अपने लिये जो निश्चय करते जाते हैं उसमें समस्त भूतकाल के समाविष्ट हो जाने से हम एक केंद्राभिमुखी हो जाते हैं हमको चाहे उस भूतकाल की खबर हो या न हो, परंतु वह हमारे साथ अपने छोड़े हुये संस्कारों आदि के द्वारा बराबर चलता रहता है। यही हमारे व्यक्तत्व का वैभव है। इन अवस्थाओं से गुजरते हुये जब हम पीछे फिर कर अपने समाप्त किये हुये कार्य्यों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमको हमारा भूतकाल, कारण की शृंखला में, दिखलाई देता है और प्रत्येक कार्य्य, अनिवार्य्य प्रभावों से जो पड़ चुके हैं, पहले से निश्चित प्रतीत होने लगता है। ये प्रभाव हमें बाहर से आये हुये प्रतीत होते हैं और भान होने लगता है कि हमारे ऊपर कहीं से डाले गये हैं परन्तु

सचाई यह है कि हम उसी भूतकाल से बने हुये हैं। जिस कार्य्य को स्वतंत्रता से वर्तमानकाल में करते हैं, समाप्त हो कर वही भूतकाल अथवा परतंत्रता का रूप धारण कर लेता है। यही वह परतन्त्रता का भ्रम है जिस का ऊपर उल्लेख हुआ है।

यदि कल्पना की जाय कि कोई व्यक्ति, उन समस्त प्रभावों से जानकार है, जो हम पर कर्म करते हुये पड़ते रहते हैं तो वह हमारे भविष्य में किये जाने वाले कर्मों की पेशीन-गोई कर सकता है परंतु यह सम्भव उसी अवस्था में हो सकता है जब पेशीनगोई करने वाला, हमारे उस कर्म के प्रारम्भ करने की घड़ी तक प्रारम्भ से पूरी पूरी जानकारी रखता हो और यदि ऐसी किसी सूरत की कल्पना की जाये तो इसके फलरूप में मानना पड़ेगा कि उस कर्म कर्त्ता और पेशीनगोई करने वाले मे कोई अन्तर नही रहा और वह पेशीनगोई करने वाला उस कर्म करने वाले की प्रतिकृति मात्र है।

क्या भविष्य का ज्ञान संभव है

एक व्यक्ति पीटर है जिसने एक महत्वपूर्ण निश्चय किया है और एक दूसरा व्यक्ति पाल है जिसे उस निश्चय के करते समय तक पीटर की प्रत्येक प्रवृत्ति का भान है तो बतलाओ कि क्या पाल बतला सकेगा कि पीटर क्या निश्चय करेगा? उत्तर इस प्रश्न का हां ही में दिया जायगा। कल्पना के तौर पर तो यह मान लेना ठीक है कि पाल को पीटर के सम्बन्ध में सब कुछ ज्ञान है अर्थात् उसे वह भी ज्ञान है जो कर्म करने का प्रारम्भ करते समय पीटर की स्मृति

एक उदाहरण और उस पर विचार

में नहीं था, परन्तु विचार यह करना चाहिये कि उस ज्ञान मे क्या क्या बातें सम्मिलित हैं ? उस ज्ञान में, कम से कम, निम्न बातें समाविष्ट होनी चाहियें:—

(१) निश्चय करते समय तक पीटर के समस्त भूतकाल का ज्ञान ।

(२) पीटर का उस समय तक का समस्त जीवनचरित्र, क्योंकि उन्हीं के प्रभावों से प्रभावित होकर पीटर ने निश्चय किया है ।

(३) संख्या १, २ के अन्तर्गत उन समस्त का समावेश समझना चाहिये जिनसे पीटर, पीटर बना है ।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख हुआ है उन पर विचार करने से प्रकट होता है कि जीवन के दो रूप हैं:—(१) वह अपने कर्मों के द्वारा, अपने को बनाता हुआ नये रूपों में प्रकट होता है जिसमें उसका भूतकाल वर्तमान के कर्तृत्व में सम्मिलित होता हुआ भविष्य के निर्माण का कारण बना करता है। स्पष्ट है कि यह इच्छा-स्वातन्त्र्य का एक रूप है ।

विचार का फल

(२) भूतकाल, जो पीछे रह जाता है, अनन्य व्याकरणीय होता है। वह समय-समय पर पूर्ण किये हुए कर्मों का लेखा है। उसमें इतिहासानुसारेण निरन्तरता पाई जाती है। प्रत्येक भावी घटना उसी भूतकाल का फल होती है। स्पष्ट है कि वह परतन्त्रता का रूप है ।

बर्गसन ने, उपर्युक्त बातों को प्रकट करते हुए, कहा है कि चेतन-जगत् का ज्ञान प्राप्त करने से इच्छा-स्वातन्त्र्य जैसे कठिन विषय पर अच्छा खासा प्रकाश पड़ जाता है। वह कहता है कि प्राकृतिक जगत् और उसके समस्त फैलाव पर नज़र

डालने से, हृदय में प्रश्न उठते हैं कि जगत् का प्राथमिक नियम क्या है ?

क्या प्राकृतिक तत्व से उत्पादक शक्ति का जगत् में प्रकाश होता है ? क्या जगत् स्वयमेव एक जीवन रूप है जो अपना प्रकाश करता है ? क्या इच्छा-स्वातन्त्र्य प्राणियों का हृदय और परतन्त्रता उनका नामरूपमात्र है ? या; इसके विपरीत इच्छा-स्वातन्त्र्य भ्रम और इस जगत् का वाह्य आकारमात्र है जिसका भविष्य एक प्रकार की परतन्त्रता से बंधा हुआ है जो उसके भूतकाल को अपरिवर्तनीय बनाता है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, बर्गसन का उत्तर यह है कि दोनों (इच्छा-स्वातन्त्र्य और परतन्त्रता) साथ-साथ अपने को प्रकट किया करती हैं।

बर्गसन ने अपने दर्शन में जिन दो वादों[1] का विवरण दिया है उनके समझने के लिये आवश्यक है कि उनसे संबंधित कुछ अन्य बातें भी जान ली जावें।

जीवन और प्रकृति

उनमें से जीवन और जड़-जगत् का सब से पहले जान लेना आवश्यक है। किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हुआ करते हैं। (१) उसका आन्तरिकज्ञान, (२) उसका वाह्यज्ञान। ज्ञाता मन होता है और ज्ञातवस्तु जगत्। इस ज्ञानप्राप्ति के सम्बन्ध में भी दो वाद हैं। (१) द्वैतवाद, (२) चेतनाद्वैतवाद।

---

(१) बर्गसन ने अपनी फ़िलासोफ़ी में दो वाद उपस्थित किये हैं: — [१] उत्पादक विकासवाद (Theory of Creative Evolution) [२] दूसरा वाद उसका वह है जिसकी निर्देशक परिभाषा "अकस्माद्‌द्भूत" (Emergent) है।

इस वाद का झुकाव मन को ज्ञान प्राप्ति के कार्य में इस प्रकार लगा देना जिससे वह उस समय किसी दूसरी ओर न जा सके। इस क्रिया को कोई भी कर्ता, जिसके भीतर संकल्प विकल्प करने की योग्यता है, किसी दूसरी वस्तु पर काम में ला सकता है।

द्वैतवाद

(२) न केवल ज्ञान का प्रारम्भ अपितु अनुभव के प्रकल्पक निरूपण द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की समस्त कार्यप्रणाली को, जिसमें ज्ञेय भी सम्मिलित है, मन ही की उपाधि ठहराना, अद्वैतवाद है।

जगत्-सम्बन्धी समस्त ज्ञान हमें इन्द्रिय द्वारा प्राप्त हुआ करता है। (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) त्वचा इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय के साकार रूपों का, यद्यपि हमें ज्ञान होता है परन्तु विज्ञान प्रकट करता है कि प्रकृति नामरूपरहित है।

ज्ञानप्राप्ति से संबंधित वाद

वस्तु से आई (या वस्तु से लौटी हुई) किरणों के द्वारा जो रूप वस्तु का, आंख में बना करता है, वह प्रकाश की किरणों के नेत्र-पटल पर एकत्रित होने से बना करता है, परन्तु इस प्रकार प्रकाश की किरणों की एक केन्द्राभिमुखता प्रकृति में नहीं पाई जाती।

चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति

भौतिकविज्ञान में (१) परावर्तन अर्थात् एक वस्तु की छाया दूसरे पर पड़ने' अथवा (२) प्रकाश, गरमी, रंग आदि

(१) Refracting telescope with object glass converging rays to focus.

की प्रतिच्छाया[1] के नियम वर्णित हैं, परन्तु किरणों की एक केन्द्राभिमुखता, जिससे किसी वस्तु का रूप हमारे भीतर उत्पन्न हुआ करता है, न तो उस वस्तु में पाई जाती है और न प्रकाश की किरणें उसके लिये कुछ करती या कर सकती हैं। उस वस्तु के ज्ञान-प्राप्ति का कारण नेत्रों का यान्त्रिक व्यापारमात्र हुआ करता है। अन्य श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है उसका कारण भी उन इन्द्रियों का यान्त्रिक व्यापार ही होता है। निष्कर्ष यह है कि विज्ञान की रू से जगत् की असलियत जो शक्ति की दीप्ति-मात्र बतलाई जाती है जिन्हें साधारण रीति से प्रकाश शब्द और उष्णतादि कहा जाता है परन्तु आंखों में कोई रूप बनने से इन प्रकाश की किरणों को एक केन्द्राभिमुख होना चाहिये, परन्तु यह एक केन्द्राभिमुखता न तो शक्तियों की दीप्ति से होती है और न स्वयं वस्तु द्वारा बलिक मनुष्य की इन्द्रियों के यान्त्रिक व्यापार से हुआ करती है।

एक और आवश्यक विचार

एक दूसरी आवश्यक बात यह है कि इन्द्रियों की शक्ति सीमित हुआ करती है परन्तु प्रकृति में इस प्रकार की सीमा का अभाव है। इस सीमा का सीमित्व इन्द्रिय व्यापार में देखा जाता है जिसका कारण मनुष्य की अपनी हस्ती हुआ करती है। मनुष्य, जिन कार्यों को, शरीर की स्थितिरूप परतन्त्रता के वशीभूत होकर किया करता है, उन्हीं से इस सीमा का प्रादुर्भाव हुआ करता है। अतः स्पष्ट है कि हमारे इन्द्रिय,

(१) Reflecting or being reflected angle of rays, made by reflected rays with perpendicular to surface.

छूटे हुए विषयों को ग्रहण किया करते हैं। और इसलिये हम जगत् की असलियत उतनी ही समझा करते हैं जितनी इस निर्वाचन के सीमा के अन्तर्गत हुआ करती है।

कल्पना करो कि कुछ अत्यन्त सूक्ष्मरूप वालों का, चक्षु द्वारा, हमें ज्ञान है। हम सुर्ख रंग के देखने की सीमा जहां से शुरू होती है, उससे इधर और वैजनी रंग देखने की सीमा जहां समाप्त होती, उससे उधर नहीं देखा करते हैं[1]। इसलिये उन सूक्ष्म रूप वालों से अधिक सूक्ष्म रूपों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। अब कल्पना करो कि यदि हमारी इन्द्रियशक्ति इतनी अल्प न होती, जैसी की है, तो हम ऐसी वस्तुओं को भी देखा सुना करते जिन्हें न अब देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। उस हालत में हमारा जगत्संबंधी ज्ञान, अब की अपेक्षा बिलकुल और होता। हमारा ज्ञान उस अवस्था में चाहे और होता परन्तु उससे जगत् में कुछ परिवर्तन न होता। जगत् जैसा अब है उस समय भी वैसा ही रहता।

एक उदाहरण

जगत् का जो ज्ञान, विज्ञान से, हम को होता है उसकी अपेक्षा हमारा इन्द्रिय-ज्ञान बहुत अधूरा है परन्तु मनुष्य का अनुभव इन्द्रिय-ज्ञान की तरह अधूरा नहीं होता, ज्ञान में निरन्तरता पाई

इन्द्रियज्ञान और अनुभव

(१) मनुष्य को देखने का ज्ञान आकाश (ईथर) में तरङ्गों के उठने से हुआ करता है। जब ४० नील तरंगें उठ लेती हैं तब हमें सुर्ख रंग दिखाई दिया करता है और जब ८० नील तरंगें उठा करती हैं तब वैजनी रंग को हम देखा करते हैं। बीच मे उठी हुई तरंगों से अन्य रंग जाने जाया करते है। यदि ४० नील से कम या ८० नील से अधिक तरंगें उठें तो मनुष्य कुछ नहीं देख सकता।

जाती है और क्योंकि इन्द्रियज्ञान भिन्न भिन्न इन्द्रियों में बंटा रहता है इसलिये उसमें अधूरापन होना अनिवार्य सा ही है, परन्तु अनुभव समस्त इन्द्रिय ज्ञानादि की समष्टि हुआ करता है इसलिये वह पूर्ण और अविभक्त हुआ करता है चाहे वह जगत् की अपेक्षा अल्पमात्रिक ही क्यों न हो।

जगत् में भी निरन्तरता पाये जाने का विचार अनिवार्य सा है, इसी के द्वारा इस जगत् के वास्तविक छिद्र और शून्यता आदि का विचार करते हैं।

अस्तु, इस प्रकार दो प्रकार की निरन्तरता यहां पाई जाती है:—

(१) इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव की निरन्तरता।

(२) प्रकृति की निरन्तरता, जैसा विज्ञान ने समझा हुआ।

इन सब विचारों का फल यह है कि ज्ञान के दो रूप हैं:—

(१) ज्ञानजन्य ज्ञेय का साक्षात् ज्ञान।

(२) इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान से बने अनुभव का विचारपूर्ण अर्थ-ज्ञान।

जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध में दो वाद

एक वाद में प्रकृति को बतलाया गया है कि जीवन की संपत्ति है, दूसरे में जीवन के लिये प्रकट किया गया है कि वह एक नई शक्ति है जो प्रकृति में उद्भूत होती है और प्रकृति को, गिरावट और अस्थैर्य्य की ओर से उन्नति की ओर ले जाने वाली सीढ़ी या उसके ऊपरी धरातल की तरह होकर, समता की ओर ले जाती है।

एक तीसरा विचार एक विद्वान् जौड (Joad) ने उपस्थित किया है, जिसके द्वारा उसने प्रकट किया है कि जीवन (जीवात्मा) और प्रकृति दोनों अन्तिम सत्यता रखते

है। इस वाद को उसने सार्वलौकिक दर्शन (Common Sense Philosophy) कहा है।

ब्रह्मांड अन्ततः एक सचेष्ट वस्तु है, जहां तक उसके मिश्रित होने का संबंध है वह सचेष्ट वस्तुओं का संघात है। और उस (ब्रह्मांड) का जड़त्व शक्ति के फैलाव और उसके निर्माता सचेष्ट अवयवों के पूरित कार्यों की एक अवस्था है। इस वाद को लाएव निटज़ ने आध्यात्मिक हेतुओं के साथ प्राकृतिक और आचारिक फिलोसोफी के आधार पर उपस्थित किया था, परन्तु वर्गसन ने, इस वाद को, विकासवाद की कल्पनाओं के व्याख्यान के तौर पर उपस्थित किया है[1]। और वैज्ञानिक सिद्धान्तों और नियमों से उसकी पुष्टि की है।

कल्पक विकास
Creative Evolution

एक उदाहरण से यह नियम समझा जा सकेगा। कल्पना करो एक स्रोत है। पानी का ऊपर चढ़ना और उतरना एक अभिन्न जाति के दो विरुद्ध कार्य हैं। वह शक्ति, जो पानी को नीचे लाती है, पृथिवी का आकर्षण है और वह उस शक्ति से समता में रहती है जो पानी को ऊपर चढ़ाया करती है। स्पष्ट है कि स्रोत के जल मे, उतार और चढ़ाव, दोनों प्रकार की गति पाई जाती है। यदि यह पूछा जाय कि इनमें से असली कौन सी है तो उत्तर यही दिया जा सकता है कि उतार, चढ़ाव का अनिवार्य फल है। वर्गसन के इस वाद के अनुसार, जीवन और प्रकृति एक ही गति की दो विभिन्न दिशायें हैं। जीवन चढ़ाव स्थानी है जिसमें आगे बढ़ने और

वाद का आध्यात्मिक नियम

(१) देखो "Creative Evolution" by Bergson.

ऊपर चढ़ने की योग्यता होती है। समस्त वे शब्द, जिनसे चेतना (जीवन) वर्णित होती है, इस बात की पुष्टि करते हैं और हमारा अनुभव भी इसी का साक्षी है। जीने की इच्छा, आत्मशक्ति, उद्योग, प्रयत्न और पुरुषार्थ आदि वाक्य और शब्द, सभी वाक्य-शक्ति और शब्द-शक्ति, इस विचार से प्राप्त करते हैं कि जीवात्मा शक्ति का केन्द्र, आगे को बढ़ाने वाला और ऊपर को उठाने वाला है और यह उसका प्रयत्न किसी विशेष आकर्षक उद्देश्य की ओर नहीं, किन्तु स्वतंत्रता की ओर है। जीवन के इस आगे बढ़ने के यत्न के रास्ते में एक चीज़ है जो बाधक होती है वह निश्चेष्ट भार (प्रकृति) है जिसे विरोधी नहीं किन्तु रुकावट का हेतु कहना चाहिये। इसी का नाम प्रकृति या प्राकृतिक वस्तु है परन्तु यह प्राकृतिक प्रभाव, जो जीवन के प्रतिकूल है, मालूम ऐसा दिया करता है मानो जीवन के कर्तृत्व का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति के कर्तृत्व में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है जो प्राकृतिक प्रभावों को बढ़ाकर स्वतन्त्रता के लिये एक रुकावट बनती है और उसे नष्टप्राय सा कर देती है। बर्गसन व्यक्तियों के संबंध में इतनी बात कहते हुए सिद्धान्तरूप में प्रकट करता है कि 'जो बात व्यक्ति के लिए ठीक है वही समष्टि के लिये भी।

यदि हम जीवन को, उसके व्यक्तत्वरूप में देखने की जगह, समष्टिरूप में, विकास के पीछे एक शक्ति के तौर पर, देखें और समस्त ब्रह्मांड को, अपने भीतर समझें जो दिशा और काल के अन्तर्गत है, और जीवन को एक ही अनेक योनियों में विचारें तो इस कल्पना का फल यह होगा कि ब्रह्मांड में हम को एकमात्र अनथक और आगे बढ़ाने वाली शक्ति प्रकट होगी और प्रतीत होगा कि उसी का यह सब

प्रकाश है और वही वास्तविकता रखती है और वही रुकावटों के विरुद्ध सतत यत्नशील है। यह जीवन की वह अवस्था है जिसे विकासवाद ने प्रकट किया है और जो इस नये रूप में हमारे सम्मुख है।

उदाहरण पर विचार

उदाहरण पर विचार करने से प्रकट होता है कि उस स्रोत के उतार चढ़ाव को देखने वाला, इन दोनों गतियों से भिन्न कोई व्यक्ति है, परन्तु जीवन और प्रकृति का देखने वाला इन से पृथक् नहीं, वलिक चढ़ाव के भीतर और उसका एक अंग ही है, इसीलिये गति का अंग और साथी है। इस वात से वह द्रष्टा यद्यपि अनभिज्ञ नहीं परन्तु जब वह उतार की गति (प्रकृति) में रुकावट डालने का भरसक यत्न करता है तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह उस उतार वाली गति (प्रकृति) को अधिक शक्तिमान् समझता है, अस्तु। इस प्रकार उदाहरण पर विचार करने से केवल प्रकृति की असलियत और जीवन के इन्द्रजालमात्र होने के दावे की हकीक़त खुल जाती है। जड़त्व और कर्तृत्व परस्पर विपरीतता रखते हैं। प्रकृति में जड़त्व है और कर्तृत्व का अभाव है इसलिये जब तक कोई गतिदाता न हो वह निष्क्रिय और निकम्मी ही रहेगी। इसलिये संसार में केवल एक तत्व (प्रकृति) की कल्पना, विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है।

डिकार्टेस ने माना है कि समस्त गति यान्त्रिक होती है और वह ईश्वर द्वारा दी जाकर जगत् की रचना का कार्य पूरा किया जाता है।

डिकार्टेस
Descartes

इस पर "कार" ने लिखा है कि भौतिक विज्ञान में जो क्रान्तिपूर्ण परि-

वर्तन हुए हैं उनके आधार पर, प्रकृति को जैसा अब तक अविनाशी समझा जाता रहा है, आयन्दे ऐसा समझना असम्भव है। वर्तमान भौतिक विज्ञान की रू से प्रकृति नित्य नहीं उसमें, वेग की दृष्टि से, विभिन्नता है। अब प्रकृति नहीं बल्कि शक्ति प्राकृतिक कार्यप्रणाली की आधारशिला है।[1]

एच० डब्ल्यू० कार
H. W. Carr

जीवन के विकास में कर्तृत्व देखा जाता है और इसके भीतर जो नियम निहित है वह प्रत्येक जगह एक जैसा ही पाया जाता है और वह, प्रकृति को प्रयोग में लाकर, नये नये रूप और आकृतियों की रचना करता है। इस प्रकार जिन रूप और आकृतियों की वह रचना करता है उनमें उस (कर्तृत्व के नियम) की सीमा होती जाती है। जीवन, उन रूप और आकृतियों की अपेक्षा से उनका उत्पादक, और प्रकृति की अपेक्षा से उसका संग्रहीता है।

लौयड मार्गन (Loyed Margan) ने गिफार्ड लेक्चर्स (Gifford Lectures) के प्रसंग से जो जीवन और प्रकृति के संबंध में विचार प्रकट किये थे उन्हीं को उसने सापेक्षि विकासवाद का नाम दिया है। इस वाद का मूल, एलेक्ज़ेन्डर के दिशा, काल और देवता[2] शीर्षक लेख में मिलता है। इस वाद का सार यह है कि समस्त ब्रह्मांड, जो प्रकृति, जीव और मन का संघात है, केवल एक कार्यप्रणाली का परिणाम है। इस

सापेक्ष विकासवाद

(1) "The Freewill Problems" by Herbert. W Carr p. 58.

(2) Alexander's "Space, Time and Deity."

वाद को प्रकट करने के लिये इसका जो नाम सापेक्षि विकास दिया गया था, वह अब दार्शनिक जगत् में प्रचलित हो चुका है। मूल नियम, जो इस वाद के अन्दर निहित है, वह स्पाईनोज़ा के अद्वैतवाद से मिलता जुलता है। अन्तर यह है कि यह (सापेक्षिवाद) खालिस प्राकृतिक वाद है जो चेतना-द्वैतवाद के विरुद्ध है परन्तु जड़ाद्वैतवाद से भी अपने को अलग रखता है।

वाद का विवरण

इस वाद का विवरण इस प्रकार है कि विकास में जीवन और मन के अनेक दरजे या क्षेत्र हैं, परन्तु वह विकास, जहां तक बुद्धि से समझा जा सकता है, विश्वव्यापी है। इस वाद के क्रमशः विकास की उपमा, ऐसे उष्ण धर्म परिमाण से दी जा सकती है जिसकी प्रवृत्ति उष्णता कम करने की ओर हो। इस वाद में विकास, अपचय की एक कार्यप्रणाली प्रतीत होती है जो अस्थैर्य की परम संख्या से समता की ओर चलता है। विकासवाद का एक दूसरा पहलू भी है जो वस्तुओं को, प्रारंभिक सरलता से पृथक् करके, बढ़ती हुई असरलता की ओर ले जाता है। परन्तु यह पहलू सापेक्षि विकासवाद के विरुद्ध है। सापेक्ष विकासानुसार प्रारम्भ में केवल दिशा और काल थे। इनके साथ ही एक अत्यन्त सरल नियम भी था जिसमें गति और परिवर्तन सम्मिलित थे। प्रत्येक परिवर्तन के साथ गुणों के एक नये क्रम की वृद्धि होती जाती थी।

विकासवाद के दोनों पहलू जड़ और चेतनात्मक जगत् के एक ही कार्यप्रणाली के अंग होते हैं। इसी विचार को

सापेक्षवाद का एक उदाहरण

स्पाइनोज़ा ने अपने अद्वैतवाद में एक तत्व का रूप दिया है जो बुद्धि और विचार के रूप में अपने को प्रकट किया करता है। अस्तु। सापेक्षवाद भलीभांति समझा जा सके इसके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। पानी दो प्रकार की गैसों, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन, से बनता है परन्तु इन गैसों के पृथक् पृथक् जो गुण होते हैं, वे पानी में नहीं होते। पानी के गुण इन से सर्वथा भिन्न हैं यद्यपि पानी की मात्रा उतनी ही होती है जितनी उसके निर्माता गैसों की होती है। बादल, नदी, समुद्र, बर्फ़, पाला, पानी की भाप इत्यादि, इसी पानी के अनेक रूप होते हैं, इन्हीं के साथ इन्द्रधनुष, बादल की गरज आदि की भी उत्पत्ति हो जाती है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों प्रकार की गैसों के मेल से इतनी सूरतें पैदा हो गईं परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि इनकी उत्पत्ति अचानक हो गई और इनका कुछ भी संबंध पानी के विकारों से नहीं है। जो कुछ कहा जा सकता है वह केवल इतना कि इनकी उत्पत्ति जल और उसके विकारों की अपेक्षा से होती है, परन्तु इनके लिये अन्त में कहा यही जा सकता है कि ये एक दिव्य तत्व से उत्पन्न हुए हैं फिर भी इन्हें कारणत्व की जंजीर में नहीं जोड़ा जा सकता जिससे स्थूल जगत् जुड़ा हुआ है।

यह पानी का उदाहरण आंशिक है। सापेक्ष विकास का तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन और मन, पानी के गुणों की

उदाहरण पर विचार

तरह, किन्हीं नवीन अणुओं से मिश्रित वस्तु के गुण हैं बल्कि अभिप्राय यह है कि यह विकास निर्णीत काल की परम्परा है, जो निरन्तर

वैकासिक पंक्ति से भिन्न, उत्तम चिन्तित दरजे या क्षेत्रों को उपस्थित किया करती है और उससे प्रत्येक नये दरजे या क्षेत्र के साथ, कर्तृत्व की एक नई लड़ी, प्रकट हो जाया करती है। जीवन इसी उदार और विस्तरित अर्थों में सापेक्ष कहा जाता है।

कल्पक विकासवाद अन्तिम उद्देश्यवाद या सोद्देश्य कर्तृत्ववाद ही कहा जा सकता है। उत्पत्ति के विचार से उद्देश्य को पृथक् नहीं कर सकते और उद्देश्य के साथ अन्तिम उद्देश्य को प्रेरक या नियन्त्रक के तौर पर मानना अनिवार्य है, अन्तिम कारण और उद्देश्य को स्वीकार करके इच्छा-स्वातन्त्र्य को न स्वीकार करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कान्ट ने जो एक वाक्य "स्वातन्त्र्य निमित्त का प्रमाणीकरण" कहा था वह पूर्ण रूप से इस कल्पक विकासवाद पर लागू होता है। कान्ट का अभिप्राय, इन शब्दों के प्रयोग में लाने का यह था कि आचारक निमित्त को, प्राकृतिक निमित्त से पृथक् करे। कल्पक विकासवाद के अनुसार जीवन न तो प्राकृतिक है न प्रकृति का गुण है और न उसके किसी गति का परिणाम अर्थात् जीवन प्रकृति के न तो किसी प्रकार के विकास का फल है न उसके किसी यान्त्रिक गति का नतीजा। वह इनसे सर्वथा भिन्न एक संगठक और मेलोत्पादक शक्ति है। अब सापेक्षवाद पर विचार कीजिये। यह वाद घटनाओं को तो स्वीकार करता है परन्तु उनके किसी प्राकृतिक निमित्त के परिणाम होने को, असम्भव बतलाता है और उसका अभिप्राय यह भी है कि घटनाओं को कुछ इस प्रकार समझ लिया जावे कि जिससे

दोनों वादों का अन्तर

सापेक्ष विकासवाद का रूप

अन्तिम कारण (उद्देश्य) के किसी रूप में भी प्रश्न उठाने की ज़रूरत ही बाक़ी न रहे। इस वाद के अनुसार जीवन और मन को, सर्वसम्मत जगदुत्पत्ति की एकमात्र कार्यप्रणाली में दरजे या क्षेत्र, बतलाया जाता है। जैसे एक वृक्ष में, उसकी बढ़ोत्री की हालत में, पत्ते, फूल और फल, एक के बाद दूसरा, दरजे के तौर पर निकलते हैं परन्तु उनके, इस प्रकार निकलने पर, उनके लिये, हम प्राकृतिक या अन्तिम कारणों की, तलाश नहीं करते और समझ लेते हैं कि यह श्रेणीबद्धता, वृक्षों में, स्वाभाविक है। इसी प्रकार सांसारिक विकास में, जीवन और मन, अपरिहार्य लेवल के तौर पर, असली तत्व के अक्षय भण्डार से, स्वभावतः उत्पन्न हुए, समझे जाते है।

मनुष्योत्पत्ति के सम्बन्ध में नये विचारों के प्रकट होने से, मनुष्य-स्वभाव के समझने में भी परिवर्तन हो गया है।

इस पर हर्बर्ट डब्ल्यू० ·कार की सम्मति

अब हम इच्छा-स्वातन्त्र्य को व्यक्तिगत प्रश्न नहीं समझते जिसके द्वारा एक व्यक्ति, एक बड़ी शक्तिसम्पन्न सत्ता के सम्मुख, अपने धार्मिक कर्तव्यों के सम्बन्ध से, उत्तरदाता समझा जाता था। इस उत्तरदायित्व की बात को, पुराने ही रूप में, हम समझते तो भविष्य में भी रहेंगे परन्तु यह आवश्यक होगा कि उसके अर्थ परिवर्तित रूप रखते हों। इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न अब नये रूप में इस प्रकार है कि हम इच्छा-स्वातन्त्र्य की तात्विक स्थिति को, मनुष्य-स्वभाव के निर्मातृ-वर्ग में समझते हैं। मनुष्य की बुद्धि में, वस्तुओं के अनुकूल प्रतिकूल समझने की स्वतन्त्रता निहित है, उसे हम इच्छा-स्वातन्त्र्य ही कह सकते हैं।

आठवां सर्ग

पहले सर्गों में इच्छा-स्वातन्त्र्य के रूपों में, जो समय-समय पर पश्चिमी दार्शनिक संसार में परिवर्तन होते रहे, और उन परिवर्तनों के संबंध में उस समय के दार्शनिकों में क्या और किस प्रकार के मतभेद होते रहे, इन सब बातों का दिग्दर्शन कराया गया है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछेक विद्वानों की सम्मतियां विस्तृत रूप से देकर उन पर विचार किया गया है, जिससे इच्छा-स्वातन्त्र्य जैसे गहन विषय के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश पड़े। अब इस विषय के अनुकूल और प्रतिकूल वादों की केवल एक सूची देकर कुछेक अन्तिम शब्दों के साथ यह प्रकरण समाप्त किया जायगा।

यह स्वातन्त्र्यवाद जिन जिन वादों के विरुद्ध कहा जाता है, उनका विवरण इस प्रकार है:—

इच्छा स्वातन्त्र्यवाद किन वादों के विरुद्ध है ?

(१) कुछेक वैज्ञानिकों का कहना है कि यह वाद, प्राकृतिक नियमों के, जैसा विज्ञान ने उन्हें समझा है, विरुद्ध है। उनका कथन है कि इससे दृश्य संसार का प्रवाह टूटता है और यह कि यह वाद शक्ति-सामंजस्यवाद के भी विरुद्ध है।

(२) विचार-शास्त्र या विचार-नियमों के भी, यह वाद, विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि कार्यकारणवाद और उपर्युक्त तर्क एकता के पोषक हैं और वही एकता विचार नियमों के भी अनुकूल है परन्तु इस वाद से वह भंग होती है।

इच्छा-स्वातन्त्र्य के समर्थन में निम्न वाद हैं:—

किन वादों से अनुकूलता रखता है ?

(१) न्याय के विचार से स्वतन्त्रता अनिवार्य है।

(२) उत्तरदायित्व का विचार भी स्वतन्त्रता चाहता है।

(३) सुकृत और दुष्कृत तथा फलाफल की बात भी उसी समय कही जा सकती है जब कर्म की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली जावे।

इस उपोद्‌घात को समाप्त करने से पहले एक बात की ओर पाठकों का विशेष रीति से ध्यान आकर्षित किया जाता

उपसंहार

है कि ग्रन्थ में जहां जहां विज्ञान (साइन्स) की बात कही गई है उस में इच्छा-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध पत्त का, विशेष रीति से, उल्लेख किया गया है। उसका एक हेतु यह भी है कि अधिक से अधिक विरुद्ध मत सुन और समझ लेने और उनके अल्प महत्वपूर्ण होने का ज्ञान हो जाने से अस्ल-विषय में श्रद्धा के भाव बढ़ जाया करते हैं। अन्यथा वर्तमान वैज्ञानिकों के अनेक अगुआ, इस (इच्छा-स्वातन्त्र्य) वाद के पोषक हैं।

सर आर्थर एडिंगटन के मत से, यह बात भलीभांति प्रकट हो जाती है कि वर्तमान विज्ञान परतन्त्रतावाद का समर्थक नहीं है। उनकी सम्मति में, इस स्वातन्त्र्यवाद के लिये, यह समय, विशेष रीति से, फूलने और फलने का आ गया है।[1]

वेद और शास्त्रादि में तो इस वाद का समर्थन किया ही

(१) एडिंगटन के मत जानने के लिये देखो इस ग्रंथ के उन्नीसवें अध्याय में "विज्ञान का पत्त"।

गया है परन्तु पश्चिम के विचारकों में से भी अधिकांश की सम्मति इस वाद के समर्थन में है।

ग्रन्थ में, यत्न किया गया है कि कर्म के प्रत्येक पहलू पर, यथासम्भव प्रकाश पड़े। यह बात पाठको को, ग्रन्थ के प्रथम १४ अध्यायों के अध्ययन से, अच्छी तरह मालूम हो जावेगी।

ग्रन्थ के लिखने का, एकमात्र उद्देश्य, यह है कि देश के नर नारियों में पुरुषार्थ करने का प्रेम पैदा हो और वे पुरुषार्थी बनें जिससे जगत् अकर्मण्यों का नहीं अपितु पुरुषार्थियों का निवासस्थान बनकर अधिक से अधिक सुख-शान्ति की जगह बन सके। एवमस्तु॥

नारायण स्वामी



ओ३म्

कर्म-रहस्य

पहला अध्याय

ऋग्वेद में, एक जगह, कर्म से संबंधित ३ पदार्थों का उल्लेख, इस प्रकार किया गया है:—"एक साथ रहने वाले,

कर्म से संबंधित पदार्थ

परस्पर मित्र, दो पत्ती (ईश्वर+जीव) समान वृक्ष (प्रकृति) पर आश्रय करते हैं, उन दोनों में से एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों का भोग करता है, दूसरा (ईश्वर) न भोगता हुआ साक्षीमात्र है[1]।"

मतलब इसका साफ है कि इस प्राकृतिक जगत्-रूपी वृक्ष पर स्थित जीवात्मा, अपने पुरुषार्थ (कर्म) से उसके फलों को खाता है अर्थात् जगत् के अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करता है परन्तु ईश्वर जीव की भांति जगत् का उपभोग न करता हुआ, साक्षीमात्र रहता है और जीव जैसे कर्म करता है उसका, वैसा ही फल, उसे दे दिया करता है। इस प्रकार जीव कर्मकर्त्ता, ईश्वर फलदाता और यह जगत् कर्मक्षेत्र है जिसमें जीव अपनी इच्छानुसार अच्छे और बुरे कर्मों को करके उनका फल भोगा करता है।

---

(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (ऋ० १।१६४।२०)

जगत् में तरह तरह के मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्ष आदि दिखलाई देते हैं और फिर मनुष्यों में देखें तो उनमें भी अनेक प्रकार के प्राणी हैं। कोई अमीर, कोई गरीब, कोई आंख वाला, कोई अंधा, कोई लंगड़ा, कोई लूला इत्यादि। इस प्रकार जगत् के इस वैचित्र्य का कारण भी, मनुष्यों के कर्म ही हुआ करते हैं। अपने कर्म ही से मनुष्य सुखी दुखी हुआ करता, पशुपक्षी बना करता, और तरह तरह के भोगों को भोगा करता है[1]।

जगत् का वैचित्र्य

मनुष्य, जिसे कर्म का कर्ता कहा जाता है, वह क्या है? कर्म की पहेली समझने के लिये, यह जान लेना आवश्यक है।

मनुष्य क्या है ?

मनुष्य, जीव और शरीर के समुदाय का नाम है। जीवात्मा जब किसी भी शरीर में जाया करता हैं तब उसी समुदाय का नाम मनुष्य, पशु और पक्षी आदि हो जाया करता है। इस समय, हमें, मुख्य रीति से मनुष्य का जिक्र करना है। इसलिये उसी का विवरण दिया जाता है।

मनुष्य-शरीर के भेद

मनुष्य के आमतौर से तीन शरीर हुआ करते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) स्थूल शरीर— यह शरीर १० इन्द्रियों के गोलकों का समुदाय है और इसमें शरीर के वे भीतरी अवयव भी शामिल होते हैं जिन्हें हृदय, फेफड़ा, मस्तिष्क और पाचन-क्रिया के अवयव कहते हैं और जिनका काम अनिच्छित रीति से, प्राकृतिक नियमों के अनुसार, हुआ करता है। इस शरीर के विकसित और पुष्ट होने से, शारीरिक उन्नति हुआ

(१) कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ (सांख्यदर्शन ६ । ४१)

करती है। यह शरीर ५ स्थूलभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—का कार्य्य हुआ करता है।

(२) सूक्ष्मशरीर— यह शरीर सूक्ष्मभूतों से निम्न भांति बना करता है:—

सूक्ष्मभूतरूपी कारण	सूक्ष्मशरीररूपी कार्य्य
(१) महत्तत्व ··· ···	(१) बुद्धि
(२) अहंकार ···	(२) अहंकार[1]
(३-७) पंचतन्मात्रा ···	(३) शब्द (४) स्पर्श (५) रूप (६) रस (७) गन्ध
(८-१७) दशेन्द्रिय (गोलकों से भिन्न)	(८-१७) ५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रिय।

(३) कारण शरीर— कारणरूप प्रकृति, सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था रूप में, सर्वत्र आकाशवत् जगत् में और जगत् से बाहर फैली हुई है, उसी के उस भाग को, जो स्थूलशरीर के अन्दर होता है, घटाकाश, मठाकाशवत्, कारणशरीर कहा जाता है। जब मनुष्य इस शरीर से काम लेता है तब उसकी प्रवृत्ति अहंकार से ऊँची होती है क्योंकि यह शरीर प्रकार की दृष्टि से सर्वदेशी सा होता है और तभी मनुष्य में ईश्वरभक्ति उत्पन्न हुआ करती है।

तीन शरीर और ५ कोष इन तीन शरीरों का विभाग एक दूसरे प्रकार से भी किया गया है। इस विभाग

---

(१) अहंकार को सूक्ष्म शरीरावयवों की गणना से पृथक् करके सूक्ष्म शरीर केवल १७ वस्तुओं ही का समुदाय माना जाता है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अहंकार का काम शरीर के पृथक् निर्मित हो जाने और मेरे तेरे की भावना उत्पन्न हो जाने से पूरासा हो जाता है।

का नाम "कोषविभाग" है। इन तीन शरीरों और ५ कोषों का संबंध इस प्रकार है:—

शरीर	कोष
(१) स्थूल शरीर ...	(१) अन्नमय कोष
(२) सूक्ष्म शरीर ...	(२) प्राणमय कोष
	(३) मनोमय कोष
	(४) विज्ञानमय कोष
(३) कारण शरीर ...	(५) आनन्दमय कोष

यहां एक बात याद रखनी चाहिये कि मनुष्य जब कर्म करता है तो दोनों प्रकार के इन्द्रिय, मन आदि अन्तःकरण और चक्षु आदि बाह्यकरण अथवा यों कहिये कि दोनों प्रकार के सूक्ष्म और स्थूलशरीर मिल कर ही काम कर सकते हैं। मन, इन्द्रियों को कर्मविशेष करने के लिये प्रेरित करता है और इन्द्रियां, उसी के अनुसार कर्म कर देती हैं। कोई यह चाहे कि विना सूक्ष्म शरीर के स्थूलशरीर से ही काम कर लेवें तो विना मन और बुद्धि के उसमें लगे वह कार्य्य उद्देश्यरहित, बालकों जैसा होगा और यदि वह चाहे कि विना स्थूलशरीर के सूक्ष्मशरीरमात्र से काम कर के सूक्ष्मशरीर वालों की दुनियां अलग बसा लेवें तो यह असंभव है। मन विना स्थूल इन्द्रियों के कोई सांसारिक काम नहीं कर सकता। इसीलिये सांख्यदर्शन में कहा गया है कि "स्वतंत्र (बुद्धितत्व भी भोगों को) नहीं भोग सकता उस (देह) के विना जैसे छाया और चित्र[1]।" अर्थात् जैसे छाया या चित्र विना स्थूल शरीर के नहीं खिंच सकता या होता, इसी प्रकार बुद्धि भी विना स्थूलशरीर के काम नहीं कर सकती।

(१) नस्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ (सांख्य ३ । १२) ॥

आत्मा, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, सच्चित् स्वरूप है, और उसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। इन्हीं गुणों को जगत् में सार्थक करने के लिये उसको शरीर मिला करता है। शरीर दो प्रकार की इन्द्रियों का समुदाय है जैसा कहा जा चुका है और वे इन्द्रियां. ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों मे विभक्त हैं। अर्थात् १० इन्द्रियों में से, ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रिय आत्मा के ज्ञान गुण और कर्मेन्द्रिय आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिये हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञानोपलब्धि के सिवा कर्म करना भी है।

आत्मा

जिस समय आत्मा को कर्त्ता कहा जाता है तो इस पर एक आपत्ति उपस्थित की जाती है। आत्मा का अनेकत्व, उसका ईश्वर से भिन्नत्व स्वीकार करते हुए भी, न्यायादि द्वैतवादसमर्थक दर्शनों के कुछेक टीकाकार, गुरुपरम्परा के आधार से कहते हैं कि जीव एकदेशी नहीं अपितु विभु है अर्थात् प्रत्येक जीव पृथक् होते हुए भी विभु है और एक दूसरे को आच्छादित (Overlap) किये हुए है। इस कल्पना से जीव का जीवत्व नष्ट होता है क्योंकि विभु होने से उसे (जीव को) गतिशून्य ही (ईश्वरवत्) मानना पड़ेगा और गतिशून्य होने से फिर कर्म किस प्रकार कर सकता है ?

आत्मा के सम्बन्ध में एक कल्पना

इसलिये जीव के सम्बन्ध में, इस प्रकार उसके विभुत्व की कल्पना, कल्पनामात्र है। किसी भी व्यक्ति को अधिकार है कि इस प्रकार की कल्पना करे परन्तु यह कदापि अधिकार नहीं कि वह इस कल्पना का उद्गम न्यायादि

यह कल्पना क्लिष्ट-कल्पना है

दर्शनों को ठहरावे। न्यायदर्शन में जीव को स्पष्ट शब्दों में कर्मकर्त्ता कहा गया है। उदाहरण के लिये देखो—एक जगह कहा गया है कि "पूर्व (शरीर में) किये (कर्मों के) फलों के अनुबन्ध (लगाव) से इस (वर्तमान शरीर) की उत्पत्ति होती है[1]।" फिर एक दूसरी जगह कहा गया है:—

"जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है वैसे ही (आत्मा और शरीर के) संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है[2]।"

फिर एक जगह लिखा है:—"कर्मक्षय की उपपत्ति होने से उसका (आत्मा का शरीर से) वियोग सिद्ध है[3]।"

इन और इस प्रकार के अनेक वाक्यों से, जो इस तथा अन्य दर्शनों में जगह जगह आये हैं, आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध है। इसलिये आत्मा परिच्छिन्न (एकदेशी) ही है उसके विभु (सर्वदेशी) होने की कल्पना कल्पनामात्र है।

क्या आत्मा विभु न होने पर भी अकर्त्ता ही है?

कुछेक सज्जन जीवात्मा को विभु तो नहीं मानते परन्तु उसके अकर्तृत्व के पक्ष का समर्थन करते हैं। वे अपने पक्ष के समर्थन मे सांख्यदर्शन के इस वाक्य को उपस्थित किया करते हैं:—

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ (सांख्य ६ । ५४)

---

(१) पूर्वकृतफलानुबंधात्तदुत्पत्तिः ॥ (न्यायदर्शन ३ । २ । ६४)

(२) शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ (न्यायदर्शन ३ । २ । ७०)

(३) उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ (न्यायदर्शन ३ । २ । ७२)

अर्थात् प्रकृति के विकार अहंकार में यहां कर्तृत्व का आरोप किया गया है और पुरुष (जीव) को अकर्त्ता बतलाया गया है। अपने पक्ष के समर्थन मे, सांख्य के उपर्युक्त सूत्र के सिवा, ये सज्जन, गीता का भी एक श्लोक प्रमाणरूप में उपस्थित किया करते हैं:—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥
(गीता ३ । २७)

श्लोक का भाव यह है कि समस्त कर्म तो प्रकृति के गुण (सत्, रज, तम) करते हैं परन्तु अहंकार से मूढ़ हुआ आत्मा अपने को कर्त्ता मानता है।

थोड़ा ही विचार करने से इस पक्ष का खोखलापन प्रकट हो जाता है। संसार में प्रकृति के विकार अथवा गुण दो रूप में हुआ करते हैं:—

(१) पत्थर, पहाड़ और दीवार आदि के रूप में।

(२) जीवित प्राणियों के शरीर के रूप में। विचारणीय यह है कि सांख्य या गीताकार, जब कर्तृत्व का आरोप प्रकृति के विकारों में, करते हैं तो उनका तात्पर्य्य, इन दोनों में से, किन विकारों से हुआ करता है। यदि कहो कि पहले से तो यह बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक ठहरेगी, क्योंकि कोई भी, पत्थर या दीवार आदि को कर्म करते हुए नहीं देखता। यदि कहो कि उनका तात्पर्य दूसरे रूप में रहने वाले प्रकृति के विकारों से है तो प्रश्न यह है कि इन दोनों विकारों में अन्तर क्या है? विचार करने से साफ़ प्रकट हो जायगा कि दूसरे विकारों में, जीवित प्राणियों के भीतर रहने वाले आत्मा का प्रभाव मौजूद रहा करता है और उसी आत्मा की

प्रेरणा से जीवित प्राणियों के शरीरों द्वारा कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये गीता में कहा गया है कि "हे अर्जुन! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये, किये हुए के अन्त वाले सांख्यशास्त्र में, ये पांच कारण बतलाये हैं—

(१) अधिष्ठान=शरीर।

(२) कर्त्ता=जीवात्मा।

(३) करण=भिन्न भिन्न इन्द्रियां।

(४) चेष्टा=अनेक प्रकार की (प्राणियों द्वारा की हुई) चेष्टायें।

(५) दैव=प्रारब्ध।

ऐसी हालत में अच्छी समझ न होने से जो दुर्बुद्धि केवल आत्मा ही को कर्त्ता समझता है वह (कुछ) नहीं समझता[1]।" इन वाक्यों में स्पष्ट कहा गया है कि केवल आत्मा कर्त्ता नहीं होता किन्तु आत्मा और शरीरादि के मेल ही से कर्म किया जाया करता है। एक जगह उपनिषद् में भी यही बात कही गई है अर्थात् आत्मा मन और इन्द्रिय से मिल कर ही कर्त्ता और भोक्ता हुआ करता है[2]। और ऐसा कहना और मानना

---

(१) पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥
(गीता १८। १३, १४, १६)

(२) आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठोपनिषद् ३। ४)

स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य न केवल, आत्मा है और न केवल शरीर किन्तु दोनों का संघात, और कर्म मनुष्य ही किया करता है इसलिये केवल शरीर अथवा केवल आत्मा को कर्त्ता कहना भ्रममात्र है।

वैशेषिक दर्शन में भी एक जगह इसी प्रकार की बात कही गई है अर्थात् आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ के द्वारा क्रिया होती है। इस संयोग और प्रयत्न में आवश्यक रीति से मन आत्मा के साथ शरीक रहा करता है[1]।

एक जगह वेदान्तदर्शन में भी कहा गया है कि "शास्त्र के सार्थक होने से जीव कर्त्ता है[2]!" फिर दूसरी जगह विहार के उपदेश से भी उसे कर्त्ता कहा गया है[3]।

शरीर, आत्मा और कर्तृत्व के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त से कथन के बाद यत्न किया जायगा कि आगे के पृष्ठों में, इन में से प्रत्येक के सम्बन्ध में, युक्ति, प्रमाण और तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जावे।

---

(१) आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥

(वैशेषिक ५ । १ । १)

हस्तकर्मणा मनस. कर्म व्याख्यातम् ॥

(वैशेषिक ५ । २ । १४)

(२) कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ॥ (वेदान्त २ । ३ । ३३) ॥

(३) विहार उपदेशात् ॥ (वेदान्त २ । ३ । ३४) ।

वृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ३ । १२ में मुक्तजीव का यथेष्ट विचरना कहा गया है। इससे जीव का स्वतंत्र कर्त्ता होना पाया जाता है।

दूसरा अध्याय

आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता तथा अन्य कल्पनायें

वेद में एक जगह लिखा है कि "श्वास लेता हुआ, गतिमान, शीघ्रगामी, जीवन (चेतना) युक्त शरीरों के बीच में, स्थिरता से निवास करता है। मृत प्राणी का वह अमर जीव अनित्य प्रकृति भावों (कर्म+वासना) के साथ, अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता है[1]।"

वेद के इस मंत्र मे, स्पष्ट है कि जीव को चेतनामय, स्थिर, अमर और एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाने वाला कहा गया है।

(२) फिर वेद में एक दूसरी जगह कहा गया है, जैसा कि कहा

---

(१) वेद का मंत्र इस प्रकार है:—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

(ऋग्वेद १। १६४। ३०)

(अनत्) श्वास लेता हुआ (एजद्) गतिमान् (तुरगातु) शीघ्रगामी, (जीवम्) जीवन (चेतना) युक्त (पस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में (ध्रुवं) स्थिरता से (आशये) निवास करता है, (मृतस्य) मृतप्राणी का (अमर्त्यो जीवो) वह अमर जीव (मर्त्येनास्वधाभिः) अनित्य प्रकृति भावों (कर्म+वासना) के साथ (सयोनिः चरति) अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता है॥

जाचुका है कि "एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्र, दो पक्षी (ईश्वर+जीव) समानवृक्ष (प्रकृति) पर आश्रय करते हैं। उन दोनों में एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों को खाता है, दूसरा (ईश्वर) न खाता हुआ साक्षीमात्र है[1]।" इस मंत्र में प्रकृति को भोग्य, जीवात्मा को भोक्ता और ईश्वर को साक्षी बतलाया है और तीनों के नित्य होने का भाव प्रकट किया गया है।

(३) जब जीव उपर्युक्त वेदमंत्रानुसार कर्त्ता और भोक्ता है तो "स्वतंत्रः कर्त्ता" के नियमानुसार कर्त्ता को कर्म करने में स्वतंत्र होना आवश्यक है। इसीलिये जीव को नित्य होने के सिवा कर्म करने में स्वतंत्र भी कहा गया है। वेद में इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है:—

"(हे मनुष्य!) तू उत्पादकशक्तिवाला है, आगे बढ़ने वाला है, तू विरोधियों को दूर करने वाला है (इस लिये तू) अपने समान लोगों से आगे बढ़ और कल्याण प्राप्त कर[2]।" श्रोता को करने न करने का अधिकार हुआ करता है इसीलिये उपदेश दिया जाया करता है।

(४) जीवात्मा के संबंध में पूर्वी और पश्चिमी जगत् में जो जो कल्पनायें अबतक होती रही हैं उनका विवरण इस प्रकार है:—

---

(१) द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
(ऋ० १।१६४।२०)

(२) स्त्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ (अथर्ववेद २।११।२)

(१) जीवात्मा नित्य सत्तावान् और कर्म करने में स्वतंत्र परन्तु फल भोगने में परतंत्र है ।

(२) जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता नहीं है । ब्रह्म जब अन्तःकरणस्थ अविद्या में, जो सत्वगुण का अशुद्ध रूप कही जाती है, प्रतिबिम्बित होता है तब इस उपाधि से उसकी जीव संज्ञा हो जाती है । अविद्या के दूर होने पर जीव कुछ भी बाक़ी नहीं रहता ।

(३) जीव संवेदनों, इच्छाओं, कामनाओं, प्रेम और चित्त की वृत्तियों का एक पुलिंदा है और उसकी सत्ता केवल नाम-रूपात्मक है ।

(४) जीवात्मा अतीतात्मक अर्थात् केवल अनुभव-मूलक है ।

(५) जीव, नित्य सत्य का, आभासमात्र है ।

(६) जीव ईश्वर के पैदा किये हुये हैं ।

(७) जीवात्मा शरीरावयवों के मेल का परिणाम है ।

इन कल्पनाओं पर विचार

पहले हम दो से लेकर सातवीं कल्पना तक पर संक्षेप के साथ, विचार करते हैं ।

इस कल्पना के मूलप्रवर्तक श्री० शंकराचार्यजी हैं जिनके मत में केवल एक निर्गुण ब्रह्म ही असली तत्व है और वही समस्त जीव और जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । शंकर स्वामी ने गीता की टीका में इस सिद्धांत को स्वीकार किया है कि अभाव से भाव और भाव से अभाव नहीं हुआ करता । जब इस प्राकृतिक जगत् और अप्राकृतिक जीव का उपादान कारण (Material cause) ब्रह्म को बतलाया जाता है तो ब्रह्म को भी प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों प्रकार का होना चाहिये अन्यथा अभाव से भाव हो जावेगा और सिद्धांतहानि होगी ।

दूसरी कल्पना

यदि ब्रह्म को प्राकृतिक मानें तो उसका निर्गुणत्व ही नही अपितु ब्रह्मत्व भी रुखसत हो जावेगा। इसलिये जीव और ब्रह्म के एकत्व की कल्पना को क्लिष्ट कल्पना ही कह सकते हैं।

दूसरी कल्पना, यदि चेतनाद्वैतवादियों की थी, तो यह तीसरी कल्पना कि जीव संवेदन आदि का पुलिंदामात्र है, जड़ाद्वैतवादियों की है जिनकी दृष्टि में प्रकृति ही एक तत्व है जीव ईश्वर कुछ नहीं। संवेदन, इच्छा और प्रेम मनुष्य के भीतर, मनुष्य बन जाने पर, उत्पन्न हुआ करते हैं। यदि जीव इन्हीं संवेदन आदि का समुदायमात्र है तो इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य पहले बन गया और चेतनामय जीव पीछे पैदा हुआ। यदि बिना चेतनामय जीव के मनुष्य, मनुष्य बन कर, मनुष्यत्व के व्यवहार कर सकता है तो फिर चेतनामय जीव के उत्पन्न होने की ज़रूरत ही क्या रह जाती है ? यह भी संभव नहीं है कि जड़ प्रकृति में किसी भी प्रकार से चेतना पैदा की जासके।

तीसरी कल्पना

जीव को अतीतात्मक अर्थात् केवल अनुभवमूलक कहना भी ठीक नहीं हो सकता। अनुभव अथवा बीतेकाल के कार्य्यों ने यदि आत्मा को जन्म दिया तो पिछले कर्म का करने और अनुभव का प्राप्त करने वाला कौन था ?

चौथी कल्पना

जीव नित्य सत्ता का आभासमात्र है। हीगल ने, जहां बाइबिल में वर्णित जुहोवा को, १६ वीं शताब्दी में, मरा हुआ ठहराया वहां उसने अपने दार्शनिक विचारों के प्रकार की दृष्टि से एक नित्य सत्ता की कल्पना की और उसी का आभास जीव को ठहराया। उपनिषद् ने भी एक जगह ब्रह्म को आतप (प्रकाश) और

पांचवीं कल्पना

जीव को छाया ठहराया है[1]। प्राचीन मिश्र में भी जीव के छाया होने की वात प्रचलित थी। परन्तु उपनिषद् या मिश्र में, जीव को छाया कहने पर भी उसकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाती रही थी, लेकिन हीगल उसे स्वतंत्र सत्तावान् होने से वंचित करता है। यही हीगल के मत की त्रुटि है। केवल छाया होने से जीव, जीव का कार्य्य नहीं कर सकता।

छठी कल्पना

जीव, ईश्वर के पैदा किये हुये हैं। यह कल्पना प्रायः सैमीटिक मतो के मानने वाले, ईसाई यहूदी आदिकों में प्रचलित है। राशडाल भी इसी कल्पना का पोषक है। इस कल्पना के करने वाले जहां जीव को उत्पन्न मानते हैं वहां दूसरी ओर उसके अनन्त होने का ढोल पीटते हैं। कोई सादि वस्तु सान्त न होकर अनन्त हो इस कल्पना की, सैमीटिक लौजिक के सिवा, और कहीं गुंजाइश नहीं हो सकती, उत्पन्न के लिये मृत्यु अनिवार्य्य है।

सातवीं कल्पना

जीवात्मा शरीरावयवों के मेल का परिणाम-मात्र है। हकल और हक्सले इस कल्पना के, १९ वीं शताब्दी में, सब से बड़े पोषक थे। इनमें से हक्सले ने, अपने प्रसिद्ध व्याख्यान, "जीवन के प्राकृतिक आधार" विषय पर देने के बाद अपनी सम्मति बदल ली थी। उसने जो पुस्तक पशुओं के वर्गीकरण के संबंध में लिखी थी उसकी भूमिका में लिखा था कि "जीव शरीर के मेल का परिणाम नहीं अपितु उसके रचना का कारण है"[2]। परन्तु

(१) कठोपनिषद् ३। १ (छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति)

(२) हक्सले के अंग्रेज़ी के शब्द ये हैंः—""Life is the cause and not the consequence of organisation."

हेकल ने अपना मत नहीं बदला, उसेन इस कल्पितवाद की स्थापना के लिये १७ और कल्पनायें की परन्तु जब उसने इस बात की जांच करनी चाही कि चेतना शरीर मे किस प्रकार पैदा हुई तो उसे स्वीकार करना पड़ा कि:-

(१) अपने से भिन्न प्राणियों की चेतना का परीक्षात्मक बोध नहीं हो सकता[1]।

(२) अपनी चेतना के परीक्षा के संबंध में कठिनता यह है कि चेतना का परिज्ञान हमें चेतना के द्वारा ही हो सकता है। यही उसकी वैज्ञानिक परीक्षा मे भारी अड़चन है[2]।

इसके बाद यह कहने का, कि चेतनामय जीवन शरीर के संगठन का परिणाम है, कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। इसके सिवा १९ वीं शताब्दी की जड़वाद की चढ़ी हुई कमान, २० वी शताब्दी में उतर चुकी है और अब उसका स्थान आत्मवाद ने ले लिया है। २० वी शताब्दी का विज्ञान जड़वाद को जड़वाद के स्थान में भी नहीं देखना चाहता है, वह इस जड़ता को भी आदिमूल चेतना में खोजने की धुन में लगा हुआ है। अस्तु यह कल्पना भी कल्पनामात्र है और इसका एक अप्रतिष्ठित कल्पना से अधिक

---

(१) अंग्रेज़ी के शब्द ये हैं:--"Thus we can never have a complete objective certainty of the consciousness of others"

(२) देखो आत्मदर्शन का उपोद्घात पृष्ठ ५१-७८, हैकल के शब्द ये हैं:--"The only source of our knowledge of consciousness, is that faculty itself; that is the chief cause of the extraordinary difficulty of subjecting it to scientific research:" (Riddle of the Universe by Ernest Haeckal p. 14 and 15)

मूल्य कुछ नहीं है। पहली कल्पना के संबंध में एक दो शब्द कहने से पूर्व इस बात पर हम थोड़ा और विचार कर लेना चाहते हैं कि बुद्धधर्म के विचार आत्मसंबंधी क्या हैं और कहांतक उनकी संगति पहली कल्पना के साथ लगाई जा सकती है।

बुद्ध धर्म और जीवात्मा

बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द ने बुद्ध से पूछा कि जगत् के लिये जो यह कहा जाता है कि वह खाली है, इसका क्या मतलब है? बुद्ध ने उत्तर दिया कि आनन्द जगत्, आत्मा (Self) या इसी प्रकार की किसी अन्य वस्तु से खाली है। आनन्द ने फिर पूछा कि फिर आखिर यह है क्या? बुद्ध ने उत्तर दिया कि यह ५ इन्द्रियों की गोलक और मन तथा मन से संबंधित संकल्पों का समुदाय है इसमें आत्मा या अन्य इसी प्रकार की किसी वस्तु का समावेश नहीं है[1]।

फिर एक जगह "वहन वजीरा" ने चेतन आत्मा के लिये कहा है कि वह चेतना संबंधी कल्पनाओं का एक बंडल है[2]।

बुद्धमतानुयायी कहते हैं कि आत्मा नहीं है परन्तु वह सदैव प्राकृतिक न्यायानुकूल भावी जन्मों में होता और विकसित होता रहता है। बुद्ध मत का इस प्रकार आत्मा की सत्ता से इन्कार करना और साथ ही आवागवन (पुनर्जन्म) का मानना, ये दोनों बातें साथ साथ चलने वाली नहीं हैं। यह एक प्रकार की भ्रान्ति ही है चाहे तो बुद्धधर्म में हो चाहे उसमें आरोप की जाती हो[3]।

---

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids, p. 52,

(२) Do, p 55—चेतनासंबंधी कल्पनाओं के बंडल के लिये अंग्रेज़ी के शब्द—Bundle of formation हैं।

(३) Do, p. 137.

यह कहा जाता है कि बुद्ध ने एक व्याख्यान "अनता" (अनात्मा) विषय पर दिया कि आत्मा अस्थिर है और इस अस्थिर आत्मा का संबंध भूतकालिक या भावी अस्थिर आत्माओं से, प्रेषित शक्ति (Transmitted Energy) अथवा विकास द्वारा, हुआ करता है। इस पर कुछ भिक्षुओं के हृदय में शंका उत्पन्न हुई कि जब शरीर में कोई स्थिर आत्मा नही है तब कोई अस्थिर आत्मा क्यों किसी ऐसे कर्मों के फलों का उपभोग करे जिसे किसी अन्य आत्मा ने किया हो? बुद्ध को इस शंका का ज्ञान होगया और उन्होंने भिक्षुओं से कुछ प्रश्न किये। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं:—

बुद्ध—यह शरीर या शरीरान्तर्गत जीव (Mind) स्थिर है या अस्थिर?

भिक्षु—अस्थिर।

बुद्ध—यदि यह आत्मा अस्थिर है तो क्या सुख दुःख भोग सकती है या नहीं?

भिक्षु—भोग सकती है।

बुद्ध—परन्तु क्या, आत्मा को अस्थिर कहते हुये, यह उचित होगा कि उसे सुख दुःख भोगने वाला माना जावे और साथ ही कहा जावे कि वह परिवर्तित भी होता है? और यह भी कि यह मेरा है और मैं यह हूं। यह मेरा आत्मा है?

भिक्षु—नहीं[1]।

स्पष्ट है कि इन प्रश्नोत्तरों से भिक्षुओं के हृदयों में उठी हुई शंका का समाधान नही हुआ और न हो सकता था। अपितु अन्तिम प्रश्नोत्तर से प्रकट है कि भिक्षु ने आत्मा के

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p 138 and 139.

अस्थिर होने पर उसे सुख दुःख भोगने वाला स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार की एक और उलझन एक दूसरे प्रश्नोत्तर से उत्पन्न होती है। यह प्रश्नोत्तर राजा मिलिन्द और बुद्धभिक्षु नागसेन के मध्य में हुए थे:—

मिलिन्द—क्या पुनर्जन्म संभव है जब कि एक आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाता ?

नागसेन—हां, संभव है।

मिलिन्द—किस प्रकार संभव है ? कोई उदाहरण देवें।

नागसेन—कल्पना करो कि एक व्यक्ति ने एक दीपक को दूसरे से जलाया तो क्या कहा जा सकता है कि पहला दीपक दूसरे में चला गया ?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—क्या आप इसे स्वीकार न करेंगे कि आपने बचपन में कुछ पद्य अपने गुरू से सीखे थे ?

मिलिन्द—मैं स्वीकार करता हूं।

नागसेन—तो क्या वे पद्य आपके गुरू के शरीर से निकल कर आप में आये थे ?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—इसी प्रकार विना आत्मा के एक शरीर से निकल कर दूसरे में जाने के, पुनर्जन्म संभव है[1]।

दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि पहले में एक दीपक का प्रकाश दूसरे में गया और दूसरे में अध्यापक का पद्य-ज्ञान उसके भीतर से निकल कर मिलिन्द के भीतर गया। विना किसी वस्तु के एक जगह से निकल कर दूसरी जगह जाने के न दूसरा दीपक प्रकाशित हो सकता था और नहीं मिलिन्द

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p 141 and 142.

को पद्यज्ञान प्राप्त हो सकता था। नागसेन का तर्क, तर्क नहीं अपितु तर्काभास (हेत्वाभास) ही कहा जा सकता है। आवागमन के सिद्धान्त पर बुद्धमतानुसार पूरा प्रकाश पड़ जावे इसलिये हम प्रश्नोत्तरों का शेषांश भी यहां उद्धृत करते हैं:—

मिलिन्द—तो वह चीज़ क्या थी जिसका पुनर्जन्म हुआ?

नागसेन—मन (Mind) और शरीर पुनरुत्पन्न होते हैं।

मिलिन्द—क्या कहीं पहले मन और शरीर ही पुनरुत्पन्न होते हैं?

नागसेन—नहीं, ऐसा नहीं है, बल्कि बात यह है कि पहले मन और शरीर से किये हुये कर्म होते हैं। वे कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। और इन्हीं कर्मों से दूसरे मन और शरीर उत्पन्न होते हैं।

मिलिन्द—यदि पहले मन और शरीर उत्पन्न नहीं होते तो क्या पहला व्यक्ति बुरे कर्मों के फल से बच नहीं जाता?

थेरा (नागसेन)—यदि वह व्यक्ति फिर पैदा न होता तो अवश्य बुरे कर्मों के फल से बच जाता परन्तु पुनरुत्पन्न होने से नहीं बच सकता।

मिलिन्द—कोई उदाहरण दें।

नागसेन—कल्पना करो कि एक आदमी किसी दूसरे आदमी के आम चुरा लेगया और मालिक ने न्यायाधीश के सन्मुख चोर को अपराधी ठहराया, अब अगर चोर कहे कि "मैंने इस आदमी के आम नहीं चुराये हैं। मैंने जो आम लिये हैं वे इस व्यक्ति के लगाये हुये नहीं थे"। तो क्या चोर की बात ठीक मानी जायेगी और वह अपराधी न समझा जावेगा?

मिलिन्द—चोर अवश्य अपराधी समझा जावेगा।

नागसेन—क्यों?

मिलिन्द्—चोर कुछ कहे परन्तु यह बात वह स्वीकार करता है कि कारणरूप पहले आमों से उत्पन्न, कार्य्यरूप पिछले आमों को उसने चुराया है।

नागसेन—ठीक है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिसने अच्छे या बुरे काम वर्तमान मन और शरीर से किये हैं और उन्हीं के बदले में उसे दुबारा जन्म लेना पड़ता है तो वह इस जन्म में, बुरे कामों[१] के फल भोगने से, जो उसने पहले जन्म में किये थे, बच नहीं सकता। इसके सिवा एक और उदाहरण नागसेन ने राजा (मिलिंद) के सन्देह निवारणार्थ दिया है। विषय के स्पष्ट हो जाने के उद्देश्य से उसका भी उल्लेख यहां किया जाता है:—

नागसेन—कल्पना करो कि एक व्यक्ति ने एक ग्वाला से दूध भरा हुआ एक बर्तन क्रय किया और उस बर्तन को दूध समेत ग्वाले के पास छोड़ कर यह कह कर चला गया कि इसे मैं कल लेजाऊंगा। अब जब कल वह व्यक्ति अपना दूध लेने आया तो देखा कि वह दूध खट्टा होकर और फटकर दही के समान हो चुका था। उस व्यक्ति ने ग्वाले से कहा कि मेरा दूध दो। मैंने तुमसे दूध ख़रीद किया था दही नहीं। इस प्रकार झगड़ा करते हुये यदि वे आपके पास आवें तो आप उनका क्या निर्णय करेंगे?

मिलिन्द—मैं ग्वाले के हक़ में निर्णय करूंगा।

नागसेन—क्यों?

मिलिन्द—चाहे दूध का ख़रीदार कुछ कहे परन्तु वह दही उसी दूध का परिवर्तित रूप है।

---

(१) Sacred Books of the East Series XXXV; and passages in Warren's Buddhism in translations.

नागसेन—इसी प्रकार एक मन और शरीर मृत्यु आने पर समाप्त हो जाता है और दूसरा मन और शरीर, पुनर्जन्म से, पैदा होता है, परन्तु यह दूसरा मन और शरीर पहले मन और शरीर से उत्पन्न हुये थे इसलिये इनका छुटकारा पहले मन और शरीर के किये हुये बुरे कर्मों से नहीं हो सकता[1]।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि नागसेन ने यह समझने में भूल की है कि वर्तमान मन और शरीर पहले मन और शरीर के कार्य्य हैं। पहला मन और शरीर मृत्यु होने पर जल चुका था। दूसरा मन और शरीर दूसरे माता पिता के रजोवीर्य्य अर्थात् नये उपादान कारण से बना है। फिर इस नये शरीर को पुराने शरीर से निकला या उत्पन्न हुआ किस प्रकार कहा जा सकता है। नित्य आत्मा माने बिना पुनर्जन्म की गुत्थी का सुलझा लेना संभव नहीं है।

बुद्धधर्मानुयायी अपने को जड़वादी (Materialist) या शून्यवादी (Nihilist) कहे जाने के सर्वथा विरुद्ध हैं। वह अपने लिये यह कहने वाला भी नहीं मानते कि शरीर का प्रारम्भ और अन्त केवल प्राकृतिक द्रव्यों से हुआ है[2]। परन्तु इसके साथ ही वह नित्यात्मा की सत्ता भी स्वीकार नहीं करते। इस स्थिति में उन्हें आत्मवादी कहा जाय या जड़वादी, यह कहना अत्यन्त कठिन है।

एक जगह कहा गया है कि एक मनुष्य मर गया। उसका जीवन चला गया। उसका जीवन क्या था ? इस पर प्रकाश डालने के लिये कहा गया है कि वह एक शक्ति थी जिसमें व्यक्तिगत प्रवृत्तियों या कार्य्यप्रणालियों का असीम विस्तार

(१) Buddhism dy Mrs. Rhys Davids p. 143
(२) Do. p. 145.

सम्मिलित होता है और जो सदैव से सुरक्षित होती है और किसी भी क्षण में उसकी वास्तविकता एक सुसंघटित व्यक्ति के रूप में देखी जा सकती है। अन्तिम मानासिक या चेतनापूर्ण कार्य्य, ठीक उस समय का, जब शरीर जीवित प्राणी के शरीर के सदृश, कार्य्य करना छोड़ देता है, सकर्मक कारणत्व के रूप में अपने पूर्वजों के सदृश, होता है और वह अपनी हेतुक शक्ति, नवीन स्थापित गर्भ मे, गर्भाणु के रूप में भेजता है वह गर्भ चाहे मनुष्य का हो या मनुष्येतर प्राणियों का। परन्तु गर्भ से, उपर्युक्त कार्य्यप्रणाली का, क्या प्रभाव प्रकट होता है और गर्भ किस रूप में और कहांतक इस कार्य्यप्रणाली से प्रभावित होता है इस संबंध में, श्रीमती राइस डैविड्स के कथनानुसार, बौद्धसाहित्य में चाहे वह पुराना हो या नवीन, कोई उत्तर नही मिलता'। उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्धमतानुसार कोई वस्तु मृत्यु होते समय, मरने वाले के शरीर से निकल कर, नवीन स्थापित गर्भ मे, गर्भाणु के रूप मे, जाती है परन्तु वह क्या वस्तु है और उसका क्या प्रभाव गर्भ पर होता है स्थिर आत्मा का विश्वास न रखने से, इसका कोई उत्तर बुद्धधर्म नहीं दे सकता।

स्थिर आत्मा के मानने की झलक फिर भी बुद्ध-साहित्य में, कहीं न कहीं, आ ही जाती है। इसका एक उदाहरण दिया जाता है:—बौद्धों का विश्वास है कि यदि कोई बौद्ध, प्राचीन थेरा और थेरी (Theras and Theris) के सदृश शुद्ध हो और वैसी ही शुद्ध बुद्धि रखता हो तो वह अपने अनेक पुराने जन्मों की बातें याद रख सकता है जैसे अनेक बच्चे अपने पहले जन्म से

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 146 and 147.

संबंधित व्यक्तियों और स्थानों का हाल बता दिया करते हैं[1]।

स्पष्ट है कि स्थिर आत्मा के बिना किस प्रकार कोई जन्म-जन्मान्तर का हाल बता सकता है। बौद्ध-साहित्य प्राय: गौतम बुद्ध के निर्वाण के अनेक शताब्दी बीतने पर तय्यार होना शुरू हुआ था। इसी का कारण है कि उसमें, अनेक सुनी सुनाई बातों का समावेश हो जाने से, वह एक सिद्धान्त और नीति का बाक़ी नहीं रहा और इसीलिये उसमें अनेक स्थानों पर परस्पर विरोधी बातों का समावेश हो गया जैसे एक जगह बुद्धघोष ने लिखा है कि "यह महान् संसार चक्र बराबर चल रहा है परन्तु इसका कोई रचयिता नहीं है। इसका प्रारम्भ भी अज्ञात है यह केवल कारण और कार्य्य के प्रभाव से चल रहा है[2]।" परन्तु इस समय जो धार्मिक और आचारसम्बन्धी सुधार का कार्य बौद्धमतानुयायियों द्वारा हो रहा है उसमें बराबर घोषणा की जा रही है कि बुद्धमत नास्तिकवाद नहीं है[3]।

फिर एक जगह लिखा है कि बुद्धमतानुयायी व्यक्ति को नित्य मानते हैं और उसे समझते हैं कि वह अनादि और अनन्त है और बराबर उसके जन्म होते रहेंगे उस समय तक जब तक कि पुनर्जन्म होने के हेतु तिरोहित (Suspend)

---

(१) I Gleanings in Buddha Fields by L. Hearn. p. 267.

II Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 147 and 148.

(२) Way of purity by Buddha Ghosh Ch: XVII.

(३) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p 152.

न हो जावेंगे[1]। बुद्धमतानुयायी जीवन को, आवश्यक और अनिवार्य रीति से, उत्कर्ष और अपकर्ष, उन्नत और अवनत और चढ़ाव और उतार की, एक कार्यप्रणाली मानते हैं परन्तु उसी जीवन के लिये फिर यह कहना कि वह आनन्दमय और नित्य है, अपनी बात का स्वयं खंडन करना है[2]।

बुद्ध-धर्म के समालोचक और प्रशंसक दोनों इस बात से सहमत हैं कि बुद्ध धर्म का आत्मा-सम्बन्धी विचार निम्न दो सूरतों में से एक अवश्य होना चाहिये:—

(१) आत्मा की सत्ता का पूर्णतया इन्कार नहीं करना चाहिये या—

(२) जीवन, जैसा कि बौद्ध उसे समझते हैं, मरने पर समाप्त नहीं हो जाना चाहिये।

श्रीमती राइस डैविड्स ने यह ठीक ही लिखा है कि उनकी दृष्टि में अब तक ऐसा विचार उपस्थित नहीं किया जा सका है जिसमें यह तो कहा जाय कि जीव की सत्ता तो है परन्तु वह जीवन नहीं है[3]। बुद्ध के लिये, पिटकों में, कहा गया है कि उसने शिक्षा दी है कि एक बौद्ध सन्त मरने पर, बुझने वाली अग्नि की ज्वाला की तरह, समाप्त हो जाता है जिस (ज्वाला) के लिये कोई नहीं कह सकता कि वह कहां गई, यहां गई या वहां[4] ?

---

(१) Buddhism by Mrs Rhys David p. 182.

(२) Do. p. 187.

(३) Do. p. 188—देवीजी के शब्द ये हैं:—"I have come across no such conception as "being but not life."

(४) Do. p. 190.

गौतम बुद्ध के इस वाक्य का इतना ही अर्थ हो सकता है कि जिस प्रकार बुझने वाली अग्नि को कोई नहीं कह सकता कि कहां गई इसी प्रकार उस मरने वाले सन्त के जीव के लिये भी कोई नहीं कह सकता कि कहां गया ? फिर उसको यह कहना कि वह कुछ रहा ही नहीं ठीक प्रतीत नहीं होता।

फिर एक जगह बुद्ध ने कहा है कि "बुद्ध संत" जो निर्वाण पद प्राप्त करने वाला है उस (निर्वाण) में जीवन बाक़ी नहीं रहता[1]। यह बात केवल बुद्ध और 'अर्हन्त' के मत से संबंधित है। श्रीमती राइस डैविड्स ने लिखा है कि यहां इस वाक्य मे निर्वाण के अर्थ पूर्णतया जाने के (Completely gone out) हैं। और बुद्ध धर्म में इस जाने का अभिप्राय, पवित्रता के बाद, शान्त और स्वस्थ होना है। जिसका तात्पर्य्य यह है कि उस अर्थ में इनका मरना, मरना नहीं है जिसमें साधारणतया यह प्रयुक्त हुआ करता है। इसीलिये आगे एक दूसरी जगह लिखा है कि पूर्णता प्राप्त मनुष्य की, जिसने जीवन ही में निर्वाण प्राप्त कर लिया है, अन्तिम मृत्यु ऐसी मृत्यु नहीं है कि वह जीवन के समस्त चक्र को समाप्त कर देती हो[2]।

"निर्वाण" के संबंध में बौद्धभिक्षुओं के दो मत हैं:—(१) निर्वाण जीवन के पूर्णतया समाप्त हो जाने को कहते हैं (२) निर्वाण महोज्ज्वल जीवन है जिसमें नित्य सुख प्राप्त हुआ करता है[3]।

---

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 191—अंगरेज़ी के शब्द ये हैं:—"Perfected with a going out (निर्वाण) wherein is no residuum of life."

(२) Do. p. 191–193.

(३) Do. p. 195.

निर्वाण बुद्धधर्म का एक रहस्य है जिसे ठीक रीति से कोई नहीं जानता कि क्या वस्तु है। अस्तु, यह बात उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होती है कि बुद्धमतानुयायी खुले तौर से जीव की नित्य और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते परन्तु उनके साहित्य में, अनेक ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे उसके स्वीकार करने की झलक निकलती है। इस मामले में जैन-साहित्य स्पष्ट है, वह खुले तौर से जीव की नित्य और स्वतंत्र सत्ता मानता है।

पहली कल्पना की पुष्टि

दूसरी से सातवीं कल्पनाओं पर विचार करने और उनकी निस्सारता प्रकट करने के बाद यह स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ता है कि आत्मा की नित्य और स्वतंत्र सत्ता है जैसा कि पहली कल्पना में प्रकट किया गया है[1]। न्यायदर्शन में भी जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। उसमें एक जगह लिखा है कि पुनर्जन्म की सिद्धि से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है[2]।

जेम्स सेठ ने एक जगह लिखा है कि इच्छा-स्वातंत्र्य की स्थापना के लिये आवश्यक है कि आचार नैतिक जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की जावे वही जीव सदाचारमय जीवन का हृदय और केन्द्र है, वही आचार नैतिक स्थिति की कुंजी है। × × × जीव की सत्ता को केवल नाम रूप ठहरा कर उसकी तह में ईश्वर ही को देखना और उसी को एकमात्र

(१) इस संबंध में अधिक जानने के लिये लेखक के लिखे ग्रन्थ आत्मदर्शन को देखना चाहिये जिसमे जीवात्मा की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता युक्ति और प्रमाण से प्रमाणित की गई है।

(२) आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ न्याय० ४ । १ । १० ॥

सत्य ठहराने का आशय आचारमय जीवन को नष्ट कर देना ही है[१]।

प्रो० राइस ने सभी दृष्टियों से ईश्वर और मनुष्य की इच्छाओं के पार्थक्य पर विचार करते और उससे होने वाले परिणामों को लक्ष्य में रखते हुये यह सिद्धान्त स्थिर किया है:—

"मैं स्थिर करता हूं कि ईश्वर और हमारी (जीव की) परिमित इच्छा दोनों, ब्रह्माण्ड में पृथक् पृथक् प्रकट हो रही हैं और यह कि इस घोषणा से किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नहीं होता[२]।" फिर एक जगह राइस महोदय ने, जीव की स्वतंत्र सत्ता के संबंध में, लिखा है कि "तुम ब्रह्म में हो परन्तु इससे तुम्हारी सत्ता वहां नष्ट नहीं होगई[३]।"

जेम्स वार्ड ने, ह्यूम और बेन के उपर्युक्त (आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानने के विरुद्ध) मतों का खंडन करते हुये, स्थिर किया है कि आत्मा अवश्य है। यदि उसे (आत्मा को) केवल विचारों और अनुभवों का बंडल कहें और उससे भिन्न कोई निश्चय और नियंत्रण करने वाला आत्मा न मानें तो मनुष्य का फिर कोई उद्देश्य नहीं स्वीकार किया जासकता। इन सब बातों पर विचार करते हुये, जेम्स वार्ड ने निश्चय किया है कि आत्मा है और इच्छास्वातंत्र्यमय है[४]।

---

(१) A Study of Ethical Principles by James Seth p. 401-403.

(२) The World And The Individual by J. Royee p. 441.

(३) Do p. 465 and 466.

(४) Pluralism And Theism by James Ward p. 290.

तीसरा अध्याय

जीवात्मा और उसके गुण

जीवात्मा की नित्य और स्वतंत्र सत्ता प्रमाणित होने पर उसके गुणों पर विचार करना चाहिये।

न्यायदर्शन में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न को आत्मा का चिह्न (लिंग) कहा गया है[1]। अर्थात् इनमें से प्रत्येक लिंग (चिह्न) आत्मा की सत्ता को प्रकट किया करता है परन्तु ये सब,

जीवात्मा के गुण

आत्मा के गुण नहीं हैं[2]। इनमें से गुण तो केवल दो ज्ञान और प्रयत्न हैं। बाक़ी चार इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख, ये शरीर के निमित्त से, आत्मा में, संयोगसंबंध के तौर पर, समझे जाया करते हैं। शरीर के अभाव से इनका भी अभाव हो जाया करता है परन्तु ज्ञान और प्रयत्न, शरीर चाहे रहे या न रहे, ये समवाय संबंध के तौर पर, ठीक उसी तरह से, आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, जैसे अग्नि का गुण उष्णता। जिस प्रकार

---

(१) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

(न्यायदर्शन १।१।१०)

(२) आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्।

(वैशेषिक ३।१।१८)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ=विषयों के समीप होने से जो सिद्ध होता है वह अन्य है। अर्थात् आत्मा नित्य है उसके गुण ज्ञान और प्रयत्न भी नित्य हैं परन्तु इन्द्रियों और अर्थों के संयोग से जो इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं वे अन्य और अनित्य हैं।

उष्णता अग्नि से अलग नहीं हो सकती इसी प्रकार ज्ञान और प्रयत्न आत्मा से पृथक् नहीं हो सकते। वैशेषिकदर्शन में इन छः की जगह (१) प्राण (२) अपान (३) निमेष (४) उन्मेष (५) जीवन (६) मनोगति (७) इन्द्रियान्तरविकार (८) सुख (९) दुःख (१०) इच्छा (११) द्वेष और (१२) प्रयत्न आत्मा के लिंग कहे गये हैं[1]। इन लिंगों में भी ज्ञान और प्रयत्न के सिवा बाक़ी सब शरीर के निमित्त से हैं और शरीर के अभाव से इनका भी अभाव हो जाया करता है।

शरीर, मनुष्य को, आत्मा के गुणों को सार्थक करने के के लिये, मिला करता है। आत्मा के गुण, ज्ञान और प्रयत्न हैं।

जीवात्मा के गुण और शरीर की रचना

शरीर में भी दो ही प्रकार की इन्द्रियां हैं जिनके समुदाय का नाम शरीर हुआ करता है और वे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं। अतः स्पष्ट है कि शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न होने की पुष्टि करती है।

आत्मा का ज्ञान-गुण—आत्मा को ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त हुआ करता है। बाह्य जगत् का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा और आन्तरिक जगत् का ज्ञान प्रतिबोध (निदिध्यासन) द्वारा। इन दोनों साधनों के द्वारा आत्मा अपने बाहर और भीतर का ज्ञान प्राप्त किया करता है।

आत्मा के गुण किस प्रकार कार्य्य में आया करते हैं।

आत्मा का प्रयत्न गुण—बाह्य प्रयत्न के लिये आवश्यक है कि आत्मा का मन और इन्द्रियों के साथ सहयोग हो।

---

(१) प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। (वैशे० ३ । २ । ४)

तीनों मिल कर ही कर्म किया और उनका फल भोगा करते हैं[1]। वैशेषिकदर्शन में भी एक जगह ऐसा ही कहा गया है। "मन सहित आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ कर्म करता है।" जिस तरह मन और आत्मा के संयोग से हाथ से क्रिया होती है इसी प्रकार आत्मा की प्रेरणा से मन में भी क्रिया होती है[2]। आत्मा भी अकेला वाहर कर्म नहीं कर सकता इसी लिये कहा गया है कि हाथ के संयोग और वेग से शरीर में क्रिया होती है[3]। सांख्य मे भी इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि द्रष्टा और श्रोता आदि (कर्त्ता) तो आत्मा है और इन्द्रिय उसके साधन हैं[4]।

अन्तः प्रयत्न के लिये आवश्यक है कि या तो आत्मा शरीर-रहित हो अथवा शरीर, सुपुप्तावस्था में हो जाने के सदृश, वेकार हो।



---

(१) (क) आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

(कठोपनिषद् ३ । ४)

(ख) आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म। (वैशे० ५ । १ । १)

(२) हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥ (वैशे० ५ । २ १४)

(३) आत्मकर्महस्तसंयोगाच्च (वैशे० ५ । १ । ६)

(४) द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ (सांख्य २ । २९)

चौथा अध्याय

कर्म के लक्षणादि

वैशेषिक दर्शन में कर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है:—"जो एक द्रव्य वाला हो अर्थात् अनेकद्रव्याश्रित न हो, गुणवाला न हो, संयोग और विभाग में निरपेक्ष स्वतंत्र कारण हो[1]।"

कर्म का लक्षण

द्रव्य ९ हैं:—(१) पृथिवी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा और (९) मन[2]।

कर्म के लक्षण में, पहली बात यह बतलाई गई है कि कर्म एकद्रव्याश्रित हो अर्थात् उसका संबंध केवल एक द्रव्य से हो। गुण द्रव्यों के हुआ करते हैं कर्म द्रव्य नहीं अपितु किसी न किसी द्रव्य के आश्रित हुआ करता है इसलिये स्पष्ट है कि कर्म का कोई गुण नहीं हो सकता।

कर्म जब उत्पन्न होता है तब किसी न किसी संयोग या विभाग को उत्पन्न किया करता है। इस संयोग या विभाग के उत्पादन में, यद्यपि कर्म, द्रव्य और पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा रखता है तथापि न तो वह द्रव्य, कर्म की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होता है न पूर्व, क्योंकि द्रव्य नित्य होते हैं,

---

(१) एकद्रव्यमगुणं संयोगवियोगेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥

(वैशेषिक दर्शन १।१।१९)

(२) पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि॥

(वैशेषिक १।१।५)

और संयोग नाशभाववाला होता है इसलिये कर्म, संयोग और विभागों में निरपेक्ष कारण हुआ करता है।

(१) ऊपर उठाना (२) नीचे को दबाना (३) सिकोड़ना (४) फैलाना और (५) चलाना, ये क्रियायें हैं जब इनका या इनमें से किसी का संबंध कर्त्ता के साथ होता है तब इन्हें कर्म कहा करते हैं[1]। इसके सिवा संयोग, वियोग और बलप्रयोग का कारण भी कर्म ही हुआ करता है[2]। जैसे धनुष में तीर लगाना संयोग और उसका खींचना वेग और छोड़ देना वियोग, ये भी कर्म ही हैं।

कर्म किस क्रिया को कहते है ?

जिसका कर्म साध्य हो वह कर्म नहीं कहा जा सकता[3]। तात्पर्य्य यह है कि कर्म से कर्मान्तर नहीं बनता अर्थात् ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका साक्षात् कारण कोई दूसरा कर्म हो। एक उदाहरण से यह बात भलीभांति समझी जा सकती है। एक व्यक्ति ने एक गेंद को ज़मीन पर खींचकर बलपूर्वक फेंका। यह एक कर्म हुआ। इस कर्म के बाद वह गेंद भूमि से उछलती है और गिरती है और फिर उछलती है। गेंद का उछलना फिर गिरना आदि अवश्य अन्य कर्म है परन्तु इनका साक्षात् कारण पहला कर्म नहीं। पहले कर्म ने वेग पैदा किया, इस वेग के कारण गेंद के उछलने आदि की क्रिया हुई। कर्म से जो वेग पैदा हुआ वह कर्म नहीं अपितु उसे कर्मत्व कहते हैं।

कर्म कर्मान्तर का साक्षात कारण नहीं होता

(१) उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ (वैशेषिक १ । १ । ७)

(२) संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ (वैशे० १ । १ । २०)

(३) कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ (वैशे० १ । १ । ११)

वैशेषिकदर्शन में इसीलिये कर्म से कर्मत्व भिन्न कहा गया है[1] वैशेषिककार का कहना है कि कर्मत्व एक वस्तु है जो सभी कर्मों से छुआ करती है इसलिये उसका संबंध किसी कर्म-विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता, साधारण रीति से कर्म में कर्मत्व को शामिल करके इस संघात ही को कर्म कहा और समझा जाता है, परन्तु दार्शनिक दुनियाँ में, जहां वाल की खाल निकाली जाती है, कर्म से कर्मत्व भिन्न ही कहा जाता है। इसीलिये यहां कर्म से वेगरूपी कर्मत्व उत्पन्न होता है और उसी से गेंद के उछलने आदि की क्रिया उत्पन्न होती है और इसीलिये कर्म, कर्म का साक्षात्कारण नहीं माना जाता और न माना जा सकता है।

कर्म कार्य्य का विरोधी है

कर्म कार्य्य (फल) को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है इसलिये कार्य्य कर्म का विरोधी है[2]। कर्म कारणरूप में होता है और उससे उत्पन्न फल कार्य्य-रूप में समझा जाता है और कारण और कार्य दो किनारे की वस्तु मानी ही जाती है इसीलिये कर्म और कार्य्य में विरोध माना जाता है।

द्रव्यों का कारण कर्म नहीं होता

द्रव्य नित्य होते हैं, यह वात कही जाचुकी है इसलिये जब वे नित्य होते हैं तब उनकी उत्पत्ति आदि का प्रश्न ही नहीं उठ सकता इसीलिये द्रव्यों का कारण कर्म नहीं, यह वात वैशेषिक दर्शन में कही गई है[3]।

---

(१) कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ॥ (वैशे० १ । २ । १९)

(२) कार्य्यविरोधी कर्म ॥ (वैशे० १ । १ । १४)

(३) न द्रव्यानां कर्म ॥ (वैशे० १ । १ । २१)

पाँचवाँ अध्याय

पारतन्त्र्यवाद

कर्म के सम्बन्ध में, विचार करने से, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल से लेकर प्रचलित विज्ञान-युग तक में दो स्कूल बराबर समानान्तर रेखा की तरह काम करते रहे हैं:—(१) कर्म-स्वातन्त्र्यवाद (२) पारतन्त्र्यवाद। इनमें से पहले पारतन्त्र्यवाद और उसकी शाखा तथा उपशाखाओं पर विचार किया जायगा।

विज्ञान के युग का प्रारम्भ होने से कुछ पहले, भाग्य-(दैवाधीनता) वाद की तूती बोल रही थी और प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट रहता था कि जो कुछ उसके भाग्य (क़िस्मत) में लिखा है वही होगा उसमें अगर मगर करना बे-फ़ायदा है:—

(१) भाग्यवाद
Fatalism

> ह्वै है वही जो राम रचि राखा।
> को कर तर्क बढ़ावे शाखा॥

अथवा "पेश आना है वही जो कुछ कि पेशानी में है।" इस वाद के अनुयायी समझा करते हैं कि मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही, ईश्वर की ओर से सब कुछ नियत हो जाता है कि क्या क्या उसके जीवन में घटनायें घटित होंगी। फिर उनमें मनुष्य के कर्म या तदबीर (पुरुषार्थ) का कुछ भी दख़ल नहीं हो सकता।

राशडाल ने एक बड़ा उपयोगी उदाहरण भाग्यवाद का दिया है जिससे इस वाद का रूप भलीभांति प्रकट हो जाता है। उदाहरण इस प्रकार है:—

एक उदाहरण

यदि एक तुर्क के घर मे आग लग जावे तो वह हाथ पर हाथ रक्खे बैठा रहेगा और जलते हुए घर को देखा करेगा परन्तु आग के बुझाने का कुछ भी यत्न न करेगा। वह कहेगा कि यदि अल्लाह की इच्छा है कि उसका घर जल जावे तो उसके विरुद्ध कोई तदबीर करना निष्प्रयोजन है, क्योंकि ईश्वरेच्छा के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। और यदि अल्लाह चाहता है कि उसका घर बच जावे तो फिर उसको किसी प्रकार की सहायता की ज़रूरत नहीं, वह स्वयं आग बुझा देगा। भाग्यवादी ठीक इसी प्रकार अकर्मण्यता का आश्रय लेने वाले हुआ करते हैं।

भाग्यवाद की दो शाखायें

भाग्यवाद के अनुयायी एक तो ऐसे ही लोग होते हैं जो मनुष्य का एक ही जन्म माना करते हैं। ऐसे लोगों का दृष्टिकोण ठीक वैसा ही हुआ करता है जैसा ऊपर उदाहरण में वर्णन किया गया है। दूसरे ऐसे लोग होते हैं जो अनेक जन्म (आवागमन) को मानते हैं। ऐसे लोगों में से कुछेक शिक्षित पुरुषों का ऐसा विचार होता है कि पिछले जन्मों के कर्मानुसार ही भाग्य निर्मित हुआ करता है। अन्यों के विचार प्रथम श्रेणी के पुरुषों ही के अनुरूप हुआ करते हैं। अस्तु, भाग्यवाद के रूप बदल जाने से अब प्रचलित युग में उपर्युक्त प्रकार का भाग्यवाद अप्रतिष्ठित हो गया और अब इसके मानने वाले बहुत थोड़े व्यक्ति इधर उधर दिखाई पड़ते हैं।

इपीक्यूरस (Epicurus) दैववाद का विरोधी था उसने इस वाद से बचने के लिये, कर्म के प्रारम्भ होने के सम्बन्ध में, एक अनोखी कल्पना की है। वह कहता है:—"यह अच्छा है कि देवताओं से सम्बन्धित कल्पित कहानियों पर विश्वास किया जावे, परन्तु किस्मत का गुलाम बनना अच्छा नहीं है। उन कहानियों के अनुसार, देवताओं को प्रसन्न करके, उनकी मिन्नत मानकर, अपना काम तो निकाला जा सकता है परन्तु भाग्य की परतन्त्रता को कौन टाल सकता है? इस भाग्य की परतन्त्रता से बचने के लिये, इपीक्यूरस ने, परमाणुओं के भीतर, एक प्रकार से भीतर ही काम करने वाली शक्ति की कल्पना की है, जो उन्हे गतिमान् बना दिया करती है। वह कहता है कि कर्म मस्तिष्क से शुरू होता है और शरीर द्वारा उसकी पूर्ति हुआ करती है। भाव से भाव और अभाव से अभाव ही हुआ करता है इसलिये मस्तिष्क, जिससे कर्म करने की इच्छा का प्रारम्भ हुआ करता है वह जिन परमाणुओं से बना है उनमें भी, इपीक्यूरस की कल्पित गति के अंकुर का, होना आवश्यक है और इसलिये वही मस्तिष्क के निर्माता परमाणुओं की इच्छारूप गति, मस्तिष्क में कार्य के प्रारम्भ करने का कारण बन जाया करती है[1]।

(२) इपीक्यूरस का परतन्त्रतावाद

तात्पर्य्य यह है कि इपीक्यूरस, इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये, अपने हृदय में, मान का भाव रखते हुए भी, एक ऐसी कल्पना का शिकार बना है जिससे भाग्य की गुलामी से निकलकर परमाणुओं का गुलाम बन गया है। उसकी दृष्टि में समस्त कर्मों

(1) A History of The Problem of Philosophy by Pane Jenart (English translation) p. 322 and 329.

का कारण परमाणुओं के भीतर निहित, इच्छाशक्ति ही हुआ करती है। उसने इस वाद को उपस्थित करते हुए कहीं भी यह प्रकट नहीं किया है कि परमाणुओं में इस कल्पित इच्छा-शक्ति के होने का प्रमाण क्या है?

यद्यपि प्लाटिनस के मतानुयायी इच्छा-स्वातंत्र्य का समर्थन करते रहे हैं और भाग्यवाद को सदैव त्याज्य बतलाते रहे हैं,

२ न्यू प्लाटनइज़्म का परतंत्रतावाद

परन्तु अपने साम्प्रदायिक विचारानुसार जो कर्म प्रारंभ होने की कल्पना की है वह कल्पना एक प्रकार का परतंत्रता-वाद ही है। इच्छा-स्वातंत्र्य की संगति, किस प्रकार, ईश्वर और ब्रह्माण्ड के संगठन से लगाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये प्लाटिनस ने कहा है कि धर्म तो स्वतंत्र है परन्तु उसके अनुसार किया हुआ कर्म, ब्रह्मांड के नाटक के उस समष्टि में, शामिल रहता है, जो इस नाटक के रचयिता के दिये हुये, भागानुसार, नाटक मे भाग लेने वालों में से प्रत्येक के कृत्यों से बना करती है। परन्तु इस नाटक के रचयिता का दिया हुआ भाग, होता ऐसा ही है जो प्रत्येक के लिये, अधिक से अधिक अनुकूलता रखता है[1]। जब इस समस्त ब्रह्मांडरूपी नाटक में भाग लेने वालों के कृत्य, नाटक के रचयिता के दिये हुये भागानुसार ही, बना करते हैं तो मनुष्य मे कर्म-स्वातंत्र्य कहां रहा? प्लाटिनस का यह वाद भाग्यवाद का एक परिवर्तित रूप ही कहा जा सकता है। इसमें कर्म-स्वातंत्र्य की गंध भी नहीं है।

स्पाइनोज़ा चेतनाद्वैतवादी था, उसके सिद्धान्त श्री

---

(१) Enneadas III, 1, 5

शंकराचार्यजी से मिलते जुलते हैं। वह कहता है कि जगत् के समस्त कार्य ईश्वर के अनादि नियमानुकूल ठीक उसी प्रकार से होते हैं जैसे निश्चित मर्यादा की रू से, किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर हुआ करते हैं। जगत् का प्रत्येक कार्य्य किस प्रकार होगा, ईश्वर ने पहले से निश्चय कर रक्खा है। ये निश्चय उसने अपनी सर्वज्ञता या शिव संकल्प से नहीं किये हैं किन्तु अपनी अनन्त शक्ति और पूर्ण सामर्थ्य से कर रक्खे हैं। मनुष्य अज्ञानी है और यह अज्ञान उसके स्वभाव का एक अंग है। इसी अज्ञान से, अपने भीतर उन्नति की एक इच्छा करते हुये, उस इच्छा के प्रभाव से, अपने को स्वतंत्र समझ बैठता है। वास्तव में जगत् के सब कार्य्य परतंत्रता से होते हैं, परन्तु होते अत्यन्त पूर्णता से हैं।

४ स्पाइनोज़ा का परतंत्रतावाद

शंकर स्वामी मनुष्य के अज्ञान को नैमित्तिक मानते हैं, उन का कहना है कि माया के फेर में पड़ जाने से, इस अज्ञान का परदा मनुष्य पर पड़ जाया करता है। परन्तु स्पाईनोज़ा मनुष्य के अज्ञान को, उसके स्वभाव (Natue) का एक अंग मानता है। यदि अज्ञान स्वाभाविक है तो स्पाइनोज़ा के फ़िलासोफ़ी में, मनुष्य को, दुःखों से मुक्त होने के विचार से, सदा के लिये हाथ धो बैठना चाहिये। इसमें यह भी एक प्रश्न होगा कि जब आत्मा की कोई नित्य सत्ता नहीं तो यह अज्ञान किस का स्वभाव है! क्या माया की तरह से इसे भी ईश्वर ही के गले मढ़ना पड़ेगा?

होब्स, इच्छा स्वातंत्र्य को, मनुष्य के मस्तिष्क से पृथक् करता है। वह कहता है कि हमारे विचार और कल्पनायें,

५ होवस का यांत्रिक जड़वाद

असल में, मस्तिष्क में फैली हुई, एक गति के सिवा और कुछ नहीं हैं। वह गति मस्तिष्क में खत्म नहीं हो जाती किन्तु हृदय तक पहुंचती है जहां उसके लिये आवश्यक होता है कि वह जीवनरूपी गति की सहायक बने या उसके काम में बाधा डाले। पहली सूरत प्रसन्नता और दूसरी सूरत दुःख का कारण होती है। वह गति, जिसके भीतर सुख और दुःख निहित होते हैं, सुखद वस्तुओं के आकर्षण करने और दुःखद वस्तुओं के हटाने के लिये याचना अथवा प्रकोपोत्तेजन का कारण बना करती है। यह याचना ही, उद्योग अथवा प्राणियों की आन्तरिक गति का सूत्रपात करती है। उस गति से जब कर्त्ता में प्रसन्नता के भाव उद्भूत होते हैं तब उसे सुख की स्वाभाविक इच्छा कहते हैं परन्तु वर्तमान दुःख की दृष्टि से वह द्वेष और भावी दुःख के लिहाज़ से उसे डर कहा करते हैं[1]। ××× इस प्रकार उत्पन्न हुये इच्छा, भय और द्वेष हमारे कार्य्यों के प्रारंभिक परन्तु निहित कारण हुआ करते हैं। ये गहरी इच्छायें ही इच्छाशक्ति हुआ करती है। ××× जिसे इरादा करके काम करना कहते हैं, वह इच्छाओं और भयों की पुनरुक्ति-मात्र होती है[2]।

स्पष्ट है कि होवस के मत में, प्रत्येक वस्तु, अन्त में, एक प्राकृतिक अणु की गति ही का रूप धारण कर लिया करती है जिसका पूर्व से निश्चित होना आवश्यक है। फल इसका यह हुआ कि मनुष्य में, उससे अधिक इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं है जितनी एक वेसमझ पशु में होती समझी जा सकती है।

(१) On Human Natuie by Hobbes (Ch: VII.)
(२) Do (Ch: XII.)

ह्वोवस के इस परतंत्रतावाद में, इपीक्यूरस की, परतंत्रता-वाद संबंधी कल्पनाओं की, एक झलक मौजूद प्रतीत होती है।

मनोविज्ञान की प्रवृत्ति यह है कि जीव को न माना जावे। उसकी ओर से कहा यह जाता है कि शारीरिक जगत् के सिवा,

६ मनोवैज्ञानिक परतंत्रतावाद

मानसिक संसार में, हमको किसी मूल-तत्व (जीव) के होने की पेशीनगोई नहीं करनी चाहिये। उसकी दृष्टि में अतीतात्मक कोई वस्तु असली (सत्य) नहीं है, नामरूपात्मक या अनुभवमूलक वस्तु ही सत्य हो सकती है। उसी को जान कर उसे श्रेणीबद्ध किया जासकता है। इस प्रकार जिस को हम जानते हैं या जिसका हम वर्गीकरण कर सकते हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि में वह जीव नहीं है अपितु उसे केवल "मानसिक आलोक" या "मनोवैज्ञानिक अहम्" कहा जा सकता है। इसी वाद को डाक्टर वार्ड (Dr. Ward) ने "व्यंजक दृश्य-वाद" का नाम दिया है। + + + मनोविज्ञान प्रकृतिविज्ञान ही है इसलिये उसका क्षेत्र नामरूपात्मक जगत् ही होना चाहिये। उसकी सफलता इसी प्रकार हो सकती है कि जीव संबंधी सभी कल्पनाओं को छोड़ कर दृश्य जगत् का विवरण देवें। ह्यूम, लाक और वरकले आदि महानुभाव थोड़ा थोड़ा विचारभेद के साथ इस वाद के समर्थक हैं। लाक के कथनानुसार हमारे अन्दर, मस्तिष्क के अनेक कार्य्यों और शरीर की अनेक गतियों के प्रारंभ करने, सह लेने, जारी रखने या समाप्त करने की एक शक्ति है। वह शक्ति, इन कार्य्यों को, मस्तिष्क की प्रेरणा से, जो एक से दूसरे को तरजीह देते हुये, किसी काम के करने या न करने का, मानो विधान कर रहा है,

करती है। उसी शक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं[१]। लाक का कहना है कि समस्त कार्य्य, जिनका हमे ज्ञान है, विचार और गति-मूलक है। मनुष्य को अपने मस्तिष्क की प्रेरणानुसार, विचार करने, न करने, गति देने, न देने की, जहांतक योग्यता है, वह स्वतंत्र है[२]। इसके बाद लाक, फिर कहता है कि स्वतत्रंता का संबंध मनुष्य की इच्छा से भी नही है। कल्पना करो कि एक आदमी गहरी नींद में सो रहा है। उसे बेखबरी ही में एक दूसरे कमरे में पहुंचाकर उस कमरे को बंद कर दिया गया। उस बंद कमरे में एक और व्यक्ति था जिसे सोने वाला आदमी देखना और उससे बात करना भी चाहता था। जब वह (सोने वाला) जागा तो उस दूसरे व्यक्ति को देखकर खुश होगया और बंद कमरे से निकलने की जगह, उसी में उस व्यक्ति के साथ रहना चाहता है। इस घटना का उल्लेख करते हुये, लाक एक प्रश्न करता है कि क्या उस पुरुष (सोने वाले) का, उस बंद कमरे मे ठहरना, उसकी इच्छानुसार नहीं है ? और उत्तर देते हुये कहता है कि इसमें किसी को भी संदेह नही होगा कि वह (सोने वाला) अपनी इच्छानुसार ही उस बंद कमरे में ठहरना चाहता है यद्यपि उसे, उस बंद कमरे से बाहर जाने की स्वतंत्रता प्राप्त नही है[3]। लाक ने इस उदाहरण से परिणाम यह निकाला है कि इच्छा और स्वतंत्रता दो पृथक् पृथक् वस्तुयें हैं। इच्छा स्वतंत्रता से पहले उत्पन्न होती है। स्वतंत्रता एक शक्ति

(१) On The Human Undeistanding by Locke Book II (Ch: 21 sec. 5.)

(२) Do sec. 8.

(३) On the Human Understanding by Locke Book II (Ch: 21 sec 10.)

है। जैसी इच्छा होती है स्वतंत्रता से मनुष्य वैसा ही कर्म किया करता है। लाइबनिटज़ ने भी एक जगह लिखा है कि इच्छा करने की स्वतंत्रता एक वस्तु है और कर्म करने की स्वतंत्रता दूसरी वस्तु है[१]।

लाक ने उपर्युक्त तर्क उपस्थित करते हुए परिणाम यह निकाला है कि वर्तमान कर्म से संबंधित समस्त प्रस्तावों के करने न करने में, मनुष्य स्वतंत्र नहीं है क्योंकि वह इच्छा करना बंद नहीं कर सकता और स्वतंत्रता चाहती है कि वह इच्छा करे या न करे[२]। इस प्रश्न का उत्तर, कि यदि मनुष्य में इच्छा-स्वातंत्र्य नहीं है तो वह किस प्रकार इच्छाओं को निश्चित किया करता है, लाक यह उत्तर देता है कि जब मनुष्य अत्यंत प्रतिकूलता का अनुभव करने लगता है तो उस समय राग के आनुकूल्य से इच्छा निश्चित हुआ करती है[३]। असुविधाओं के भंडार में से, जो प्राकृतिक बंधनों अथवा बनाये हुये स्वभावों ने एकत्र कर रक्खा है, बारम्बार असुविधायें निकल कर मनुष्य की इच्छा को अपने साथ लेलेती है और ज्योंही एक काम पूरा हो चुकता है जिसे इसी प्रकार की प्रभावित इच्छा से, प्रारंभ किया गया था, दूसरी असुविधायें इच्छा को प्रभावित करके दूसरा काम शुरू करा देती है[४]। इतना विवरण देने

(१) New Essays II (Ch: 21, sec 8.)

(२) On the Human Understanding by Locke Book II (Ch: 21, sec. 24.)

(३) A History of The Problems of Philosophy p. 73.

(४) On The Human Understanding by Locke Book II (Ch: 21, sec. 45.)

के बाद लाक कहता है कि हमारे भीतर एक शक्ति है जिससे हम किसी खास इच्छा को रोक भी सकते हैं[१]।

लाक ने इन्हीं (मनोवैज्ञानिक) हेतुओं से इच्छा या कर्म-स्वातंत्र्य का विरोध किया है, लाक के समय के मनोविज्ञान और प्रचलित मनोविज्ञान मे बड़ा अंतर होगया है उस समय का मनोविज्ञान जड़वाद से प्रभावित था परन्तु वर्तमान मनोविज्ञान आत्मवाद से प्रभावित है। इसलिये यह बात, अच्छी तरह से, समझ लेनी चाहिये कि लाक ने जिन मनोवैज्ञानिक हेतुओं से कर्म-स्वातंत्र्य और जीव की सत्ता का निषेध किया है, वे आज प्रचलित नहीं हैं।

मालब्रांश ने अपने "अनियत कारणवाद" में, समस्त कर्तृत्व का आरोप, ईश्वर ही में किया है। ऐसा करते हुये भी, उसने जीव की सत्ता स्वीकार की है। यही बड़ा भेद उसमें और शंकराचार्य्य आदि के मतों में है। मालब्रांश ने जीव की स्वतंत्रसत्ता स्वीकार करते हुये भी, उसे (जीव को) किसी प्रकार के भी यत्न प्रारंभ करने के अधिकार से वंचित रक्खा है। उसकी दृष्टि में, किसी प्रकार का भी यत्न, ईश्वरेच्छा से बाहर नहीं हो सकता। ईश्वर ही विशेष भलाई की ओर हमें ले जाता है और वही किसी विशेष भलाई का ज्ञान और उसका प्रेम हमें देता है। हमारे मस्तिष्क के कार्य्यों में जितनी वास्तविकता है उसका कर्त्ता भी ईश्वर ही है। परन्तु ईश्वर पाप का कर्त्ता नहीं है। पापी कुछ नहीं करता क्योंकि पाप कुछ नहीं है। पाप यही है कि जीव कुछ नहीं करता और

७ मालब्रांश Malebranche का परतंत्रतावाद

(१) On the Human Understanding by Locke Book II (Ch: 21, sec. 50.)

बेकार रहता है, ईश्वर का अनुसरण नहीं करता[1]। मालब्रांश ने पाप के एक ही पहलू अकर्मण्यता का उल्लेख किया है, परन्तु कर्मण्यतारूप पाप की चर्चा नहीं की। चोरी करना, डाका डालना, किसी का वध करना आदि अनेक पाप हैं जिन्हें दुष्कर्मण्यता तो कह सकते हैं परन्तु अकर्मण्यता नहीं। यदि जीव कुछ नहीं कर सकता तो फिर इन पापों का कर्त्ता भी तो ईश्वर ही को होना चाहिये। यही अन्धेरापक्ष मालब्रांश की कल्पना में है जिसकी ओर उसने अधिक ध्यान नहीं दिया।

८ जान स्टुअार्ट मिल का परतन्त्रतावाद

मिल के, परतन्त्रतावाद की रू से, मनुष्य की इच्छा और कार्य्य दोनों नियत और अनिवार्य हैं, ऐसा प्रकट करते हुए, इसी पक्ष का समर्थक मिल ने अपने को बतलाया है। मिल के कथनानुसार, उसके परतन्त्रतावाद का शुद्ध रूप यह है:—"मनुष्य के मस्तिष्क में निमित्त पहले से मौजूद होते हैं। और इसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति और चरित्र भी पहले से तय्यार होते हैं।" मिल का कथन है कि "यदि किसी मनुष्य को ठीक ठीक मानते हैं और उस पर पड़ने वाले प्रत्येक प्रभाव या प्रलोभनों का भी, भलीभांति, ज्ञान रखते हैं तो निश्चित रीति से बतलाया जा सकता है कि वह भविष्य में किस प्रकार काम करेगा।" अस्तु, यह कहते हुए भी उसने अपने परतन्त्रतावाद और भाग्यवादियों के परतन्त्रतावाद में भेद किया है। वह कहता है कि मनुष्य किसी लक्ष्यविशेष की ओर चलने के लिये, किसी शक्तिविशेष के बंधन में नहीं है अपितु यदि

(१) Rech. dela verite by Malebranche Book I (English Translation).

वह चाहे तो किसी लक्ष्यविशेष का विरोध भी कर सकता है। वह अपने भाव को, और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये, कहता है कि "जब हम कहते हैं कि प्रत्येक कार्य्य परतन्त्रता-वशात् ही होता है तब इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि यदि कोई रुकावट न हुई तो वह अवश्य घटित होगा। प्राकृतिकसाधन, जिन पर मनुष्यों के कर्म निर्भर होते हैं और जो अनियन्त्रित हैं, उनके अनुकूल सदैव कार्य्य हुआ करता है। वे प्राकृतिकसाधन क्या हैं और उनकी आवश्यकता या परतन्त्रता किसे कहते हैं? इनका उत्तर देने के लिये मिल ने कहा है कि "हम शारीरिक परम्परा को आवश्यकता या परतन्त्रता कहते हैं। जैसे विना भोजन के मरना आवश्यक है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति को विष दे दिया जावे तो उसके लिये हम, मौत को, आवश्यक नहीं कहेंगे, क्योंकि सम्भव है कि ओषधि के उपचार से, विष का प्रभाव जाता रहे और वह आदमी न मरे।" इस उदाहरण के देने के वाद, मिल कहता है कि "मनुष्य के कर्म दूसरी (विष से मृत्यु वाली) कोटि में आते हैं। वे कर्म कदापि, किसी एक लक्ष्य के, इस प्रकार वन्धन में नहीं होते कि उनपर किसी दूसरे लक्ष्य का प्रभाव न पड़ सके। इसलिये वे कारण (प्राकृतिक साधन), जिन पर कर्म निर्भर होते हैं, कदापि अनियन्त्रित नहीं होते और कोई भी कार्य्य, यदि उसके कारण को नियन्त्रित न किया जावे तो वह अवश्य होकर रहेगा[१]।"

मिल ने अपने परतन्त्रतावाद का, जो विवरण, ऊपर दिया है वह दैव (भाग्य) वाद से सर्वथा पृथक् है। मिल के परतन्त्रता-

(१) System of Logic by J. S. Mill Book VI (Ch: II p. 547–549.)

वाद में कर्म-स्वातन्त्र्यवाद के लिये कुछ गुंजायश है। एक बात, जिसकी ओर मिल अथवा इसी श्रेणी के विचारक ध्यान नहीं दिया करते, यह है कि वे जहां प्राकृतिकबन्धनों आदि पर विचार करते हैं उसके साथ यह कभी नहीं सोचा करते कि मनुष्य के भीतर, कर्म करने के लिये, किसी स्वतन्त्र इच्छा के होने की, चाहे वह कितने ही अल्प मात्रा में क्यों न हो, सम्भावना है या नहीं? यदि मिल की विस्तृत सम्मति को, जो किसी दूसरी जगह, इसी ग्रन्थ में अंकित है, देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि उसके वाद में, इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये स्थान है, परन्तु उसने जी खोलकर नहीं अपितु दबे शब्दों ही में उसका इक़बाल किया है।

१ वैज्ञानिक परतंत्रतावाद

जड़वाद के विस्तार और आत्मा की स्वतंत्र सत्ता के न मानने से, पश्चिमी देशों में, जहां विज्ञान का बोल-बाला हो रहा था, वहां दूसरी ओर इच्छा वा कर्म-स्वातंत्र्य के विरुद्ध होना फ़ैशन में दाख़िल होगया था और इसीलिये इन पश्चिमी देशों में अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक कर्म-स्वातंत्र्यवाद के विरोधी हुये, जिनमें से कुछेक का उल्लेख किया जा चुका है, यहां, समष्टि-रूप से, जो पक्ष विज्ञान के नाम से कहा जाता था और अब भी प्रायः कहा जाता है, उसका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है:—

विज्ञान का पक्ष

विज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य की प्रकृति, वस्तुओं की सार्वत्रिक प्रकृति का, एक भाग है और मनुष्य का जीवन भी, विश्व की विस्तृत चेतना का एक अंश है। प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं हुआ करता जो अपवाद प्रतीत होते हैं वे भ्रममात्र होते हैं और

ज्ञान का प्रकाश होने पर दूर हो जाते हैं। इसी वाद के आधार पर, जब मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान का, मनुष्य की जीवनसमस्या पर, आक्रमण होता है, तब मनुष्य के, कल्पित इच्छा-स्वातंत्र्य का सफ़ाया हो जाता है और उसे अपनी परतंत्रता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी वाद का नाम वैज्ञानिक परतंत्रतावाद, नियतिवाद आदि है।

प्रचलित वैज्ञानिक परतंत्रतावाद (Determinism) के विस्तार से पहले एक परतंत्रतावाद, प्राकृतिक आवश्यकतावाद (Necessitarianism) के नाम से प्रचलित था।

प्राकृतिक आवश्यकतावाद

उसका सिद्धान्त यह था:—"मनुष्य को बंधन में रखने वाली शक्तियां, लक्ष्य, स्वभाव और निर्मित-चरित्ररूपी आंतरिक शक्तियां ही हुआ करती हैं। परन्तु इन आंतरिक शक्तियों और बाह्य-जगत् में प्रचलित प्राकृतिक शक्तियों के मध्य, कोई वास्तविक असंबद्धता नहीं है। अन्त को ये दोनों (बाह्य और आभ्यान्तर) शक्तियां एक ही होती हैं। मनुष्य के कर्तृत्व का असली आधार भीतर की अपेक्षा बाहर अधिक है। बाह्यशक्तियां अधिक बलवती और महत्व-पूर्ण हैं। आंतरिकशक्तियों का समावेश उन्हीं के अन्दर है बल्कि यों कहिये कि वे उन्हीं का अंशमात्र हैं। हम अपना स्वभाव, बाह्य प्रकृति से, वंशपरंपरा के द्वारा, लेते हैं और एक बार जब प्राप्त कर लेते हैं तब अवस्थाओं के बल और शिक्षा से, उसकी पुष्टि और वृद्धि करते रहते हैं। उन्हीं बाह्य प्रभावों के वशीभूत होकर, जो प्रभाव हमारे ऊपर नित्यप्रति पड़ते रहते हैं, पुनरावृत्ति के रूप में, हम जो कुछ करते हैं, होता है। जैसे कि पशु, पौदे और यहां तक कि पत्थर भी, अपने भीतर किया करते हैं। इस प्रकार के (प्रभावों से उत्पन्न)

कार्य्य और (उन्हीं के वशीभूत होकर किये हुये हमारे) पुनः कार्य्य मिलकर, उन घटनाओं की पूरी शृंखला, उत्पन्न करते हैं, जिनसे हमारा जीवन बनता है। इसलिये हम स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु वाह्यप्रकृति की आवश्यकताओं के बंधन में हैं। वाह्य-प्रकृति के जो नियम हैं, वही हमारे भी हैं। वाह्यप्रकृति की जो आवश्यकताये, हमारे जीवन से, उसी प्रकार जुड़ी हुई हैं, जैसे दुलड़ी रस्सी की एक लड़ दूसरी के साथ जुड़ी होती है। यह प्राकृतिक आवश्यकतावाद का संक्षिप्त विवरण है। इस आवश्यकतावाद और प्रचलित वैज्ञानिकपरतंत्रतावाद में जो कुछ अंतर था, वह, विकासवाद के विचारो के, प्रादुर्भूत होने से, दूर होगया और इसीलिये अब इस आवश्यकतावाद का पृथक् कोई स्कूल नहीं रहा, वह, प्रचलित वैज्ञानिकपर-तंत्रतावाद ही का, एक अंग बन गया।

विकासवाद का इस वाद पर प्रभाव

विकासवाद के प्रभाव से, अब विज्ञान, अन्य विकसित पदार्थों की तरह, मनुष्य को भी, विकास की पैदावार समझता है। मनुष्यस्वभाव को भी समझना चाहिये कि वह विकासमय है जिसमें, नित्यप्रति, विकास होता रहता है। विज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य, अपने समय और अवस्था की, सन्तति है और बच्चों ही की तरह, शक्तिहीन, उनके हाथ में है। मनुष्य के जीवन और चरित्र की, वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ब्रह्मांड में प्रचलित, सार्वत्रिक विकास से विकसित, अन्य पदार्थों के साथ वह भी अपना स्थान ले रहा है और अपने स्थान पर अपना प्रदर्शन कर रहा है।

विज्ञान के पक्ष का निचोड़ यह है कि विज्ञान के लाभ और उसे अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति की ओर चलने देने के लिये,

आवश्यक है कि इच्छा-स्वातंत्र्य का, प्रत्येक अंश में, जो इन शब्दों से प्रकट हो सकते हैं, विरोध किया जावे; उसकी स्वीकारी का अर्थ, विज्ञान ने, मनुष्य के जीवन के जो अर्थ समझे हैं, उनसे, दस्तबरदार होना है[१]।

जैसा प्रारंभ में कहा जा चुका है कि विज्ञान ने मनुष्य को भी, स्वतंत्र, सत्ताशून्य, जीवरहित, एक यंत्र समझ रक्खा है।

इस परतंत्रतावाद का मूलकारण

ऐसा समझने ही से, वह उसे (मनुष्य को) ब्रह्मांड की एक बड़ी मशीन का एक पुर्ज़ा समझता है और ऐसा समझने ही से, वह (विज्ञान) समझता है कि जब मशीन हिलती है तो कैसे संभव है कि उसका कोई पुर्ज़ा न हिले? विज्ञान की सब से बड़ी भूल यही हुई है कि उसने मनुष्य को चेतना और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति न समझ उसे, एक जड़-यंत्र के सदृश समझ लिया। यही कारण है कि वह, उसे स्वतंत्रसत्ता, स्वतंत्र इच्छा और कर्मस्वातंत्र्य से, वंचित करता है। विज्ञान की वर्तमान प्रवृत्ति भी, कुछ अंश में बहुत आशाजनक नहीं है। सर जेम्स जीन आदि, कुछेक वर्त्तमान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक शंकर के, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का समर्थन करते हुये जगत् में एक ही चेतन शक्ति के होने अथवा चेतनाद्वैतवाद का ढिंढोरा पीटने की ओर प्रवृत्त से हो रहे हैं। यद्यपि जिस परिणाम पर वे साइन्स को पहुंचाना चाहते हैं, अबतक की, की गई उस (साइन्स) की परिभाषाओं के अनुसार, वह (परिणाम) उसकी सीमा से बाहर और दर्शन के क्षेत्र की वस्तु है और जैसा कि जूड ने लिखा है कि इन वैज्ञानिकों

(१) A Study of Ethical Principles by James Seth Part III Ch: I (15th Edition).

को उसे दार्शनिकों के लिये ही छोड़ देना चाहिये। अस्तु, जो कुछ हो, कर्मस्वातन्त्र्य और जड़ या चेतनाद्वैतवाद असल में दो किनारे की वस्तु हैं। नीचे की पंक्तियां इसे स्पष्ट करेंगीः-

इच्छा-स्वातंत्र्य और अद्वैतवाद

आचार को लक्ष्य में रखते हुये, जिस इच्छा-स्वातंत्र्य की अपेक्षा हो सकती है, उसके स्वीकार करने का फल यह होगा कि हमें उन दार्शनिकवादों से, हाथ धो लेना, पड़ेगा, जो जड़ या चेतनाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जब हम इच्छा-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हम एक ऐसे अध्यात्म-जगत् में प्रविष्ट होते हैं जो प्रकार की दृष्टि से, इस प्राकृतिक जगत् से भिन्न है और इसीलिये उपर्युक्त विज्ञान के सहयोग के दावे से भी, दस्तवरदार होते हैं।

(२) इसका अभिप्राय यह भी है कि हम जीव के बहुत्व[1] को स्वीकार करके, चेतनाद्वैतवाद को भी रद्द करते हैं। प्रो० जैम्स ने भी, यह कह कर कि "स्वतंत्र सत्तामय व्यक्तित्व के स्वीकार करने से, हम प्रत्येक प्रकार के अद्वैतवादों से पृथक् होकर, अनेकतावाद के जगत् में, प्रविष्ट होते हैं।" इसकी पुष्टि की है।

(३) इस (इच्छा-स्वातंत्र्य) के स्वीकार करने से, यह भी आवश्यक होगा कि नेकी के साथ, बदी की सत्ता को भी, स्वीकार किया जावे।

---

(१) पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ (सांख्यदर्शन ६ । ४५)

अर्थात् जीव अनेक हैं, क्योंकि प्रति शरीर में उनकी पृथक् पृथक् व्यवस्था देखी जाती है।

(४) यह भी समझ लेना चाहिये कि इच्छा-स्वातन्त्र्य की स्वीकारी के अर्थ, जीव की स्वतंत्र सत्ता के स्वीकार करने के भी हैं।

सर आर्थर इडिंगटन और विज्ञान का पक्ष

जहां कुछेक वैज्ञानिक, उपर्युक्त भांति परतंत्रतावाद को विज्ञान का पक्ष होने की घोषणा कर रहे हैं वहां सर आर्थर इडिंगटन विज्ञान को इच्छा-स्वातंत्र्य का समर्थक, प्रकट कर रहे हैं। इडिंगटन का कहना है कि "जहांतक प्राकृतिक जगत् का संबंध है उसमें हमें अणुमात्र भी परतंत्रतावाद का चिह्न नहीं दिखाई देता इसलिये अब इच्छा-स्वातंत्र्य के संबंध में, संदेह करने की कोई बात नहीं है[1]।"



(१) Leadeı, Allahabad. 29 / 12 / 1930.

छठा अध्याय

इससे पहले अध्याय में परतन्त्रतावाद के अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख हो चुका है जिससे पाठक, उस वाद के, अनेक और विभिन्न पहलुओं से वाकिफ़ हुए हैं। अन्त में विज्ञान की परतन्त्रताप्रदर्शक युक्तियों को, इसलिये रक्खा गया है क्योंकि वह किसी व्यक्तिविशेष का मत नहीं अपितु वैज्ञानिकों के सम्प्रदाय मे से अधिकांश का मत समष्टिरूप से था। परन्तु वर्तमान विज्ञान की ऐसी अवस्था नहीं है। अनेक वैज्ञानिक स्वतंत्रता के भी पोषक हैं। अस्तु—अब इस अध्याय में विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध, आचार और धर्म के आधार पर, कर्म-स्वातंत्र्य का पक्ष उपस्थित किया जाता है जिससे पाठकों को दोनों पक्ष को लक्ष्य में रखते हुये सम्मति बनाने का अच्छा अवसर प्राप्त हो।

आचारिक और धार्मिक विश्वास का पक्ष

कांट की प्रसिद्ध कहावत, कि इच्छा-स्वातंत्र्य आचार की बुनियाद है, आजतक बराबर स्वीकार की जाती रही है। वैज्ञानिकपरतंत्रतावाद के स्वीकार करने से, आचारिक जीवन नष्ट हो जाता है। परतंत्रतावादी हज़ार यत्न करें कि प्राकृतिक आवश्यकता के आधार पर. परतंत्रतावाद की सहायता से, नाममात्र का, कोई उपचार, स्थापित करें परन्तु यह यत्न अवश्य असफल होगा, असफल होगा।

सदाचारी पुरुषों का जीता जागता अनुभव है कि प्रायश्चित्त, प्रतिफल, पाप की स्वीकारी और इनाम, उसके जीवन के

समस्त कष्ट, अपमान प्रसन्नता और श्रेष्ठता के लिये, इनका पूरा करना न करना, उसकी अपनी इच्छा ही पर निर्भर होता है। अवश्य उसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति, एक अंशतक, एक दूसरी शक्ति (ईश्वर) की सहायता से होती है। मनुष्य जबतक अपनी मनुष्यता न खो दे, अपने स्थिरकर्त्तव्य के उत्तर-दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये यह अपनी स्वतंत्रता भी नहीं छोड़ सकता और न यह चाह सकता है कि प्रकृति के हाथ की कठपुतली बन जावे। अपने आचारिक अनुभव के आधार से, उसके अन्दर, यह विचार, अनादिकाल से, बना चला आता है कि वह जड़ प्रकृति से, असीम श्रेष्ठता रखता है। प्रकृति उसका कुछ नहीं कर सकती परन्तु वह, प्राकृतिक आवश्यकताओं में, भेद कर सकता है। उसकी दृष्टि में, प्राकृतिक आवश्यकता (परतंत्रता) वादी, पशुओं का सा स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर रहा है। ऐसा जीवन नहीं व्यतीत कर रहा है जिसे एक अच्छे सदाचारी पुरुष का जीवन कह सकें। स्वतंत्रता पर विश्वास रखने से, मनुष्य का जीवन, सदाचारप्रिय बना करता है। उसके अन्दर उत्तरदायित्व और कृतज्ञता के भाव निहित रहते हैं।

आचारिक जीवन इच्छा-स्वातंत्र्य पर निर्भर है

कांट की उपर्युक्त कहावत का समर्थन हेसटिंग्स राशडाल ने इस प्रकार किया है कि जबतक इच्छा-स्वातन्त्र्य न हो, आचार की सत्ता का विचार भी नहीं किया जा सकता। इसलिये राशडाल का कहना है कि यह आवश्यक है कि जगत्-संबंधी विचार इस प्रकार के हों जिससे व्यक्तियों के कर्म,

असली अर्थों में, स्वतंत्रता के साथ उन्हीं के किये हुये, कहे और समझे जा सकें।

एक साधारण व्यक्ति इच्छा-स्वातंत्र्य को क्या समझता है ?

एक साधारण व्यक्ति, इच्छा-स्वातंत्र्य के लिये, अभ्यासवश, कल्पना करता है कि उसके कर्म, किन्हीं पूर्वकर्मों या अन्य किन्हीं घटनाओं का फल नहीं हैं जो जगत् में, उन कर्मों के करने से पूर्व, घटित हो चुकी हैं। वह यह भी समझता है कि उसके, इससे पहले किये कर्मों के ज्ञान अथवा उसके पूर्वचरित्र की जानकारी अथवा उसके जन्मसिद्ध चरित्र-ज्ञान के आधार पर, जिसमें, उसके किए हुए कर्मों से, बहुत सा फेरफार हो गया है, न तो स्वयं कर्त्ता, न कोई व्यक्ति, निश्चय के साथ, यह पेशीनगोई कर सकता है कि वह (कर्त्ता), भविष्य में, उस समय की परिस्थिति में, किस प्रकार से, कौनसा काम करेगा ? यदि वह (कर्त्ता) व्यक्ति, अपने पहले किये हुये पापों पर दृष्टि डालता है तो वह सोचता है कि उसे वे नहीं करने चाहियें थे, इसका परिणाम यह होता है कि वह भविष्य में, उस प्रकार के पाप करने से बचता है।

कुछ परवाह नहीं कि वह (कर्त्ता) व्यक्ति क्या था, या उसने पहले क्या किया था, इसकी भी कुछ परवाह नहीं कि किस प्रकार के संस्कार और वासनायें, और किस प्रकार का चरित्र, वह, इस संसार में, जन्म समय, अपने साथ लाया था और भी अन्य अवस्थायें उस समय तक, सबकी सब, ज्यों की त्यों बाकी रहें तब भी, कर्त्ता के कर्म (बिना उसके किये) बिना किये हुये बाकी रहेंगे। बिना उसकी इच्छा के, वे कर्म, उसके द्वारा, किये भी न जा सकेंगे। और उस साधारण व्यक्ति के हृदय में, दृढ़ता के साथ यही विचार बना रहेगा कि जो कर्म

अनेक प्रकार के कर्मों में से छांटकर, अपनी इच्छा से उसने किये हैं वे पूर्व से निश्चित नही थे और यह भी, कि कोई भी उन कर्मों की, भूत और वर्तमान पर ध्यान देकर, पेशीनगोई नही कर सकता।

परतंत्रतावादियों के आगामी कर्म की पेशीनगोई किये जाने के दावे पर विचार करते हुये, राशडाल ने, उत्तर दिया है कि कोई भी मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का मर्मज्ञ, मनुष्य के पिछले या वर्त्तमान कर्मों के आधार से, उसके भावीचरित्र की पेशीनगोई नहीं कर सकता। राशडाल कहता है कि चरित्र का संबंध, नाड़ीगुच्छक और मस्तिष्क से है और इसलिये किसी व्यक्ति के भूतकाल के चरित्र से, उसके आगामी चरित्र का, यथार्थ विवरण नही दिया जा सकता। चरित्र में सदैव अविकसित संभावनायें सम्मिलित हुआ करती हैं, किसी नई उत्तेजना के प्राप्त होने पर, किसी नई योग्यता के विकास अथवा किसी विकसित योग्यता के पुनर्विकास के रूप में, जो परिवर्त्तन उत्तरचरित्र में हो जाया करता है उसका यथार्थ विवरण, वीते हुये चरित्र के आधार से, नही दिया जा सकता[1]। वह कहता है कि यह विलकुल संभव है कि एक आदमी का चरित्र ऐसा हो कि विशेष उत्तेजना प्राप्त होने पर वह ९९ वार एक ही प्रकार के काम करे परन्तु सौवीं वार विलकुल दूसरे प्रकार का। यह भी संभव है कि एक पुरुष की

क्या कोई किसी के भावी कर्म की पेशीनगोई कर सकता है ?

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 302–304.

बनावट ऐसी हो कि एक हज़ार बार सुने हुये सरमनों का, उस पर कुछ भी असर न हो परंतु एकहज़ार एकवीं बार उस पर इतना प्रभाव पड़े कि उसका सारा जीवन उलट-पलट हो जावे। इन सब बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि उत्तर चरित्र की पेशीनगोई करने की बात स्वीकर्त्तव्य नहीं है।

यदि मनुष्य इच्छा-स्वातंत्र्य से वंचित है और केवल एक यंत्र ही की तरह उसके भीतर काम हुआ करता है तो फिर सब की प्रवृत्ति एक ही जैसी होनी चाहिये उनमें भिन्नता क्यो पाई जाती है ? परतंत्रतावादी इसका उत्तर यह देते हैं कि मनुष्य के भीतर अनेक प्रवृत्तियां होती हैं उनमें जो सब से अधिक बलवती होती है उसी के अनुसार वह काम किया करता है। इस पर हमारा प्रश्न यह है कि वे क्या हेतु हैं जिनसे एक व्यक्ति की एक ख़ास इच्छा (प्रवृत्ति) दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा से अधिक बलवती हो जाती है ? परतंत्रतावादी इसका उत्तर यह देता है कि वे कारण, जिनसे, मनुष्य में इच्छा या प्रवृत्तिभेद हो जाता है अथवा कोई इच्छा विशेष अधिक बलवती हो जाती है, मनुष्य के भीतर होते हैं और उनका प्रारंभ, जन्मसिद्ध प्रकृति के रूप में होकर, उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। कर्म करते समय, वह जिस परिवर्तितरूप में हो जाती है, वही बलवती इच्छा या प्रवृत्ति कही जाती है और वही कर्म का कारण हो जाया करती है। परन्तु प्रश्न यह है कि वे भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्तन भिन्न भिन्न मनुष्यों में क्यों होते हैं जब सभी मनुष्य, परतंत्रतावादानुसार, एक ही प्रकार के यंत्र हैं ? यहां पर-

मनुष्य की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियां क्यों होती हैं ?

तंत्रतावाद चुप हो जाता है। असल में वे कारण, भिन्न भिन्न मनुष्यों में, भिन्न भिन्न प्रकार के, उनकी जन्मसिद्ध प्रकृति और उनमें मौजूद इच्छा-स्वातंत्र्य के सम्मिश्रण से, कर्म करते समय, कर्म कारण रूप में, उत्पन्न हो जाया करते हैं और उनकी भिन्नता का कारण, उपर्युक्त प्रकृति और इच्छा-स्वातन्त्र्य की भिन्नता होती है। इच्छा-स्वातंत्र्य की भिन्नता का कारण, भिन्न भिन्न प्राणियों में, भिन्न भिन्न स्वतंत्र सत्तावान्, जीवात्माओं का होना होता है।

क्या समय मनुष्य की परतंत्रता का कारण है?

कुछेक पुराने ढांचे के सज्जनों का विचार है कि मनुष्य कर्मस्वातंत्र्य नहीं रखता। वह समय के बंधन में होता है। समय उससे जैसा चाहता है कर्म कराता है। अधिकतर मनुष्यों की प्रकृति ऐसी देखी जाती है कि वे अच्छे कर्म का उत्तरदायित्व तो प्रसन्नता से लेने को तय्यार हो जाते हैं और इस अंश में वे मनुष्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य व कर्मस्वातन्त्र्य-वान् भी मानने को उद्यत हो जाते हैं। परन्तु जब बुरे कर्मों का, जो उनके द्वारा हुये हैं और जिससे उनका अथवा अन्यों का अनिष्ट हुआ है, प्रश्न आता है तो उसका उत्तर-दायित्व अपने ज़िम्मे न लेकर, किसी न किसी के शिर मंढना चाहते हैं। भाग्यवाद आदि, इस प्रकार के अनेक वादों की सृष्टि, मनुष्य की, इसी निर्बलता का परिणाम, प्रतीत होती है। भाग्यवाद आदि की तरह, यह समयवाद भी है जिसमें प्रायः कई कर्मों का उत्तरदायित्व समय के शिर मंढा जाया करता है। कोई कहता है कि कलियुग ने उनसे ऐसी बुराई करादी, कोई जमाने को कोसता है, कोई काल के बलवान् होने की फ़रयाद करता है। अस्तु, किसी न किसी प्रकार से, मनुष्य,

अपने दुष्कृत्य से, अपने को बचाने के लिये, इस प्रकार की बात गढ़ा करता है। विद्वानों ने, इस (समय) वाद की परख की और उनकी परख का फल यह है कि उन्होंने इस वाद को निस्सार पाया। उस परख का कुछ विवरण यहां दिया जाता है:—

(१) महाभारत के शान्तिपर्व के एक भाग में युधिष्ठिर के किये प्रश्नों तथा भीष्मपितामह के दिये, उन प्रश्नों के उत्तरों का उल्लेख है। उन प्रश्नों में से, एक प्रश्न का, जो इस वाद से संबंधित है, हम यहां जिक्र करते हैं। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मपितामह ने, उत्तर देते हुये, कहा था कि "तुम (युधिष्ठिर) को जो यह सन्देह है कि समय, जिस प्रकार का चाहे, मनुष्य को बना देता है अथवा मनुष्य के अधिकार में है कि जिस प्रकार का चाहे समय को बना लेवे तो वे (भीष्म) कहते हैं कि मनुष्य ही के अधिकार में है कि जिस प्रकार का चाहे समय को बना लेवे, समय कुछ नहीं कर सकता[1]।

(२) शुक्राचार्य्यजी ने अपनी प्रसिद्ध (शुक्र) नीति में, इस वाद पर, दो जगह विचार किया है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि "यदि तुम काल के ज़िम्मे ही कर्म का उत्तरदायित्व रखते हो तो फिर कर्म के कर्त्ता से झगड़ा क्यों करना चाहिये। मतलब यह है कि यदि एक व्यक्ति ने किसी की घड़ी चुराली तो शुक्राचार्य का कथन है कि तुम उस चोर से किसी प्रकार की पूछगाछ, लानत मलामत, न करके, समय से झगड़ा करो जिसने उस व्यक्ति को, विवश करके, उसे चोरी करने के लिये

(१) कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम् ॥ (म० भारत शान्तिपर्व)

वाधित किया। समय के विरुद्ध ही जाकर, चोरी की रिपोर्ट पुलिस मे लिखाओ, उसी (समय) पर चोरी का अभियोग चलाओ। भाव इसका स्पष्ट है कि समयवाद के मानने से, फिर दुनियां मे कोई पापकर्ता नही रह सकता[1]। फिर दूसरी जगह उसी नीति मे लिखा है कि "वे व्यक्ति, जो चरित्रवान हैं, और अन्यों को चरित्रवान वनाने की प्रेरणा किया करते हैं, समय के वनाने वाले हुआ करते हैं अर्थात् उनके अधिकार में होता है कि जिस प्रकार का चाहें समय को वना लेवे[2]।

(३) एक अंगरेज़ विद्वान् "एलेकजेन्डर गून" ने एक पुस्तक इसी समय वाद की समस्या पर लिखी है और उसमें, इस वाद के अनेक पहलुओं पर विचार करते हुये उसने अपनी सम्मति अंत में यह दी है कि "समय घटनाओं का रचयिता नहीं होता किन्तु घटनाओं के घटित होने से उसकी प्रसिद्धि होती है[3]। गून महाशय के भाव स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है:—सन् १८५७ ई० में ग़दर हुआ था। क्या ग़दर इस वर्ष (१८५७ ई०) ने कर दिया? गून कहता है कदापि नहीं। इस वर्ष ग़दर हुआ था और वह सिपाहियों ने किया था इसलिये यह सन् "ग़दर के सन्" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

(४) अथर्ववेद में एक जगह, समय के संवंध में, इस

---

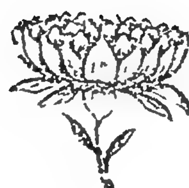
(१) यदि कालः कारणं हि कस्मात् धर्मोस्ति कर्तृपु ॥ (शुक्रनीति)

(२) आचारप्रेरको राजा ह्येतत् कालस्य कारणम् ॥ (शुक्रनीति)

(३) Problem of Time by Alexander Gunne गून महाशय के शब्द ये हैं:—"Time is not the Creator of events, but by them Created".

प्रकार लिखा हुआ है:—"(यह काल) हज़ारों आंखों वाला और बहु शक्तिसंपन्न है। समस्त संसार इसके चक्र में है। उस (काल) पर ज्ञानी पुरुष चढ़ा करते हैं[1]। अर्थात् ज्ञानवान् पुरुषों का अधिकार होता है, जैसा कि शुक्राचार्य्य ने कहा है कि समय को जिस प्रकार का चाहें बना लेवें।

उपर्युक्त विवरण प्रकट करता है कि समयवाद, भाग्य आदि वादों की तरह, सारहीन है और समय का अधिकार नहीं कि मनुष्य की स्वतंत्रता खोसके।



(१) सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ (अथर्ववेद १८। ५३। १)

सातवां अध्याय

ईश्वर की त्रिकालज्ञता

परतंत्रता के कथित अनेक कारणों में से एक कारण ईश्वर की त्रिकालज्ञता भी, प्रकट की जाती है। कहा यह जाता है कि ईश्वर, सर्वज्ञ होने से, तीनों कालों की बातें जानता है और हम जो भविष्य में करने वाले हैं, वह सब भी, उसके ज्ञान में पहले से मौजूद है। जब हमारे, कर्म, करने से पूर्व ही से, ईश्वर जानता है कि हम क्या करेंगे और उसका ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता, तो फिर हमतो विवश हुये न, कि जैसा वह जानता है, वैसा ही करें, फिर इच्छा या कर्मस्वातंत्र्य कहां रहा? यह प्रश्न चिरकाल से, विद्वानों के विचार कोटि में रहा और अब भी है। हमारे विचार में, इसका जो कुछ समाधान है, उसको प्रकट करने से पहले, यत्न किया जावेगा कि समय समय पर, विद्वानों के किये हुये विचारों का निष्कर्ष, पाठकों के सन्मुख, रख दिया जावे जिससे उन्हें, अपने लिये, कोई परिणाम निकालने में, सुगमता हो।

क्या ईश्वर की त्रिकालज्ञता मनुष्य के परतन्त्रता का, कारण है?

(१) स्टोइक्स—स्टोइक्स ने, ईश्वर की सर्वज्ञता की रक्षा के धुन में, इच्छास्वातंत्र्य को उड़ा ही दिया था।

(२) लैम्बलीचस—लैम्बलीचस ने प्रकट किया कि जो बातें, अनिश्चित और संदिग्ध हैं, ईश्वर, उन्हें भी निश्चित रूप में जानता है क्योंकि वह त्रिकालज्ञ है।

(३) सेन्ट आगस्टिन—जो कुछ भविष्य में होने वाला है, ईश्वर को, उसका ज्ञान पहले से किस प्रकार हो सकता है ? आगस्टिन, योग के आचार्य्य पतंजलि का अनुकरण करते हुये, कहता है कि ईश्वर के लिये भूत और भविष्यतकाल कुछ नहीं, उसका एक ही, वर्तमान काल है। "कदापि नहीं". "पहले" "उस समय", इन शब्दों का, ईश्वर के दिव्य जीवन में, कोई महत्व नहीं है। ईश्वर दोनों (भूत+वर्तमान) को, एक साथ देखता है और ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गोचर वस्तु का, रचयिता है, जो अपने अपने समय पर प्रकट होती रहती हैं। कोई अनिश्चित काम, संसार में नहीं हुआ करता क्योंकि ईश्वर उन्हे पहले से देख लेता है और ईश्वर इसलिये उन्हें देख लेता है कि वे होने वाले होते हैं।

(४) एक्यूनस—ईश्वर की त्रिकालज्ञता से संबंधित, सेंट आगस्टिन के विचारों का, संशोधन करता हुआ, एक्यूनस अपनी सम्मति इस प्रकार देता है:—"ईश्वर जो कुछ जानता है, वह अवश्यंभावी है और जो कुछ हम जानते हैं, वह भी अवश्य होना है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान, हमारे ज्ञान की अपेक्षा, अधिक निश्चित है। ऐसा होने पर भी, कोई बात जो अचानक होजाया करती है, उसके लिये पहले से यह नहीं कह सकते कि अवश्य होगी इसलिये, ऐसी बातें, ईश्वर के ज्ञान में भी नहीं होतीं।" एक्यूनस फिर कहता है कि:—"वह (ईश्वर) नित्य और उसका, नित्यत्व भी, नित्य है जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान-कालीन सभी वस्तुयें और घटनाये, चाहे वे नियमानुकूल हुई या अचानक घटित होगईं, ईश्वर को उनका ज्ञान है। इसके साथ ही, भविष्य की, उन बातों का भी,

उसे ज्ञान है, जिन के तात्कालिक कारण, अपना काम. पूरा कर चुके हैं और ईश्वर के ज्ञान में हैं। × ××× ईश्वर इच्छा करता है और पहले से हमारे समस्त कृत्यों को जान लेता है और स्वाभाविक रीति से, पूर्व से, हमें प्रेरणा हो जाती है। इस प्रकार हमारे कृत्य, ईश्वर के द्वारा पूर्व से निश्चित हो जाते हैं, परन्तु साथ ही यह भी निश्चय हो जाता है कि उन्हें हम, स्वतंत्रता के साथ, एक खास ढंग से करेंगे।"

(५) डंस स्कॉटस— 'ईश्वर के विचार में, ऐसी बातें नहीं रहा करतीं जिन्हे, भाग्य की तरह, किये जाने के लिये मनुष्य बाधित किये जासकें"।

(६) वोसूट—"हमारे, स्वतंत्रता से, किये कर्मों को, वह (ईश्वर) पहले से नहीं जानता और इन कार्य्यों को जब हम करेंगे तब भी वह उन्हें नहीं देखेगा"।

मनुष्य का इच्छा-स्वातंत्र्य भी बना रहे और ईश्वर की त्रिकालज्ञता मे भी भेद न आवे, इसके लिये वोसूट ने चार सूरत पेश की हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

पहली सूरत—"जो काम मनुष्य, इरादे से, करे उसे इच्छा-स्वातंत्र्यगत, समझना चाहिये। वोसूट, अपना भाव जो उपर्युक्त कथन से था, इस प्रकार स्पष्ट करता है:—

पहला पाप (आदम के फल खाने रूप) करने से पहले, मनुष्य कर्म करने में पूरे स्वतंत्र थे, परन्तु जब उसने, पहला पाप कर डाला, तब ईश्वर ने, अपनी पूर्णता से सब कार्य्यों को, इस प्रकार व्यवस्थित किया जिससे, वे हमारी इच्छा पर निर्भर रहें और अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से, इस

प्रकार का हमको बना देता है जिससे हमारी इच्छा वही हो, जिससे वह (ईश्वर) प्रसन्न हो" ।

बोसूट के मत में, इस प्रकार समझने से, ईश्वर की त्रिकालज्ञता और हमारे अपने कर्मों के उत्तरदायित्व में, कोई असंगति नहीं रह जाती परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि पहला पाप होने से पहले, उस (ईश्वर) में, त्रिकालज्ञता नहीं थी और उसके बाद, मनुष्यों में स्वतंत्रता नहीं रही ।

दूसरी सूरत—सोलहवीं सदी में, जेसूट मौलिना ने, एक निबंध में, स्वतंत्रता का, ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ, अविरोध प्रदर्शन करते हुये, लिखा था कि "ईश्वरीय ज्ञान के तीन उद्देश्य हैं:—(१) संभवनीय घटनाओं का प्रकट करना, (२) घटित घटनाओं का विवरण देना, (३) सोपाधिक घटनाओं का खोलना । सं० ३ में वर्णित घटनाओं का स्थान. सं० १ और २ के मध्य में है । मौलिना कहता है कि ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उसके उत्पन्न किये हुये प्राणी, स्वतंत्रता से क्या करेंगे ? ईश्वर के इस ज्ञान से, मनुष्य की स्वतंत्रता में, कोई बाधा नहीं पहुंचती + + + ईश्वर प्राणियों की, इस बात को लक्ष्य में रखते हुये कि वे, प्राप्त स्वतंत्रता से, किस किस समय क्या क्या करेंगे, अपने आदेशों को मर्यादित किया करता है । वह, प्रतीक्षा करता हुआ देखता है कि हमारी इच्छाओं का रुख किधर है और इसके जानने के बाद, अपने आदेशों को, हमारे निश्चयों के संबंध में, निश्चित करता है ।" बोसूट, उपर्युक्त उद्धरण देने के बाद, उस पर आक्षेप यह करता हैं, कि इस वाद के रू से, ईश्वर के आदेश वस्तुओं के, आदिकारण, नहीं हो सकते । परन्तु बोसूट ने यह नहीं विचारा कि

किस प्रकार, स्वतंत्रता से किया हुआ, कोई अचानक कर्म, अनादिकाल से, ईश्वर के ज्ञान में आ सकता है ?

तीसरी सूरत—तीसरा समाधान यह है कि ईश्वर हमको, विशेष कार्य्यों की ओर खींच लेता है:—(क) विषयों की तरतीब और उन परिस्थितियों के द्वारा, जिनमें उस (ईश्वर) ने हमको रक्खा है। (ख) उन विचारों के द्वारा, जिन्हें उसने, हमारे मस्तिष्कों में, भर दिया है। (ग) उन आवेगों के द्वारा जिन्हें वह हमारे हृदयों में, उत्पन्न करता रहता है। अस्तु। ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे वह (ईश्वर) अपने मन्सूबों के द्वारा करने में, अपनी सर्व शक्तिमत्ता से, काम में न ला सकता हो। इस लिये यदि वह चाहे कि हमारी इच्छाशक्ति पर अधिकार प्राप्त करले और साथ ही हमें स्वतंत्र भी रक्खे तो ये दोनों काम, एक साथ करने में वह समर्थ है।

चौथी सूरत—इसे थौमिस्ट[१] लोगों ने उपस्थित किया था जिसे "पूर्वनिश्चयवाद[२]" कहते हैं। वाद का रूप यह है कि ईश्वर हमारे मस्तिष्क पर, तत्काल इस प्रकार का काम करता है जिससे हम कोई काम, विशेष (ईश्वरेच्छित) रीति से करना स्थिर कर लेते हैं, परन्तु वह हमारा स्थिरीकरण स्वतंत्रता-पूर्ण ही रहता है[३]।

---

(१) A follower of the Scholastic Philosophy of Thomas Aquinos.

(२) The Doctrine of Premonition or physical Predetermination

(३) Treatise by Bofsuat (Ch: III, VI, VII and IX.)

(७) जेम्स वार्ड—जेम्स वार्ड कहता है कि आस्तिकवाद के प्रकाश में, त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में, जो तर्क सिद्ध विचार है, वह यह है:—"ईश्वर प्रत्येक घटना के घटित होने की आज्ञा देता है जिसमें, कर्ता की इच्छा भी शामिल होती है, और ऐसे निर्णायक निश्चय से, आज्ञा देता है जिससे स्पष्ट हो जावे कि विना किसी किन्तु परन्तु के घटनायें उसके निर्णीतव्य में सम्मिलित हैं।"

(८) जोनाथन इडवार्ड—इडवार्ड का कहना है कि "संसार का सब कुछ, पूर्ण रीति से, अनादि काल से, ईश्वर के ज्ञान में है। इसलिये उसके (जगत्-सम्बन्धी) आकार प्रकार और उद्देश्य ऐसी चीज़ें नहीं हैं, जो नई बनी हों या जिनकी बुनियाद किसी नये ज्ञान पर अवलम्बित हो, बल्कि सभी नित्य बने रहने वाले उद्देश्य के लिये हैं।" यदि सब कुछ, इडवार्ड के मतानुसार, नियत है तो फिर ईश्वर के त्रिकालज्ञता के साथ, मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य की संगति लगाने का प्रश्न ही बाकी नहीं रहता।

(९) मारकस डाड प्रोफेसर स्काटलैंड—जोनाथन इडवार्ड के मत पर विचार करते हुए, डाड ने लिखा है:—"इस प्रकार से, यदि ईश्वर, इस सब (जगत्) का असली कारण है तो जगत् के लिये कह देना पड़ेगा कि वह स्वयं ईश्वर का विकसित रूपमात्र है, न कोई जगत् की उत्पत्ति बाक़ी रहती है और न किसी अन्य (व्यक्ति) की इच्छा, ईश्वरेच्छा के सिवा, बाक़ी रहती है, जिसके अनुकूल कोई कर्म हुआ हो।" लोज़े ने, डाड कहता है कि ठीक कहा है:—"घटनाओं के, वास्तविक रूप में, घटित होने से कोई नई चीज़ प्रकट होनी

चाहिये जो पहले नहीं थी; और यह कि इतिहास, जगत् के, नियमबद्धता के साथ, उत्पन्न होने के वर्णन के साथ, कुछ और भी होना चाहिये।" डाड ने, लोज़े के इस मत के संबंध में, लिखा है कि "यह मतालिवा ऐसा है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. इस मतालिवे के पूरा करने से, उपेक्षा की दशा में, जगत् न केवल विचार के अयोग्य और व्याघात दोषपूर्ण होगा बल्कि निरर्थक और अविश्वसनीय भी ठहरेगा।"

(१०) ओरिजन—ओरिजन ने, त्रिकालज्ञता के संबंध में, अपनी सम्मति दी है कि 'ईश्वर की सर्वज्ञता, भविष्य में घटित घटनाओं का कारण नहीं बल्कि उन (घटनाओं) की भावी सत्ता, ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण है कि वह क्या होगी।" ओरिजन (Origen) के शब्द, अंगरेज़ी में इस प्रकार हैं:—"God's prescience is not the cause of things future, but their being future is the cause of God's prescience that they will be."

(११) प्रो० रीड—प्रोफेसर रीड ने, ईश्वर की त्रिकालज्ञता की संगति, इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ, लगाने के लिये, भविष्य के ज्ञान का, भूतकालिक स्मृति के साथ, मुक़ाबिला किया है। उसने, क्रियात्मक रूप में, मान लिया है कि भूतकालिक स्मृति वही है, जो एक बार, भविष्य की ओर, भावी स्मृति थी।

(१२) हामिलटन—रीड के, उपर्युक्त मत पर, विचार करते हुए, उसके शिष्य हमिलटन ने लिखा है कि भूतकाल आवश्यक है, यदि ईश्वर का भविष्यज्ञान हमारी स्मृति से मिलता है तो इसका कारण यह है कि उस (ईश्वर) के लिये

भूत और भविष्यत दोनों, एक जैसे हैं। न तो भूत ही, कोई अचानक घटना है और न भविष्य ही ऐसा है[1]।

(१३) **त्रिकालज्ञता का एक अन्य प्रकार का समर्थन**— एक और, सुगम तरीके से, त्रिकालज्ञता का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि "यह प्रश्न, हमारी समझ और अनुभव से बाहर है।" हमिलटन ने, इस विचार को, इस रूप में, रक्खा है कि "यह विषय समझने का नहीं अपितु विश्वास करने का हैं।" हमिलटन की सम्मति में, वे समस्त प्रयत्न, जो विद्वानों ने, इस प्रश्न की संगति लगाने में किये हैं, निरर्थक और रद्द कर देने के योग्य हैं[2]।

(१४) **प्रो० राइस**—राइस का कथन है कि भविष्य-ज्ञान, ईश्वर को, केवल उन्हीं बातों का होना संभव है, जो साधारण हैं या किसी ज्ञात कारण का निश्चित कार्य हैं। जो कार्य, कर्त्ता द्वारा, स्वतन्त्रता से, किये जाते हैं, उनका, पहले से ज्ञान, न तो किसी मनुष्य ही को हो सकता है और न ईश्वर ही को[3]।

(१५) **त्रिकालज्ञता की दृष्टि से, ईश्वर के दो भेद**— ब्रेडले कहता है कि पूर्णकुल (The Absolute) सब प्रकार

(१) The Works of Thomas Reid (Hamilton's Edtion) p. 631.

(२) The Pluralism by James Wards p 311 and 312.

(३) The World and Individual by Prof. Royce Vol. II p. 374

से, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होना चाहिये परन्तु ईश्वर, जिसकी सत्ता, उस (पूर्णकुल) से स्वतन्त्र है, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता। तात्पर्य इसका यह है कि मनुष्य के कर्मफलादि का सम्बन्ध, पूर्णकुल से नही अपितु ईश्वर से है, जो सर्वज्ञ नहीं, इसलिये, त्रिकालज्ञता का प्रश्न यहीं समाप्त हो जाता है। जेम्स वार्ड ने, ब्रेडले के इस कथन को, उचित रीति से, उस कुत्ते का सा प्रयत्न समझा है जो दो स्वामियों के साथ, चलना चाहता है[1]।

(१६) मार्टीन्यू—कहता है कि इस वन्धन वाले यांत्रिक जगत् में, वन्दी बनाने के स्थान में, मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गई है कि वह उससे काम लेकर, कर्म करे।

प्रश्न—क्या यह ईश्वर के भविष्यज्ञान की सीमावद्धता नही कि वह उन समस्त इच्छाओं और कर्मों का ज्ञान नही रखता, जो मनुष्य, भविष्य में, करने वाले हुआ करते हैं।

उत्तर—सीमावद्धता तो है परन्तु यह स्वयमेव, ईश्वर ही की उत्पन्न की हुई है कि उसने, अपने कर्मप्रेरकत्व का एक भाग, हम को दिया है और उसे वह अपनी सर्वज्ञता से, आच्छादित नही करता।

(१७) डूगैल्ड स्टेवार्ट (Dugald Stewart)—स्टेवार्ट ने मर्टीन्यू के उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हुए, प्रकट किया है कि यदि ईश्वर ने, उत्तमोद्देश्य से, पसन्द किया है कि अपनी प्रजा के लिये, कर्मस्वातन्त्र्य का द्वार खोल दे और उसे, अपनी सर्वज्ञता का क्षेत्र न बनावे तो इसमें कुछ भी अनगैलपन नही है।

---

(१) Cof Lecture by Bradley II p 44

(१८) जोवेट—ईश्वर यद्यपि सब कुछ है परन्तु इस सब कुछ में, यह शामिल नहीं है कि वह, प्राणियों को प्रदान किये हुये, कर्मस्वातंत्र्य मे, बाधा का कारण भी है।

(१९) टैनिसन—इच्छास्वातंत्र्य, निस्संदेह, एक चमत्कार है और यह चमत्कार, ईश्वर ने, अपनी सर्वज्ञता का नियंत्रण और सीमित करते हुये, किया है और इसके द्वारा, स्वयमेव उसने, अपनी सत्ता का चमत्कार दिखाया है[1]।

(२०) राशडाल—राशडाल कहता है कि "ईश्वर की त्रिकालज्ञता को कम किये विना, इच्छा-स्वातंत्र्य स्वीकर्तव्य नहीं हो सकती"। फिर एक दूसरी जगह उसने लिखा है:— "यह निस्संदेह सच है कि ईश्वर जानता है कि हम मे से प्रत्येक कितना पुरुषार्थ (पुण्य की वृद्धि के लिये) कर सकता है और कितनी मात्रा पाप की कम कर सकता है परन्तु हम नहीं जानते और न मनुष्य करने से पहले, यह जान सकता है वह क्या करेगा[2]?" राशडाल के लिये कर्मस्वातंत्र्य या ईश्वर की त्रिकालज्ञता का प्रश्न, इसलिये, बाकी नहीं रहता कि वह आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार नहीं करता, वह कहता है कि "इस वाद की स्वीकृति से, ईश्वर की सत्ता सीमित होती है"। यद्यपि, उसने, एक दूसरी जगह स्वीकार किया है कि "अवश्य ईश्वर ससीम है परन्तु अपनी ही प्रकृति से, और अन्यों की

---

(१) In Memorium (Robinson's Edition) p. 260.

(२) The Theory of Good and Evil by Rashdall p 354 and 355

सत्ता से भी, जिनकी सत्ता का कारण, उसकी वही प्रकृति है[1]।

जब राशडाल ने ईश्वर को ससीम ही स्वीकार किया है तो फिर समझ मे नही आता की आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानने से, उसे, ईश्वर के ससीम होजाने का भय क्यों है ?

(२१) ऋषि दयानंद—ईश्वर की त्रिकालदर्शिता के संबंध मे, निम्न प्रश्नोत्तर, ऋषि दयानन्द का क्या मत था ? इस पर प्रकाश डालते हैं:—

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत की बातें जानता है, वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतंत्र नही।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना ठीक नही, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे, वह भविष्यत-काल कहाता है। क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नही रहता अथवा न होके होता है ? कदापि नही। ईश्वर का ज्ञान, सदा एकरस, अखंडित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत, जीवों के लिये है। हां। जीवों के कर्म की अपेक्षा से, त्रिकालज्ञता, ईश्वर में है, स्वतः नही। जैसा स्वतंत्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से, ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में, ईश्वर स्वतंत्र और जीव किंचित् वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतंत्र है[2]।

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 347 and 348.

(२) सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास पृ० २०२, २०३ (दशवां संस्करण)।

परिणाम—ईश्वर की त्रिकालज्ञता का विषय, अज्ञात-काल से, विवादास्पद चला आ रहा है। विद्वानों में इस विषय के संबंध में, कितना मतभेद है. उसका दिग्दर्शन, उपर्युक्त सम्मतियों से होता है। इस गहन प्रश्न का, सर्वश्रेष्ठ समाधान, वह हो सकता है जिससे, ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव के कर्म करने की स्वतंत्रता में, बाधा न पहुंचे। हम वही समाधान पाठकों के सन्मुख रखना चाहते हैं:—कोई भी कर्म जब प्रारंभ किया जाता है तो सब से पहले, उसका संकल्प मन में उत्पन्न हुआ करता है, वही संकल्प, वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है और उसके बाद आचरण में आजाया करता है[१]। तो कर्म का भाव (सत्ता) संकल्प से प्रारंभ होता है, उससे पहले उस कर्म का अभाव था। ऐसी दशा में, ईश्वर को, अपनी सर्वज्ञता अथवा त्रिकालज्ञता से, क्या जानना चाहिये ? जब से कर्म का भाव है, तब से भाव, और जबतक कर्म का अभाव था तबतक अभाव जानना चाहिये। यदि कर्म के अभाव की दशा में, वह (ईश्वर) उसे भाव जानता है तो उसका ज्ञान अयथार्थ होगा और वह मिथ्याज्ञानी ठहरेगा। इस प्रकार का विचार करने से मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा नहीं पहुंचती। यहां एक बात, ध्यान में, रखनी चाहिये कि ईश्वर को, कर्म की सत्ता का ज्ञान, ऐसा नहीं कि कर्म करने के बाद होता हो किन्तु उसके संकल्प के शुरू होते ही, ज्ञान होना, प्रारम्भ हो जाता है और कर्म करते समय तो उसे (ईश्वर को) पूरा ज्ञान ही कर्म की सत्ता का होता है इसीलिये यह बात कही

---

(१) यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते॥ (शतपथब्राह्मण)

जाती है कि "जैसा स्वतंत्रता से मनुष्य करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से, ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा ही जीव करता है'।" इसका मतलब यह है कि ईश्वर का कर्म ज्ञान और जीव का कर्माचरण, इन दोनों में, कोई पहले और कोई पीछे नहीं होता, अपितु दोनों, साथ साथ होते हैं और इसी से न ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा पहुंचती है न मनुष्य के कर्म-स्वातंत्र्य में।



(१) देखो ऋषि दयानंद की सम्मति।

आठवां अध्याय

कर्म-स्वातन्त्र्य

हम इस और आगे के अध्यायों मे कर्म-स्वातंत्र्य से संबंधित प्रत्येक पहलू पर विचार करना चाहते हैं जिससे पाठकों को विषय मे भलीभांति प्रवेश हो सके। उसके बाद ग्रंथ के अंत के अध्यायों में पश्चिमी दृष्टिकोण से विषय का इतिहास दिया जायगा।

वेदादि शास्त्र और कर्म-स्वातन्त्र्य

वेद मे, मनुष्य को, जगह जगह कर्म करने की शिक्षा दी गई है और बतलाया गया है कि जहां मनुष्य, कर्म करने में स्वतन्त्र है वहां दूसरी ओर फल भोगने में परतन्त्र है। यहां उन शिक्षाओं में से कुछेक का उल्लेख किया जाता है:—

(१) यहां पर कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार (कर्म करना चाहिये कि) तुझ मनुष्य मे कर्म न लिपटे (अर्थात् बंधन का कारण न बने) इस (कर्म करने) से भिन्न (१०० वर्ष तक जीने का) और कोई उपाय नहीं है[१]।

(२) उदार पुरुषो ! उठो और झण्डों के साथ तय्यार हो

(१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजुर्वेद ४०। २)

जाओ। सांप के समान, घातक और शत्रु हैं (उन पर) धावा करो[1]।

(३) हे विद्वानो! अधोगत पुरुषों को तुम फिर उठाओ और अपराध करने वालों को फिर तुम जीवन दो[2]।

(४) इस (वर्तमानस्थिति) से आगे बढ़, मत नीचे गिर, मृत्यु के पाश को तोड़ता हुआ, आगे बढ़। इस लोक से (तथा), अग्निरूप, सूर्य के तेज से, मत अलग हो[3]।

इन और ऐसे अनेक मन्त्रों मे, मनुष्यों को पुरुषार्थ करने की शिक्षा दी गई है। जब मनुष्य को करने न करने दोनों का अधिकार था, तभी तो करने की प्रेरणा की गई है। यदि मनुष्य, कर्म करने के लिये, यन्त्र की तरह, बन्धन में होता तब इस प्रकार की शिक्षा देने की, कोई उपयोगिता ही नही हो सकती थी, इसलिये स्पष्ट है कि वेद कर्म-स्वातन्त्र्य की शिक्षा देते हैं। अब कर्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे, दर्शनों का, क्या सिद्धान्त है, यह प्रदर्शित किया जाता है:—

न्यायदर्शन में, एक जगह, शंका की गई है कि "पुरुष के कर्मों का, वैफल्य देखने से, (उस वैफल्य का) ईश्वर कारण है[4]।"

---

(१) उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदारा. केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥
अथर्ववेद ११। १०। १२।

(२) उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुन·॥ अथर्ववेद ४। १३। १॥

(३) उत्क्रामातः पुरुषमावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमान।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥
अथर्ववेद ८। १। ४॥

(४) ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्॥ (न्याय० ४। १। १९)

न्यायदर्शन

अर्थात् कर्मों से कुछ नहीं होता, सुख दुःख सभी, ईश्वर की ओर से मिला करता है। न्यायदर्शनकार ने, दो सूत्रों में, इसका उत्तर इस प्रकार दिया है:—"पुरुष के कर्म के अभाव में, फल की निष्पत्ति न होने से, उक्त कथन अर्थात् ईश्वर, विना कर्मों का लिहाज किये, सुख दुःख, अपनी ओर से दिया करता है ठीक नहीं है[१]।" "ईश्वर (के कर्मफल का) कारित होनेसे (उक्त हेतु) अहेतु है[२]"।

भाव स्पष्ट है कि कर्म मनुष्य किया करता है और उसका फल, ईश्वर दिया करता है। जब फल में मनुष्य की परतंत्रता है तो कर्म में स्वतंत्रता न हो, यह कैसे संभव है?

वेदान्तदर्शन में भी, जीव के कर्मस्वातंत्र्य का उल्लेख किया गया है:—"विहार अर्थात् जीव के यथेष्ट विचरने के

वेदान्तदर्शन

उपदेश से पाया जाता है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है[३]"। "कर्म में (उनके करने के विधान) कथन से भी (कर्म स्वातंत्र्य पाया जाता है) नहीं तो (कर्म करने की शिक्षा का) बताना व्यर्थ होगा[४]" "(किसी वस्तु की) प्राप्ति के सदृश, यह भी नियम नहीं है (कि जीव अपने लिये, सुखदायक कर्म ही करे[५])।

"शक्ति के विपरीत होने से (अनुकूल और प्रतिकूल) दोनों

(१) न, पुरुषकर्माभावे फलाऽनिष्पत्तेः ॥ (न्याय० २०)
(२) तत्कारितत्वादहेतुः ॥ (न्याय० २१)
(३) विहारोपदेशात् ॥ (वेदान्तदर्शन २ । ३ । ३४)
(४) व्यपदेशाच्च क्रियायां, न चेन्निर्देशविपर्ययः (वेदा० २ । ३ । ३६)
(५) उपलब्धिवदनियम (वेदान्तदर्शन २ । ३ । ३७)

प्रकार के, कर्म करने की शक्ति है इसलिये मनुष्य अपने लिये, उलटे काम भी, कर लेता है[1]" ।

"समाधान न होने से (चित्त का समाधान न रहने से) मनुष्य अपने लिये अहित कर्म भी, कर लिया करता है[2]"?

वेदान्त के, जिन थोड़े से सूत्रों का भाव, ऊपर प्रकट किया गया उनसे साफ तौर से प्रकट है कि मनुष्य में कर्म करने की शक्ति है और वह, उसका अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों प्रकार का प्रयोग किया करता है। अर्थात् अपने लिये अहित काम भी कर डाला करता है और इसका कारण उसकी बुद्धि की विषमता है।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने भी, कर्त्ता का, कर्म-स्वातंत्र्य, प्रतिपादन किया है:—

कर्म करने में, पुरुष की, कर्त्तारूप से, श्रुति पाये जाने से, कर्मों के करने में, स्वतंत्र होना पाया जाता है[3]।

इस प्रकार अन्य दर्शन, उपनिषद् तथा गीता आदि ग्रंथों में जीव के लिये कर्मस्वातंत्र्य का विधान किया गया है। हम ऋषि दयानन्द की सम्मति कर्म-स्वातंत्र्य के संबंध में लिख कर "पूर्व में कर्म-स्वातंत्र्य के इस संक्षिप्त विषय को समाप्त करेंगे।

ऋषि दयानन्द और कर्म-स्वातंत्र्य

जीव की स्वतंत्रता के संबंध में, कुछेक प्रश्नोत्तर, ऋषि दयानन्दकृत, सत्यार्थ-प्रकाश से यहां उद्धृत किये

---

(१) शक्तिविपर्ययात् ॥ (वेदान्त० २ । ३ । ३८)

(२) समाध्यभावाच्च ॥ (वेदान्त० २ । ३ । ३९)

(३) प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगेस्यात् ॥ (पूर्वमीमांसा ६ । २ । २)

जाते हैं जिससे उनके मत का ज्ञान, पाठकों को, सुगमता से, हो जावेगा:—

प्रश्न—जीव स्वतंत्र है या परतंत्र ?

उत्तर—अपने कर्तव्य-कर्मों में स्वतंत्र और ईश्वर की व्यवस्था (फल भोगने आदि) में परतंत्र है। "स्वतंत्रः कर्त्ता" यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है, जो स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतंत्र किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अंतःकरणादि हों, जो (जीव) स्वतंत्र न हो, तो उसको पाप पुण्य का फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भृत्य (सेवक), स्वामी, और सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से, युद्ध में, अनेक पुरुषों को मारकर, अपराधी नहीं होते वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता से, काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे'+ + +।

कर्म-स्वातंत्र्य के संबंध में, समष्टिरूप से, उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण देने के बाद कर्म और फल के संबंध में कुछ तफ़सील के साथ आगे के पृष्ठों में विचार करना चाहते हैं।

---

(१) सत्यार्थप्रकाश, सप्तमसमुल्लास पृष्ठ २००, २०१ (दशवां संस्करण)।

नवां अध्याय

योगदर्शन में एक जगह कर्म के तीन भेद बतलाये गये हैं:—(१) शुक्ल अर्थात् अच्छे (पुण्य) कर्म, (२) अशुक्ल अर्थात् बुरे (पाप) कर्म, (३) शुक्लकृष्ण अर्थात् पापपुण्य मिश्रित[1]।

कर्म के भेद

गीता में भी कर्म के तीन ही भेद किये हैं और वहां (१) कर्म, तात्पर्य अच्छे कर्मों से है, (२) विकर्म, अर्थात् उलटे कर्म और (३) अकर्म—यहां गीता के प्रकार की दृष्टि से अकर्म का अभिप्राय कर्म न करने से नहीं अपितु फल के त्याग की भावना के साथ, असंग होकर, कर्म करने को अकर्म कहा गया है[2]। योगदर्शन में भी ये कर्म योगियों से भिन्न मनुष्यों के कहे गये हैं योगी, कर्म करता हुआ भी, इन कर्मभेदों से ऊपर समझा गया है। इस बात पर दृष्टिपात करते हुए कर्म के दो ही भेद किये जाया करते हैं:—(१) एक वे कर्म जो बुरे नहीं अपितु अच्छे ही हैं परन्तु फल की इच्छा के साथ किये जाते हैं और जिन्हें सकाम कर्म कहते हैं, (२) दूसरे वे जो फल की इच्छा न करके किये जाते हैं और जिन्हें कर्त्ता फल की इच्छा से नहीं बल्कि कर्त्तव्यपालन की भावना के साथ करता है। इसी कर्म को गीता में कर्मयोग और

---

(१) कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥

(योगदर्शन ४।७)

(२) कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ (गीता ४। १७)

उपनिषदादि में निष्काम कर्म कहा गया है। कर्म के इन, दो विभागों का, मुख्य भेद यह है कि पहले कर्म एक वासना पैदा करते हैं जो कर्त्ता को बन्धन में रखने का कारण हुआ करती हैं परन्तु दूसरे प्रकार के कर्म इस प्रकार की बन्धन में लाने वाली वासना, नहीं पैदा किया करते हैं और इसीलिये उन्हें बन्धन से छुड़ाने (मुक्ति) का कारण माना जाता है। इस वासना का कुछ तफ़सील के साथ आगे विवरण दिया जायगा।

कर्म करने से, कर्म के अच्छे बुरे होने के लिहाज़ से, कर्त्ता को, उसी के अनुसार अच्छा और बुरा फल मिला करता है।

कर्मफल

कर्म और फल के संबंध में अनेक बातें विवादास्पद हैं, जैसे कर्म और फल की सीमा क्या है, क्या कर्म स्वयमेव फल दे देता है, यदि नहीं तो फलदाता कौन है? इत्यादि। हम यहां यत्न करेंगे कि कर्म और फल के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश पड़े और सुगमता से प्रत्येक बात समझ ली जावे। सब से पहले इस बात पर विचार किया जायगा कि कर्म और फल की सीमा क्या है?

कर्म और फल की सीमा

कुछ लोगों का कहना है कि कर्म के अन्तिम भाग ही से फल शुरू हुआ करता है जैसे एक आदमी ने, कल्पना करो, चोरी की तो अन्त में इस कृत्य से उसे जो धन मिला वही इस कर्म का फल हुआ। उनकी दृष्टि में पुण्यापुण्य, अच्छा बुरा और धर्माधर्म आदि सब निरर्थक शब्द हैं। यहां हम पुण्यापुण्य आदि पर विचार नहीं करना चाहते, केवल कर्म की सीमा देखना चाहते हैं। यदि उपर्युक्त कथन ठीक मान लिया जावे कि चोरी द्वारा

धन मिलना ही फल है तो देखना चाहिये कि कर्म की सीमा क्या हुई ? मामला बिलकुल साफ़ तौर से समझ लिया जावे इसलिये एक उदाहरण दिया जाता है।

एक मेज़ पर कल्पना करो कि एक घड़ी रक्खी हुई है और मेज़ के एक किनारे से उसका अन्तर १९ इंच है, २० वें इंच में वह घड़ी है। अब एक चोर उस घड़ी को चुरा लेता है तो उपर्युक्त कथन के अनुकूल चोर का हाथ जब तक १९ वें इंच तक रहा तो वह तो हुई चोरी के कृत्य की सीमा और बीसवें इंच में जब उसका हाथ पहुंचा और उसने घड़ी उठाली तो वह २० वें इंच में घड़ी पर चोर का हाथ पहुंचना और घड़ी उठाना, यह हुई फल की सीमा। यदि स्थिति यह स्वीकार कर ली जावे तो स्वाभाविक रीति से एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि चोर का हाथ जब तक १९ वें इंच तक रहे और २० वें इंच में रक्खी हुई घड़ी को वह न छूए तो क्या वह व्यक्ति चोरी करने का अपराधी समझा जावेगा और कोई न्यायाधीश उसे चोरी के अपराध में दंडित कर सकेगा ? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर, कोई भी, हां में देने का साहस नहीं कर सकता। इसलिये कर्म और फल की सीमा का उपर्युक्त वाद ठहरने योग्य नहीं। असल में २० वें इंच में जब चोर अपना हाथ पहुंचा कर घड़ी उठा लेता है तो यहां तक तो केवल कर्म ही की सीमा है फल, बिलकुल, इस कृत्य की सीमा से पृथक् वस्तु है। उसकी सीमा कर्म की सीमा से सर्वथा स्वतन्त्र है।

एक उदाहरण

कर्म द्रव्यों में से चेतनद्रव्य के आधीन हुआ करता है। चेतनद्रव्य आत्मा है और आत्मा से सम्बन्धित मन भी, आत्मा

क्या कर्म स्वयं फल दे सकता है ?

की प्रेरणा से साधनरूप से, कर्म का कारण, समझा जाया करता है। बाक़ी सभी वैशेषिकवर्णित द्रव्य जड़ हैं। गुण द्रव्य के आश्रित हुआ करते हैं। उन्हीं गुणों को काम में लाने के लिये जब चेतनद्रव्य आत्मा, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, सिकोड़ना, फैलाना, गति देना (चलना आदि) क्रियाओं में से कोई क्रिया करता है तब उसी का नाम कर्म हुआ करता है। अन्य द्रव्यों की क्रिया जैसे पृथिवी का घूमना, वायु का चलना आदि जड़तापूर्ण क्रिया तो कही जा सकती हैं परन्तु इन्हें कर्म कोई नहीं कह सकता। क्रिया द्रव्य के आश्रित हुआ करती है, स्वयं द्रव्य नहीं होती और वह जड़ भी होती है। अन्य जड़ द्रव्यों की क्रिया और चेतनद्रव्य की क्रियाओं में अन्तर यह होता है कि पहली जड़, जड़तापूर्ण और जड़-द्रव्याधीन, हुआ करती है और दूसरी जड़ तो होती है परन्तु चेतनद्रव्य की समझी हुई क्रिया हुआ करती हैं और इसी लिये वे कर्म कही जाती हैं। अब थोड़ा फल पर विचार कीजिये कि वह क्या वस्तु है ?

फल क्या वस्तु है ?

कर्म का फल जिसे कहते हैं वह दुःख और सुख है यही फल कहे और समझे जाते हैं। एक जगह वैशेषिकदर्शन में कहा गया है कि आत्मा (जीव), मन और इन्द्रिय मिल कर जब किसी, विषयरूप, रसादि को छूते हैं तब मनुष्य को सुख और दुःख हुआ करता है[1] अर्थात् दुःख सुख का कारण, आत्मेन्द्रिय और मन का इन्द्रियों के विषय के साथ स्पर्श करना है।

(१) आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥
(वैशे० ५ । २ । १५) ॥

आत्मा का मन और इन्द्रिय के द्वारा विषय का स्पर्श करना कर्म है और इसी कर्म का फल सुख दुःख हुआ करता है।

अब यहां विचारणीय विषय यह है कि फल केवल सुख को नहीं कहते किन्तु फल का दूसरा अंश दुःख भी है। यदि यह कल्पना की जावे कि ये दुःख सुख, कर्म स्वयं पैदा कर लेते हैं तो निम्न हेतु इस कल्पना को ठहरने नहीं देते:—

(१) वैशेषिकदर्शन में एक जगह कहा गया है कि कर्म से उत्पन्न हुआ कार्य (फल) जिसका विरोधी हो वह कर्म है[1]।

सभी कर्म अपने कार्यों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाया करते हैं, जब कर्म कार्य को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं तब यह कल्पना, कि कर्म स्वयमेव मनुष्यों को फल दे दिया करता है, क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।

(२) कर्म, कहा जा चुका है कि जड़ होते हैं वह किस प्रकार ऐसा फल उत्पन्न कर सकते हैं जो कर्म और न्याय दोनों के अनुकूल हो। ऐसा फल तो कोई चेतन, ज्ञानी, न्यायी, निष्पक्ष व्यक्ति ही दे सकता है। इसीलिये वेदान्तदर्शन में कहा गया है कि "(जीव फल भोगने में) ईश्वर से तो (स्वतन्त्र नहीं) श्रुतिप्रतिपादित होने से[2]।" अर्थात् वह फलदाता ईश्वर है। परन्तु क्या ईश्वर अन्धाधुन्ध जिस को जो चाहे दुःखसुखरूप फल दे सकता है? इसका निषेधपरक उत्तर देते हुए उसी दर्शन में कहा गया है कि ईश्वर से जीव सुख दुःख प्राप्त करने में अपने किये कर्मों की अपेक्षा रखता है

---

(१) कार्य्याविरोधि कर्म ॥ (वैशे० १ । १ । १४)

(२) परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ (वेदान्त २ । ३ । ४१)

अर्थात् ईश्वर जीव के कर्मानुसार ही फल दिया करता है[1]।

यदि कोई कहे कि इसमें ईश्वर की क्या ज़रूरत है, जीव स्वयमेव अपने कर्म का फल प्राप्त कर लेगा। परन्तु यह बात एक क्षण के लिये भी नहीं सोची जा सकती कि जीव स्वयमेव फल प्राप्त कर लेगा क्योंकि जीव केवल ऐसे ही कर्म नहीं करता कि जिसका सुखरूप फल ही उसे प्राप्त हो किन्तु मन और इन्द्रियों की चंचलता से ऐसे कर्म भी कर लिया करता है जिसका फल दुःख होना चाहिये। ऐसी दशा में क्या वह अपने ऐसे दुष्कृत्यों का फल दुःख भी स्वयमेव प्राप्त कर लेगा? क्या चोरी करके चोर स्वयं जेलखाना चला जाना पसन्द करेगा? क्या किसी व्यक्ति का वध करके वधकर्त्ता स्वयमेव फांसी पर लटकना पसन्द करेगा? इन प्रश्नों के उत्तर कोई हां में नहीं दे सकता। इसलिये न तो कर्म स्वयमेव फल उत्पन्न कर सकता है न कर्त्ता स्वयमेव अपने कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है।

क्या अन्यों के कर्म का फल अन्यों को मिल सकता है?

यह बात देखी जाती है कि कुछेक संपन्न व्यक्ति एक पंडित को नियुक्त कर लेते हैं कि वह उनके लिये गायत्री का जप कर दिया करे। इस कृत्य से वे समझा करते हैं कि गायत्री के जप का फल उन्हें मिल जायगा। ऐसे पुरुष न कर्म की हकीक़त जानते हैं न जप की मर्यादा। अन्यथा उनको मालूम हो जाता कि पंडित के जप का फल पंडित के सिवा अन्य

(१) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥

(वेदान्त० २।३।४२)

किसी को नहीं मिल सकता। यदि यह कल्पना स्वीकार करली जावे कि अन्यों के कर्मों का फल अन्यों को मिल सकता है तो दुनियां में अपने किये हुए कृत्यों का फल कोई भी स्वयं भोगना पसंद नहीं करेगा सब चाहेंगे कि उन्हें दूसरों के सिर मढे और खास कर अमीर आदमी तो अनेक गरीबों को, अपने बुरे कर्मों का फल भोगने के लिये, खरीद लिया करेंगे। इस प्रकार कोई भी व्यवस्था बाक़ी नहीं रह सकती। इसलिये नियम यही श्रेयस्कर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का स्वयं उत्तर-दाता हो और उसका फल भी स्वयं भोगे।

पूर्वमीमांसा का मत

इस संबंध में महामुनि जैमिनि ने अपने दर्शन में कुछेक प्रश्नोत्तर अंकित किये हैं। उन्हें संक्षिप्तरीति से यहां उद्धृत किया जाता है:—

(१) अन्य के कर्म का फल अन्य को होता है, यदि ऐसा मानो तो उत्तर यह है कि अन्य के कर्मों का फल अन्य पुरुष से संबंध नहीं रखता, क्योंकि वे कर्म उसके किये हुये नहीं होते[1]।

(२) किसी अन्य के लिये फल की कामना करना ही अन्य के लिये फल का निमित्त हो सकता है यदि ऐसा कहो तो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा का नित्य नियम है कि प्रत्येक अपने ही कर्म का फल पावे[2]।

(३) दूसरे कर्मों का फल दूसरे को प्राप्त होता है, ऐसे कर्म पाये जाते हैं यदि ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि

---

(१) अन्यस्य स्यादितिचेत्॥ (पूर्वमीमांसा ६।२।७)
अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः॥ (पूर्वमीमांसा ६।२।८)

(२) फलकामो निमित्तमितिचेत्॥ (पूर्वमीमांसा ६।२।९)
न नित्यत्वात्॥ (पूर्व० ६।२।१०)

जीव का अपने कर्मों के साथ ही संबंध पाया जाता है[1] । वैशेषिककार की भी ऐसी ही सम्मति है ।

वैशेषिक का मत

वैशेषिकदर्शन में दान देने के संबंध में विचार करते हुये एक जगह लिखा गया है कि दानक्रिया बुद्धिपूर्वक पाई जाती है[2] और उसके साथ ही यह भी कहा गया है कि दान ग्रहण करना भी बुद्धिपूर्वक ही है[3] ।

वेद में दान का फल दाता को और प्रतिग्रह का फल प्रतिगृहीता को बतलाया गया है और यह बुद्धिपूर्वक है क्योंकि एक आत्मा के किये कर्म का फल दूसरी आत्मा को नहीं मिल सकता[4] । मीमांसा और वैशेषिक के उपर्युक्त मत भी, स्पष्ट है कि इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि किसी एक के कर्म का फल दूसरे को नहीं मिल सकता । तर्क भी उसी पक्ष का पोषक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने किये को स्वयमेव भोगे । अस्तु !

इस बात के प्रमाणित हो जाने पर, कि अन्य के कर्म का फल अन्य नहीं भोग सकता, एक दूसरा प्रश्न इसी संबंध में

(१) कर्म तथेतिचेत् ॥ (पूर्व० ६ । २ । ११)
न समवायात् ॥ (,, ६ । २ । १२)

(२) बुद्धिपूर्वो ददाति ॥ (वैशेषिक ६ । १ । ३)

(३) तथा प्रतिग्रहः ॥ (,, ६ । १ । ४)

(४) आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥
(वैशेषिक ६ । १ । ५)

अर्थात् "अन्य आत्मा के गुणों को अन्य आत्मा में कारण न होने से ॥"

क्या अन्यों के कर्मों से अन्यों को दुःख सुख प्राप्त हो सकता है ?

उठता है कि क्या अन्यों के कर्म-फल से नहीं अपितु अन्यों के कर्ममात्र से, अन्य दुखी सुखी हो सकते है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधपरक नहीं दिया जा सकता। इस वाद के समर्थक हेतु इस प्रकार हैं:—

(१) मनुष्य, समाज का व्यक्ति है, उसका काम विना समाज के नहीं चल सकता। इसलिये उसकी सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि समाज बने। समाज पारस्परिक सहायता के विना नहीं वन सकता। सहायता का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे की ज़रूरत पूरी करे। जब इस प्रकार एक दूसरे की ज़रूरत पूरी किया करते हैं तब समाज बना करता है। अतः स्पष्ट है कि विना इस प्रकार की सहायता के समाज नहीं वन सकता और समाज बना हुआ मौजूद है इसलिये अनिवार्य्य रीति से, यह मानने के लिये, वाधित होना पड़ता है, कि एक के कर्म से दूसरे को हानि लाभ पहुंचा करता है।

(२) दान, जिसका संसार के सभी सम्प्रदायों और समाजों में मान है और जिसका करना प्रायः सभी ने धार्मिक कर्तव्य ठहरा रक्खा है, क्या है ? वह यही है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे को लाभ पहुंचावे। कल्पना करो कि शीत की ऋतु में कुछ ग़रीब व्यक्तियों के पास, शीत से अपनी रक्षा करने के साधन नहीं हैं। एक संपन्न दानी ने उन सबको रजाई अथवा कंबल प्रदान कर दिये। फल उसका यह हुआ कि उन सभी ग़रीबों का कष्ट दूर होगया और उन सभी को सुख प्राप्त हुआ। इसी दान के संबंध में वेद में एक सूक्त है जिसके एक मंत्र का भाव यह है:—"दान करने से घोड़ा, गौ

(आदि पशु), सोना चांदी, और अन्न मिलता है इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य दान को अपनी रक्षा के लिये कवचरूप से धारण करता है[1], इत्यादि। यहां प्रश्न यह है कि इस दान से अथवा ऊपर के उदाहरण में जिन लोगों को कम्बल आदि के मिलने से सुख हुआ उस सुख का कारण तो दानी का कर्म ही है। उसका फल तो दानी स्वयं पावेगा क्योंकि यह दान उसी का कर्म था परन्तु उसके दानरूप कर्म से अनेक ग़रीबों को लाभ हुआ।

एक दूसरा उदाहरण

एक गृहस्थ के घर मे चोरी होगई और चोर ने उसका समस्त धन अपहरण कर लिया। उस गृहस्थ के सभी व्यक्ति, जो उस परिवार में थे, दुखी होगये। उन्हें यह दुःख चोरों के चोरीरूप दुष्कृत्य ही से तो प्राप्त हुआ इस दुष्कृत्य का फल तो उन्हें (चोरों को) स्वयं भोगना पड़ेगा परन्तु उनके कर्म ने अनेक व्यक्तियों को दुखी कर दिया।

(३) जब दूसरों के कर्म से कोई पुरुष सुखी होने के सिवा दुखी भी हो सकता है तो फिर उसका कर्त्तव्य यह हो जाता है कि जहां अपने को अच्छा बनाने के लिये यत्न करे वहां दूसरों को भी अच्छा बनाने के लिये पुरुषार्थ करे तभी समाज अच्छा बन सकता है। इसीलिये विद्वानों ने नियम बना रक्खा है कि "मनुष्य को अपनी ही उन्नति में नहीं बल्कि सबकी उन्नति में सन्तुष्ट होना चाहिये"[2]। अंगरेज़ी शब्द

(१) दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणाचन्द्रमुतयद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥
ऋ० १० । १०७ । ७ ।

(२) यह आर्य्यसमाज का नवां नियम है।

(Society) सुसाइटी के अर्थ ही साझे की हालत ((A state of Partnership) के हैं।

(४) वेद की शिक्षा भी इस पक्ष का समर्थन करती है:-

(क) ऋग्वेद में एक जगह लिखा है कि "अच्छे पुरुषों के कर्म हमारे लिये सुखदायक हों[1]"।

(ख) अथर्ववेद में एक जगह उपदेश दिया गया है कि "अन्य प्राणियों के संबंध में जो कर्तव्य है अर्थात् उन का अच्छा बनाना, उसकी पूर्ति में प्रमाद नहीं करना चाहिये[2]।"

(ग) फिर अथर्ववेद ही में एक दूसरी जगह अंकित है कि "यदि माता के या पिता के किये पाप से तू सोया (बीमार पड़ा) है तो "उनमोचन" और "प्रमोचन" की दोनों विद्यायें तुझे कहता हूं[3]।"

उन्मोचन—खोलना, ढीला करना, पापों को दूर फेंकना, पापों के प्रभाव को अपने ऊपर से दूर करना।

प्रमोचन—दूर रहना (पापों से जो माता पिता ने किये हैं उनसे दूर रहना) अर्थात् स्वयं वैसे पाप न करना।

उन्मोचन रोग की चिकित्सा और प्रमोचन वह यत्न जिससे रोग न होने पावे। ये दोनों विद्यायें हैं जिनके जानने और अमल

---

(१) शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु॥ (ऋग्वेद ७। ३५। ४)

(२) जीवेभ्यः मा प्रमदः॥ (अथर्व० ८। १। ७)

(३) यद्देनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥
(अथर्व० ५। ३०। ४)

करने से मनुष्य रोगमुक्त हो जाता अथवा रहता है। इस प्रकार के तथा दान की महिमा आदि के अनेक मंत्र वेदों में आये हैं जिनसे अच्छी तरह से मनुष्य समझ लेता है कि अन्यों के कर्मों से अन्यों को हानि और लाभ अथवा दुःख और सुख दोनों पहुंचा करते या पहुंच सकते हैं। इस प्रकरण से संबंधित एक प्रश्न और है जिसको स्पष्ट किये विना यह प्रकरण पूरा नहीं हो सकता और वह यह है:—

एक के कर्म से दूसरे को दुःख प्राप्त होने में क्या दूसरे के कर्मफल भी शामिल हुआ करते हैं?

कई सज्जन इस प्रश्न का उत्तर हां में देते हैं और दे सकते हैं परन्तु हमारा, भलीभांति सोचा विचारा हुआ, उत्तर नकार में है। परंतु इतना कह देनामात्र काफ़ी नहीं कि दूसरे के कर्मफल पहले के कर्म में शामिल नहीं होते अपितु इस प्रश्न के दोनों पहलुओं पर गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में हेतु

जो सज्जन प्रश्न का उत्तर हां में देते हैं उनका सब से बड़ा हेतु यह है कि उनकी दृष्टि में, कर्म का मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पुरुष अपने ही कर्मफल से सुखी और दुखी हो। इसलिये यदि किसी को, किसी दूसरे के कर्म से, सुख या दुःख प्राप्त होता है, तो उसके लिये यही समझना चाहिये कि उसमें उसका कर्मफल भी शामिल है। अब थोड़ा इस पर विचार करना चाहिये। मनुष्य में स्वतन्त्रता के साथ कर्म करने की योग्यता ईश्वरप्रदत्त है, वह जो कुछ करता है अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। कल्पना करो कि ता० २० मई को दिन के २ बजे "क" ने 'ख" को अपने उसी कर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार से एक लाठी मारी, जिससे "ख" घायल

हो गया। अब देखना यह है कि इस कृत्य के अन्दर "क" के कर्म-स्वातन्त्र्य और "ख" का परतन्त्रता से फलभोग का. कितना कितना भाग शामिल है? कहा यह जाता है कि ठीक इसी समय "ख" को अपने किसी दुष्कृत्य के बदले में चोट लगनी थी और "क" ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ठीक उसी समय उसे लाठी मार दी यदि "क" न मारता तो कोई और दूसरा मार देता। अस्तु। इस कथन पर दो प्रश्न उठते हैं:—

(१) यदि "ख" को फलरूप में चोट लगनी थी और "क" ने वही चोट लगादी तो इस अवस्था में "क" ने जल्लाद जैसा काम किया। जिस प्रकार जज की आज्ञा से जल्लाद एक व्यक्ति को फांसी देकर भी अपराधी नहीं बनता इसी प्रकार "क" को भी अपराधी नहीं ठहराना चाहिये उसने भी ईश्वराज्ञा का पालन ही तो किया है। इस पर कहा यह जाता है कि उसने विना आज्ञा के चोट लगाई है इसलिय वह अपराधी है। बहुत अच्छा। इस पर आगे विचार किया जायगा। पहले यहां पर विचार करने योग्य बात यह है कि "ख" को एक खास समय में चोट लगनी थी और "क" ने ठीक उसी समय उसे अपने कर्म-स्वातंत्र्य से लाठी मार दी और इन दोनों घटनाओं का सम्मेलन एक खास समय में होगया तो यह सम्मेलन अचानक घटनागति से हो गया अथवा नियम के तौर पर? यदि कहो घटनागति से (By Chance) हो गया तो घटनागति तो कभी कभी होती है सौ में एक दो बार परन्तु यहां तो अवस्था यह है कि जब कभी भी कोई किसी को मारेगा या इनाम देगा तभी कहा जायगा कि इस मे अन्तिम (दूसरे) पुरुष के कर्मफल शामिल थे फिर यह घटना अचानक या आकस्मिक घटनागति तो नहीं कही जा सकती क्योंकि

१०० में सौ वार होने वाली वात है इसलिए यह तो नियम के तौर पर होने वाली वात ही कही जा सकती है। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति को एक खास समय में शुभाशुभ फल मिलने वाला हो और कोई दूसरा व्यक्ति नियम के तौर पर उसी समय उसी शुभ या अशुभ फल को, अपने कर्म से, दे देवे तो उस देने वाले का यह कर्म, परतंत्रता ही से किया हुआ ही तो समझा जावेगा इसमें कर्म-स्वातंत्र्य की गंध भी नहीं है। परन्तु इस फल के शामिल होने के समर्थक, इच्छा अथवा कर्म-स्वातंत्र्य का भी समर्थन करते हैं इसलिये उन्हें या तो फल मिलने की वात का समर्थन छोड़ना चाहिये या कर्म-स्वातंत्र्य से हाथ धोना चाहिये। अस्तु, अव दूसरी, मौलिक सिद्धान्त वाली वात, पर विचार करना चाहिये।

(२) यह जो कहा जाता है कि "मौलिकसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पुरुष अपने ही कर्म के फल से दुखी या सुखी होवे।" ऐसा कहने वाले यह नहीं वतलाते कि इस मौलिकता की झांकी उन्हें कहां हुई? किसी वात के निर्णीत समझने के दो ही हेतु हो सकते और हुआ करते हैं तर्क और प्रमाण। जहांतक मुझे मालूम है इस मौलिकता के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं करते न मेरी दृष्टि ही में इस प्रकार का कोई प्रमाण वेद शास्त्र में कहीं आया है। रहा तर्क वह इस पक्ष का समर्थक नहीं। थोड़ा ही विचार करने से यह वात प्रकट हो जायगी कि किस प्रकार तर्क इस वाद का समर्थक नहीं है।

"क" जिस ने "ख" के लाठी मारी थी उसका अपराध केवल इतना ठहरेगा कि उसने विना अनुमति के क्यों "ख"

को मारा। "क" की लाठी से "ख" को चाहे चोट लगी चाहे वह मर गया तो ये सब कुछ तो उसे अपने कर्मों के फल से भोगना ही था। असल में "क" ने "ख" का कोई अपराध नहीं किया क्योंकि जो कुछ "क" की लाठी से हुआ यह तो उसके लिए अपने कर्मों के फल से होने वाला ही था। "क" ने केवल अपराध यह किया कि न्यायकारी की अनुमति नहीं ली। इसलिये "क" को न चोट लगाने का दंड मिलना चाहिये न वध करने या चोरी करने का किन्तु केवल अनुमति न लेने का और यह दंड जिस (ईश्वर) की अनुमति उसने नहीं ली है वह स्वयं उचित रीति से देदेगा। "ख" अथवा उसके पक्ष-पोषकों को "क" के विरुद्ध लोक में कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिये न उस पर चोरी का अभियोग चलाना चाहिये न कत्ल का मुक़द्दमा दायर करना चाहिये न अन्य किसी प्रकार से कोई झगड़ा उससे करना चाहिये क्योंकि उसके साथ तो जो कुछ सुलूक "क" ने किया है वह किसी न किसी प्रकार होने वाला ही था। कल्पना करो कि ऐसा ही इस जगत् में होने लगे तो फिर क्या कोई व्यवस्था रह सकेगी। न्यायालयों को बंद कर देना पड़ेगा, पुलिस को धता बतानी पड़ेगी, फौजी महकमों को रुख़सत करना पड़ेगा। यदि कोई एक व्यक्ति आकर किसी दूसरे के देश, वस्तु अथवा स्वत्व पर, अधिकार जमा लेवे तो संतोष करके बैठ जाना पड़ेगा क्योंकि उस दूसरे के कर्मफलानुसार ऐसा ही होना था। फल इसका यह होगा कि लोग अकर्मण्य हो जावेंगे समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगा जैसा कि यहां (इस देश में) हुआ। इसलिये इस मौलिकता के राग को, बेवक्त की शहनाई (बाजा) समझ कर, छोड़ देना ही श्रेयस्कर हैं।

(३) एक और मजेदार बात, इस संबंध में, यह है कि न केवल किसी को दुःख देने से, दुःखदाता, अनुमति न लेने का अपराधी ठहरेगा किंतु किसी को सुख देने से भी, सुखदाता भी उसी (अनुमति न लेने के) अपराध का अपराधी बनेगा क्योंकि किसी दानदाता ने, जो कुछ किसी दूसरे को, सुख पहुँचाने के लिये दिया वह तो अपने कर्म के फलानुसार, उसे मिलना ही था फिर दानदाता ने क्यों बिना अनुमति लिये, उसे दान देकर, "दालभात में मूसलचन्द" की कहावत को चरितार्थ किया ? दानियों को चाहिये कि समझ बूझ कर आगे दान देवें अन्यथा लेने के देने पड़ेंगे ।

(४) इस शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव में, प्रभावित व्यक्ति के, कर्मफल का अड़ंगा लगाने से, न केवल यह होगा कि अशुभ कर्मों के करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी बल्कि यह भी होगा कि शुभ कर्म करने की प्रवृत्ति घटेगी । जब कोई किसी व्यक्ति को दान देगा या अन्य कोई दूसरा साधन, उसके सुख का उपस्थित करेगा तो वह कृतज्ञता प्रकाश करने के स्थान में झटसे कह देगा कि "यह वस्तु तो मुझे, अपने कर्मफलानुसार मिलने वाली ही थी तुम न देते तो कोई दूसरा देता, इस में मुझ पर तुम्हारा कोई अहसान नहीं" बतलाओ तो सही, ऐसा उत्तर पाने पर किसी दानी या परोपकारी पुरुष का साहस बढ़ेगा अथवा उत्साह की वृद्धि होगी कि कोई परोपकार का काम करे ?

(५) एक और बात भी इस संबंध में विचार करने योग्य है कि यदि ऊपर दिये हुये उदाहरण में "क" को वध करने का अपराधी ठहराया जावे और उसका समूचा कृत्य उसी के ज़िम्मे रखकर उसे फांसी की सज़ा देदी जावे तो प्रश्न यह है

कि फांसी देने वाले का, यह स्वतंत्रकर्म कहा जायगा या इस में भी, फांसी पाने वाले के, पहले से निश्चित किसी भोग को, शामिल किया जावेगा, यदि कहो कि नहीं, तब तो स्पष्ट हो गया कि "क" ने स्वतंत्रता से वध किया था और फांसी देने वाले ने, स्वतंत्रता से फांसी रूप फल, "क" को दे दिया। अथवा फांसी देने वाले का कर्म, कम-से-कम, ऐसा सिद्ध होगया कि जिससे दूसरे (क) को दुःख तो पहुंचा परन्तु इस में उस (क) का कोई भोग शामिल नहीं था। यदि कहा जाय कि "हां" तब यह बतलाना होगा कि "ख" के चोट लगने या वध होने में फल का भाग क्या और कितना था? यदि कहो कि "ख" को जो कष्ट पहुंचा यही फल था तो फिर कर्म क्या था? "क" का कर्म तो "ख" को कष्ट पहुंचाना ही था यदि यह फल है तो कर्म नहीं रहा और यदि कर्म है तो फल नहीं। यह स्पष्ट है कि समस्त सभ्य-संसार, इस प्रकार के अपराध को, अपराधी का स्वतंत्र कर्म ही समझकर उसे दंडित किया करता है, इसलिये इस में फल की गंध सूंघना निरर्थक है।

उपर्युक्त हेतुओं से यह बात साफ़ तौर से प्रकट हो जाती है कि एक व्यक्ति के कर्म से, जो दूसरे को, सुख या दुःख मिला करता है, उस में दूसरे व्यक्ति के दुःखसुखरूप फल का किंचिन्मात्र समावेश नहीं होता अपितु वह पहले व्यक्ति का स्वतंत्र कर्म ही होता है और उसके फलाफल का उत्तरदाता वह पहला ही व्यक्ति हो सकता और हुआ करता है। दुनियां भर के व्यावहारिक नियम और क़ानून इसी नियम को स्वीकार करके बने और व्यवहृत हैं। इस फलाफल में दूसरे व्यक्ति के भोग को शामिल करना तर्कशून्य और प्रमाणरहित है

इसलिये अस्वीकर्तव्य है। इस संबंध में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि "क" के मारने से "ख" को जो चोट लगी और कष्ट उठाना पड़ा यद्यपि यह कष्ट उसके किसी कर्म का फल न था परन्तु इसके संबंध में यह कल्पना करना कदाचित् अयुक्त न होगा कि ईश्वर जो कर्म का फलदाता है यह विचार करके कि "ख" को वह कष्ट व्यर्थ उठाना पड़ा है, इसलिये वह इसे उसके अपने कर्मों के भोग में से कम कर देवे अर्थात् यदि "ख" को अपने कर्मों के बदले में १० हिस्से कष्ट भोगना हो और "क" द्वारा पहुंचाई हुई तकलीफ़ की मात्रा एक हिस्से हो तो यह एक हिस्सा कम कर दिया जावे और उसे केवल ९ हिस्से कष्ट भुगतना पड़े और यदि उसका कोई बुरा कर्म न हो तो उसे इस कष्ट के बदले में कुछ सुख और मिल जावे।



दसवां अध्याय

कर्मस्वातंत्र्य की सीमा

कर्म करने में जीव स्वतंत्र है। यह बात इससे पहले, इन पृष्ठों में, अनेक बार कही गई है। उसकी स्वतंत्रता कहांतक ससीम है और कहांतक असीम है, इस संबंध में कुछ यहां पहले लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे आगे के पृष्ठों में उसका हवाला दे देनामात्र काफ़ी हो सके, वारवार उसके प्रकट करने की ज़रूरत न पड़े। आत्मा के कर्म-स्वातंत्र्य को समझने के लिये अन्तःकरण की कार्य्यप्रणाली समझ लेना आवश्यक है, इसलिये प्रारम्भ में उसी का यहां उल्लेख किया जाता है:—

अंतःकरण की कार्य्य-प्रणाली

अन्तःकरण चार—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—हैं, इनकी कार्य्यप्रणाली इस प्रकार है:—

(१) **मन**—मन का काम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करना है। मन का स्थान हृदयाकाश है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों का स्थान, जिनके द्वारा मन ज्ञान प्राप्त किया करता है, मस्तिष्क है। जर्मन के एक वैज्ञानिक "फ्लेशज़क" (Paue Flechsig of Leipzig) की खोज के अनुसार मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र, इन्द्रियानुभव के ४ अधिष्ठान या भीतरी (सूक्ष्म) गोलक हैं जो इन्द्रिय-संवेदना को ग्रहण करता है:—

(१) स्पर्श-ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में,

(२) घ्राण का सामने के लोथड़े में,

(३) आंख (दृष्टि) का पिछले लोथड़े में, और–

(४) श्रवण का कनपटी के लोथड़े में है[1] ।

इन्द्रियों से काम लेने के सिवा, मनका दूसरा काम, अपने भीतर संकल्प और विकल्प करना है। जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से मन का संबंध है। सुषुप्ति (गाढ निद्रा) में मन बेकारसा रहता है।

(२) बुद्धि–बुद्धि की दो तहे अथवा दो भाग हैं:—(१) तार्किकबुद्धि, (२) मेधावी बुद्धि। इनमे से तार्किकबुद्धि का काम तर्क है अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करना। (२) मेधावी बुद्धि का काम यह है कि तर्क द्वारा निश्चित सत्य पर श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न कर देना। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है।

(३) चित्त–चित्त के दो भाग हैं:—(१) एक भाग का काम उद्वेग पैदा करना, (२) दूसरा भाग स्मृति, वासना और संस्कार का स्थान है।

स्मृति–शिक्षा, उपदेश और अध्ययनादि के द्वारा मनुष्य, जो ज्ञान प्राप्त किया करता है वह चित्तके भंडार में, स्मृति के रूप में, जमा हो जाया करता है, उसी एकत्रित ज्ञान का नाम स्मृति-भंडार है।

वासना–कर्म करने से अभ्यास का एक अंश बना करता है, उसी अंश का नाम वासना हुआ करता है। वासना का काम यह है कि जिस प्रकार के कर्म से, वह बनी है उसी के करने की भीतर से प्रेरणा किया करती है।

---

(१) देखो लेखककृत आत्मदर्शन पृष्ठ २५७ पहला संस्करण।

संस्कार—मनुष्य के चित्त पर, उन समस्त घटनाओं का, जो उससे या उसके सन्मुख घटित हुई है, प्रभाव पड़ा करता है। इसी को, चित्त पर, छाप लगना भी कहते हैं। इसी प्रभाव या छाप का नाम संस्कार कहा जाया करता है। इन तीनों, स्मृति, वासना और संस्कार, का स्थान चित्त का दूसरा भाग होता है जैसा कि कहा जाचुका है।

(४) **अहंकार**—अहंकार से मनुष्य के भीतर ममता अर्थात् मेरे और तेरेपन का भाव पैदा हुआ करता है।

ये अन्तःकरण, सूक्ष्म शरीर का भाग होने से, आत्मा के साथ जन्मजन्मान्तर में बराबर उस समय तक बना रहता है जबतक मोक्ष नहीं हो जाता। साधारणतया चित्त में, इस जन्म तथा अनेक पिछले जन्मों की स्मृति, वासना और संस्कार जमा रहते हैं। और ये अपने प्रकार की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसी ही मनुष्य की प्रवृत्ति बना दिया करते हैं। यह प्रवृत्ति, जिसे पश्चिमी दर्शन में, जन्मसिद्ध चरित्र कहा गया है, जन्म के साथ मनुष्य मे आया करती है। एक बालक की रुचि पढ़ने में अधिक है, दूसरे की उतनी नहीं, एक की रुचि व्यापार में होती है, दूसरे की कलाकौशल में, तीसरे की कृषि आदि में यह सब चमत्कार, इसी उपर्युक्त प्रवृत्ति का होता है। अस्तु अब इच्छा-स्वातंत्र्य पर विचार करना चाहिये।

इच्छा-स्वातंत्र्य के बनाने वाले तीन पदार्थ होते हैं:—(१) जन्मसिद्ध प्रवृत्ति, (२) संगति और (३) स्वतंत्र इच्छा। इनमें से, पहली बात, जन्मसिद्ध चरित्र या प्रवृत्ति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरी वस्तु संगति है। मनुष्य जैसी

इच्छा-स्वातंत्र्य के निर्माता अवयव

संगति में रहता है, उसका, उस पर, उसके विचारों पर, कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा ही करता है। अच्छी संगति (सत्संग) का अच्छा और बुरी संगति (कुसंग) का बुरा प्रभाव। यह दूसरी वस्तु है, जिसका प्रभाव, उसके इच्छानिर्माण पर, पड़ता है। तीसरी वस्तु मनुष्य की वह स्वतंत्र इच्छा है, जो प्रत्येक मनुष्य में हुआ करती है और जिससे प्रभावित होकर, मनुष्य, किसी काम के करने न करने का निर्णय किया करता है। इन तीनों का प्रभाव यदि एक दूसरे के अनुकूल होता है तो उससे मनुष्य की, बलवती स्वतंत्र इच्छा, बन जाया करती है और वह उस इच्छा को, शीघ्रता से काम में ले आया करता है। यदि उनका प्रभाव एक दूसरे के विरुद्ध है तो जिसकी अधिकता होती है उसमें से, न्यूनताओं को निकालने के बाद, अधिकता का जितना अंश बाक़ी रहता है उसी के अनुकूल उसकी काम में लाने की इच्छा बन जाया करती है। यदि मनुष्य की प्रवृत्ति और संगति का योग उसकी स्वतंत्र इच्छा के विरुद्ध है तो उसक स्वतंत्र इच्छा दब जायगी और उसके विरुद्ध मनुष्य कर्म कर डालेगा। यदि स्वतंत्र इच्छा अन्य दोनों के योग से बलवती है तो वह अपनी इच्छा के अनुकूल काम कर लेगा और अन्यों को दब जाना पड़ेगा। इसीलिये वेदान्तदर्शन में कहा गया है, जैसा कि कहा जा चुका है कि मनुष्य, ऐसा नहीं है कि सदैव अपने अनुकूल ही काम करे बल्कि अपने प्रतिकूल भी काम कर लिया करता है[१]। इच्छा न होने पर भी, प्रतिकूल कार्य्य, प्रवृत्ति और संगति के विरुद्ध होने ही से कर लिया जाया करता है जैसा कि अभी कहा गया है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने जीव को, कर्म करने में स्वतंत्र, मानते हुये भी प्रवृत्ति

(१) देखो वेदान्तदर्शन। २। ३। ३७॥

आदि की प्रतिकूलता से, किंचित् परतंत्र भी स्वीकार किया है। परन्तु यह परतंत्रता जीव की अपनी ही पैदा की हुई होती है। उसने पिछले जन्म में, जिस प्रकार के कार्य्य किये थे उसी के अनुकूल वासना बनी, जैसी संगति में रहा था वैसे ही संस्कार बने और इन्हीं वासना और संस्कार ने ऐसी प्रवृत्ति को बनाया जो जैसा कहा जा चुका है, उसके परतंत्रता का कारण बनी। हम चाहते हैं कि किस प्रकार स्वयं मनुष्य अपने बंधन का कारण होता है? इस विषय को थोड़ा खोल कर कह दिया जावे।

मनुष्य जब कर्म करने लगता है तब वे "क्रियमाण" कहलाते हैं, जब कर चुकता है तब वे "संचित" कहलाने लगते हैं और जब उन कर्मों का फल मिलने लगता है तब वे ही कर्म "प्रारब्ध" कहे जाया करते हैं। प्रारब्ध और किसी जगह से बनकर नहीं आया करती किन्तु मनुष्य उसे स्वयं बनाया करता है। यहां एक बात समझ लेनी चाहिये कि क्रियमाण तो पुरुषार्थ करने की अवस्था है परन्तु जब वह उस को (पुरुषार्थ या कर्म) कर चुकता है तो अब वे, कमान से छूटे हुये तीर के सदृश हो जाते हैं और अब मनुष्य उनमें कोई उलट फेर नहीं कर सकता और वे अब उसे, फल दिये बिना नही रह सकते। संचित और प्रारब्ध वही छूटे हुये तीर हैं। यही मनुष्य की परतंत्रता का भेद है।

मनुष्य के कर्म-वासना आदि के रूप मे

इन्ही संचित कर्मों को, योगदर्शन के भाष्यकार, व्यास ने ने "कर्मसमूह" कहा है। बंधन में लाने वाले कर्मसमूह वे होते हैं जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से पैदा होते हैं। अविद्या (मिथ्या ज्ञान),

कर्मसमूह

अस्मिता (अहंकार), राग (पुण्यकर्म फल से प्रीति), द्वेष (पापकर्म से शत्रुता) और अभिनिवेश (मौत का भय) को, योगदर्शन में, क्लेश कहा गया है। ये क्लेश और कर्मविपाक, के अनुभव से बनी हुई वासना, जिसका उल्लेख हो चुका है, दोनों मिल कर चित्त को मूर्च्छितसा रखती हैं। इन्हीं क्लेशों की सन्तति काम, क्रोध, लोभ और मोह भी है। तात्पर्य्य इसका यह है कि इन्ही क्लेशों से प्रभावित कर्मसमूह और वासना मनुष्य और उसके चित्त दोनों पर अपना दबाव रखकर उनके स्वतंत्रतापूर्वक कर्म करने में बाधा डाला करती है। इनका अधिक विवरण "कर्मविपाक" वाले अगले अध्याय में मिलेगा।

कर्म और वासना का अनादित्व

जगत् अचानक ही नही बन जाता और न अचानक नष्ट ही हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार दिन और रात का चक्र प्रवाह से नित्य है इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का चक्र भी प्रवाह से नित्य है। ईश्वर भी नित्य है और आत्मा भी नित्य है। इसलिये ईश्वर का फलदातृत्व गुण और जीवात्मा का कर्मकर्तृत्व गुण भी नित्य है। अनेक जन्मों से, जो अनेक सृष्टियों में हुये, जीव कर्म करता चला आता है और उन कर्मों से वासना भी क्रमपूर्वक चली आती है। इसीलिये कर्म और वासना का प्रवाह से नित्यत्व कथन किया जाता है। मोक्ष भी नित्य न होने से, इन कर्म और वासना के अनादित्व में बाधक नहीं हो सकती। वेदान्तादि दर्शनों में इस सिद्धांत की पुष्टि की गई है। एक जगह वेदान्तदर्शन में, कर्म और उसके फल पर विचार करते हुये, कहा गया है:—यदि ऐसा कहो कि कर्म के अवि-भाग=जुदे जुदे न होने से, फल भी भिन्न भिन्न नहीं दिये जा

सकते, तो यह बात नहीं, कर्म के अनादि होने से[1]। इस सृष्टि के भेद का कारण इससे पहले सृष्टि के कर्म हैं। फिर इसी कर्म की अनादिता के संबंध में कहा गया है कि "सिद्ध भी होती है और पाई भी जाती है" अर्थात् वह (कर्म की अनादिता) युक्ति से भी सिद्ध है और अनुभव भी की जाती है[2]। फिर इसी संबंध में कहा गया है कि "सबों के धर्म–शुभाशुभ कर्म सिद्ध होने से भी। अर्थात् अच्छे बुरे कर्म करने का सामर्थ्य सब में होता है इसलिये भी अनादिता सिद्ध है[3]।" सांख्यदर्शन भी इस वाद का समर्थक है। एक जगह, इस दर्शन में, कहा गया है:—"अथवा अनादि कर्मों के आकर्षण से भी (प्रकृति चेष्टा करती है)।" क्योंकि जीवों के कर्म अनादि हैं, उनके फल भुगवाने के लिये, ईश्वर के आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है[4]।

योगदर्शन में भी, इस सिद्धान्त की, पुष्टि की गई है:— एक जगह, इस दर्शन में, कर्म के ३ भेद किये गये हैं जिसका वर्णन ९ वें अध्याय मे हुआ है। उन भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है:—"उन (उन ३ प्रकार के कर्मों) में, उन्हीं के फला-नुसार गुण वाली वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है[5]।" फिर आगे कहा गया है:—जाति, देश और काल से, व्यवहित (पृथक् या दूर) होने पर भी, स्मृति और संस्कार के एक रूप होने से

(१) न कर्माऽविभागादितिचेन्नानादित्वात् (वेदांत० २ । १ । ३५)

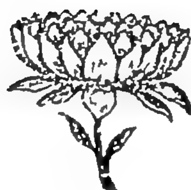
(२) उपपद्यतेचाऽप्युपलभ्यते च ॥ (वेदांत० २ । १ । ३६)

(३) सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ (वेदांत० २ । १ । ३७)

(४) कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः (सांख्य० ३ । ६२)

(५) ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥
योग० ४ । ८ ॥

(वासनाओं में) निरन्तरता रहती है[1]। फिर इसके बाद कहा गया है कि "उन (वासनाओं) की अनादिता है, आशिष के नित्य होने से" अर्थात् कल्याण की इच्छा के नित्य होने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य में अपने कल्याण की इच्छा सदैव बनी रहती है। इस इच्छा के सदैव बने रहने का कारण वासनाओं का मौजूद होना है। इसीलिये वासनाओं को अनादि कहा गया है[2]।



(१) जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ (योग० ४ । ९)

(२) तासामनादित्वं चाशिषोनित्यत्वात् (योग० ४ । १०)

ग्यारहवां अध्याय

कर्मों का क्या और किस प्रकार क्या फल मिला करता है ? मनुष्य के अधिकार की बात न होने से, अत्यन्त गहन विषय है। दार्शनिक जगत् ने, इस विषय के स्पष्ट करने की, बड़ी ऊहापोह की है, परन्तु, परोक्ष का विषय होने से, यह नहीं कहा जा सकता कि वह सब ठीक ही है। अस्तु, उसी ऊहापोह का परिणाम यहां दिया जाता है। यह कहा जा चुका है कि मनुष्य जहां कर्म करने में स्वतन्त्र है वहां फल भोगने में परतन्त्र है। लोक और परलोक के विचार से, फल के सम्बन्ध मे, पूर्वी और पश्चिमी दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। पूर्वी दार्शनिकों का विचार यह है कि लोक की अपेक्षा परलोक अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। इसका मतलब यह नहीं कि लोक उपेक्षणीय है। लोकोन्नति अनिवार्य वस्तु है, उसके बिना परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु दो अच्छी वस्तुओं में भी जिस प्रकार दरजों का भेद हुआ करता है इसी दृष्टि से परलोक को पहला और श्रेष्ठ दरजा दिया गया है। इसके विरुद्ध पश्चिमी दार्शनिक परलोक के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा विचार करते हैं, उनकी दृष्टि मे लोक ही सब कुछ है। लोक और परलोक के सम्बन्ध में पूर्वी दृष्टिकोण को, हम ज़रा खोल कर, कह देना चाहते हैं जिससे, आसानी के साथ, उसे सब समझ सकें।

कर्मविपाक

श्रेय परलोक और प्रेय लोकोन्नति के मार्ग का नाम है। इनके संबंध में, एक बात समझ लेने से, इनका भाव सुगमता

श्रेय और प्रेय दो मार्ग

से समझा जा सकेगा और वह बात यह है कि लोक मुख्य रीति से इन्द्रियों का मार्ग है और परलोक मुख्य रीति से आत्मा का पथ है। इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं इसलिये लोक उनका विषय है और आत्मा, शरीर की अपेक्षा, अन्तर्मुखी है इसलिये परलोक आत्मा का विषय है। परन्तु यदि कोई चाहे कि इन्द्रियों को उन्नत किये बिना ही आत्मा को उन्नत कर सके तो उसकी यह क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है। हां, परलोक को कुछ न समझ कर जो लोक को ही अपना अन्तिम ध्येय बना लेते हैं, उनका मार्ग दूषित समझा जाता है और उपनिषद् ने, उनकी इन शब्दों में, निन्दा की है:—"जो लोग धन के मोह से मूढ हो गये हैं और प्रमत्त तथा अज्ञानी हैं उन्हें परलोक की बात पसन्द नहीं आती उनकी दृष्टि में यही लोक सब कुछ है, 'परलोक कुछ नहीं, ऐसे लोग मौत के बन्धन से नहीं छूटा करते'[1]।"

यही दृष्टिकोण रखते हुए पूर्वमीमांसाकार महामुनि जैमिनि ने कहा है कि जिन कर्मों का फल अदृष्ट (परलोक सम्बन्धी) है वे प्रधान और जिनका फल दृष्ट (लोक से संबंधित) है वे गौण कर्म कहे जाते हैं[2]।

यह बात कही जा चुकी है कि आत्मा, मन और इन्द्रिय से युक्त होकर, कर्म किया करता है इसलिये मन और इन्द्रिय

(१) न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठोपनिषद् २।६)

(२) देखो पूर्वमीमांसा (१।४।८)

भोक्ता कौन है

से युक्त आत्मा ही भोक्ता भी समझा जाना चाहिये। सांख्यदर्शन में इसीलिये कहा गया है कि "भोग (कर्मफल) चेतन आत्मा तक होता है[1]।"

मतलब इसका यह है कि यदि कोई कहे कि कर्म तो बुद्धि और मन, इन्द्रियों द्वारा होता है, आत्मा को उसका फल क्यों मिलना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि शुभाशुभ कर्मों का भोग आत्मा तक समाप्त हो जाता है। शरीर से आत्मा के निकल जाने पर, शरीरस्थ इन्द्रियों को कुछ ज्ञान नहीं रहा करता और न किसी भोग का वे अनुभव ही कर सकती हैं, इससे जाना जाता है कि यद्यपि पुरुष (जीव) असंग और स्वरूप से केवल है परन्तु बुद्धि के उपराग से भोग आत्मा ही को होता है, जड़ बुद्धि को नहीं। सांख्यकार ने, विषय को स्पष्ट करने के लिये, एक उदाहरण देते हुए प्रकट किया है कि "अकर्त्ता (जीव) को भी फल का उपभोग, अन्नाद्य के समान, होता है।" अर्थात् यद्यपि कर्म, साक्षात् रीति से, जीव नहीं करता और इसीलिये उसे अनेक जगह अकर्त्ता कहते हैं, तथापि जैसे स्वामी के लिये बावरची अन्नाद्य=भोज्य (खाने योग्य) पदार्थ बनाता है इसलिये भोग उसके स्वामी ही को होता है इसी तरह मन, बुद्धि आदि, इन्द्रिय के संयोग से, जो कर्म करती हैं उसका भोग भी आत्मा ही को होता है[2]। इस प्रकरण को समाप्त करते हुए सांख्यकार ने यह भी कह दिया है कि "अथवा अविवेक से (जीव में) कर्तृत्व सिद्ध होने से, कर्त्ता (जीव) को फलभोग की प्राप्ति है।"

---

(१) चिदवसानो भोगः ॥ (सांख्य० १ । १०४)

(२) अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥ (सांख्य० १ । १०५)

यह सूत्र इस आक्षेप के उत्तर देने के लिये लिखा गया है कि जीव यदि अकर्त्ता है तो उसे फल क्यों मिले ? इस आक्षेप का उत्तर यह दिया है कि जीव को एक प्रकार से कर्त्ता भी समझना चाहिये और वह प्रकार यह है कि अविवेक (अज्ञान) से पुरुष में बुद्धि का उपराग होता है और उपरक्त पुरुष उपराग से कर्त्ता समझा जाया ही करता है और इसलिये भोग का भागी फिर उसे क्यों न होना चाहिये[1]।

क्या, बिना कर्म के भी, ईश्वर कोई फल, अपनी ओर से, जीव को दे दिया करता है ? वेदान्तदर्शन में इसका उत्तर दिया गया है कि नहीं। वेदान्त के एक सूत्र में कहा गया है कि "विधिनिषेध के व्यर्थ न होने आदि हेतुओं से जीवात्मा (फल प्राप्त करने में) अपने किये प्रयत्नों = कर्मों का अपेक्षावान् तो है।" अर्थात् ईश्वर अन्धाधुन्ध शुभाशुभ फल जीव को नहीं दिया करता[2], किन्तु उसके कर्मानुसार ही फल उसे मिला करता है। ऐसी ही बात वेद में भी एक जगह मिलती है, जहाँ बतलाया गया है कि "ईश्वर अपनी अनादि प्रजा जीव के लिये कर्मफल का ठीक ठीक विधान करता है। न कर्म से अधिक और न न्यून फल मिलता है[3]।" इस पर कई सज्जनों को शंका होती है कि यदि ईश्वर अपनी ओर से जीवों को कुछ नहीं देता तो फिर उसे "दयालु" क्यों कहते हैं ? और

फल ईश्वर अपनी ओर से नहीं देता

(१) अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः॥ (सांख्य० १। १०६

(२) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः॥

(वेदान्त० २। ३। ४)

(३) याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजुर्वेद ४०। ८)

यह किस प्रकार संभव है कि वह न्यायकारी भी हो और साथ ही दयालु भी हो? दया अपराधों के क्षमा करने को कहते और न्याय दण्ड देने को, फिर किस प्रकार संभव है कि ये दोनों परस्पर विरोधी गुण एक ही व्यक्ति में एकत्रित हो सकें? इसका उत्तर यह है कि:—

न्याय और दया विरोधी गुण नहीं हैं। इनके समझने में साधारण पुरुष ही नहीं, किंतु कभी कभी हर्बर्ट स्पेंसर जैसे उच्चकोटि के विद्वान् भी ग़लती कर डाला करते हैं। स्पेंसर ने ईश्वर को अज्ञेय सिद्ध करने के लिये एक हेतु यह भी दिया है कि न्याय और दया, दो विरोधी गुण, किस प्रकार एक ही व्यक्ति में इकट्ठे हो सकते हैं[1]? बात असल यह है कि दया अपराधों के क्षमा करने को नहीं कहते हैं, अपराधों को क्षमा करना दया नहीं अपितु अन्याय है। दया और अन्याय एकभाव बतलाने वाले शब्द नहीं अपितु एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। न्याय और दया में अंतर यह है कि न्याय के लिये, न्यायकारी को, कर्म की अपेक्षा होती है विना कर्म किये न्यायकारी किसी को इष्ट-अनिष्ट फल नहीं दे सकता, परंतु दया दयालु अपनी ओर से किया करता है उसके लिये किसी कर्म की ज़रूरत नहीं होती, न वह किसी कर्म का बदला होती है। एक उदाहरण से यह बात साफ़ समझ में आजायगी। एक व्यक्ति ने चोरी की, न्यायकारी ने उसे ६ मास के लिये कारागार भेज दिया परंतु प्रबंध कर दिया कि इस बीच में उसे कोई दस्तकारी सिखलादी जावे जिससे जेल से छूटने के बाद वह उस व्यवसाय में लग जाय और फिर चोरी न करे। इस उदाहरण में ६ मास

न्याय और दया

(१) देखो First Principle by H. Spencer.

का दंड तो न्याय है परन्तु दस्तकारी सिखलवा देने की वात दया है। इस दया के लिये चोर का कोई कर्म न था। अच्छा दया अपराधों की माफ़ी नही तो क्या ईश्वर कभी अपराध माफ़ करता ही नहीं ?

क्या ईश्वर अपराधो को माफ करता है ?

इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि ऊपर कहा गया है कि अपराधों का माफ़ करना अन्याय है और ईश्वर का स्वाभाविक गुण न्याय है तो किस प्रकार वह अन्याय कर सकता है ? ईश्वर सर्वशक्तिमान् सही परंतु इसका मतलव यह नही है कि वह अंधाधुंध जो चाहे सो करके जगत्को अंधेरनगरी वना देवे। क्या सर्वशक्तिमान् होने से, ईश्वर अपने जैसा दूसरा ईश्वर भी वना सकता है ? क्या वह अपने को मार भी सकता है ? क्या वह चोरी कर सकता है ? इन प्रश्नो के उत्तर नकार में देने के सिवा और कोई सूरत नही है इसके सिवा सोचने की एक वात और भी है कि किसी का अपराध माफ़ करने से अनेक दोषों का उसमें भी आजाना संभव है जिसका अपराध माफ़ किया गया है।

(१) वह और भी अधिक अपराध करने का अभ्यासी, माफ़ी के प्रलोभन से, वन सकता है।

(२) उसमें अपने अंतःकरण के विरुद्ध काम करने की प्रवृत्ति वन सकती है, क्योंकि अंतःकरण चाहता है कि मनुष्य पाप न करे क्योंकि पाप करने से मनुष्य को भयभीत रहना पड़ता है और भयभीत रहने से हृदय निर्वल होकर वह किसी समय भी फेल होकर उसकी मृत्यु का कारण वन सकता है।

(३) वह संभव है कि आत्महन्ता वनकर अपने पड़ोस

के व्यक्तियों को भी यह दुष्कृत्य सिखलावे अथवा उनको, अपने बुरे अभ्यास से, दुःख देता रहे. इत्यादि, इसलिये अपराधी के भविष्य को अच्छा बनाने की दृष्टि से भी, आवश्यक है कि उसे समुचित दंड मिले, इसी में उसका भी कल्याण है। परिणाम इस सबका यह है कि अपराधों के माफ़ करने से न तो ईश्वर ही न्यायकारी ठहर सकता है जिससे उसके ईश्वरत्व में बाधा पहुँचती है और न अपराधी ही का, अंत को कल्याण होता है इसलिये प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह दिया जा सकता है कि ईश्वर अपराधों को क्षमा नहीं करता। पाप बेशक क्षमा नहीं हो सकते।

पापों की निवृत्ति का एक इलाज

परन्तु मनुष्य स्वयं, उनकी निवृत्ति के लिये, एक इलाज कर सकता है। जिस तरह मनुष्य, स्वास्थ्यरक्षा के नियमों के तोड़ने रूप कर्म से रोगी हो जाता है परन्तु जब अपने दूसरे कर्म द्वारा, आयुर्वेद में वर्णित विधानानुसार, चिकित्सा करता है तो उससे पहले कर्म का मिला रोगरूपी फल, नष्ट हो जाता है इसी प्रकार अन्य प्रकार के किये हुए पाप रूपी कर्म, जो संचितरूप में रह कर, फल के लिये परिपक्व हो रहे हैं, ईश्वरोपासना रूपी चिकित्सा से नष्ट हो जाते हैं। इस वाद पर, वेदान्त दर्शन ने, प्रकाश डाला है। उसमें एक जगह कहा गया है कि "उस उपासना के फलीभूत होने पर अगले पिछले पापों का अश्लेष-संबन्धाभाव और नाश हो जाता है, जैसा कि शास्त्रों में कथन किया गया है"। अगले (भविष्य में किये जाने वाले पाप) और पिछले (जो किये जा चुके हैं)

(१) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥
(वेदान्त० ४ । १ । १३)

पापों के लिये सूक्त में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं अर्थात् अगले (उत्तर) के लिये अश्लेष = सम्बन्धाभाव और पिछले (पूर्व) के लिये विनाश, इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वरोपासक भविष्य मे तो कोई पाप करता ही नहीं इसलिये पापों से उसका असंबंध हो जाता है, यह बात तो स्पष्ट ही है, रही दूसरी बात अर्थात् पिछले पाप किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं ? यही बात विचारणीय है। विशेष उपासना के, प्रारम्भ करने से पहले उपासक ने जो पाप किये थे, उनको प्रथम तो उपासक, यम-नियमानुकूल नियमित तपस्या का कठोर जीवन व्यतीत करने से, अपने और से ही भोग लेता है इसके सिवा दूषित मन जिसने पाप किया था, वह अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य, शौच और तपादि से दूषित नहीं रहने पाता, उपासना का अन्तिम कृत्य "निदिध्यासन" अर्थात् आत्मा की अंतर्मुखी वृत्ति का जागृत कर लेना होता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने अथवा मन आदि के बाहरी काम के बंद हो जाने से, स्वयं मन आदि ऐसे निरर्थक और शक्तिहीन से, सुपुप्तावस्था में होने के सदृश, होजाते हैं कि फलीभूत उपासक पर उनका कोई प्रभाव बाक़ी नही रहता। जब मन, बुद्धि और चित्तादि ऐसे प्रभावहीन हो जाते हैं तब इनपर खिंची पापों की वासनारूप रेखायें भी, उन्हीं मन आदि के सदृश, सारहीन और निस्तेज हो जाती है। आत्मा का मन आदि से संबंध टूट जाने और इनसे उस के उपरक्त न रहने से, किसी बदसूरत चीज़ के नष्ट होने से जिस प्रकार उसकी बदसूरती, बिना यत्न ही के, नष्ट होजाती है अथवा किसी बदसूरत वस्तु के बेकार होने से उसकी बदसूरती के भी बेकार हो जाने के सदृश, चित्त से वे पापरेखायें भी नष्ट या बेकार हो जाती हैं, ऐसे ईश्वरोपासक

जीवन्मुक्त कहे जाया करते हैं। यही पिछले किये पापों का नष्ट हो जाना है। जिस वस्तु का हमारे ऊपर कोई प्रभाव न पड़े, हमारे लिये वह न होने के सदृश ही है। इसी प्रकार फलीभूत उपासक के, पिछले किन्ही जन्मों के किये पापकर्म, उसके लिये, न होने ही के सदृश हो जाते हैं? वेदान्त के वाक्य के अन्त में कहा गया है कि पाप के नष्ट होने की बात, उस वाक्य के अंत में, शास्त्रानुसार कही गई है। इसलिये एक सरसरी निगाह हम शास्त्रों पर डालना चाहते हैं कि वे कहांतक वेदान्त की पुष्टि करते हैं।

शास्त्रों का मत

छांदोग्योपनिषद्—में एक जगह कहा गया है कि "जिस प्रकार कमल के पत्ते जल से असंबंधित रहते हैं, इसी तरह ब्रह्मज्ञानी पापों से असंबंधित रहता है"[1]। फिर एक दूसरी बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि "उस ईश्वर को जानकर मनुष्य पाप कर्मों से असंबन्धित रहता है"[2]।

उपर्युक्त वाक्य ईश्वरोपासक के भविष्य में पाप से संबंध-रहित रहने की पुष्टि करते हैं। अब पापों के नाश के संबन्ध में देखिये:—

(१) ऋग्वेद—में एक जगह कहा गया है कि "जो कुछ

---

(१) यथा पुष्करपलाश आपो नश्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापकर्म न श्लिष्यते ॥ (छा० ४ । १४ । ३)

(२) नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्त विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति ॥
(बृह० ४ । ४ । २३)

मुझ में पाप है अथवा जो मैं द्रोह करता हूं अथवा जो झूठ का चिह्न मुझ में है, ईश्वर उसे दूर कर देवे[१]"।

(२) बृहदारण्यकोपनिषद्—में एक जगह लिखा है कि "उस (ब्रह्मवित्) को पाप नहीं स्पर्श करता, किन्तु वह समस्त पापों को पार कर जाता है, उसे पाप नहीं सताता किन्तु वह समस्त पापों को तपा देता है, पापरहित, निर्मल, निःसन्देह ब्रह्मवित् हो जाता है[२]"।

(३) मुण्डकोपनिषद्—में एक जगह लिखा है कि "ईश्वर के साक्षात् होने पर हृदय की गांठें (वासना) खुल जाती हैं, समस्त संशय दूर हो जाते हैं और समस्त कर्म (निष्कामेतर कर्म) क्षीण हो जाते हैं[३]"।

(४) फिर इसी (मुण्डकोपनिषद्) उपनिषद् में एक दूसरी जगह लिखा है कि "जब द्रष्टा, प्रकाशमान, जगद्कर्ता, स्वामी, व्यापक और वेदोत्पादक ईश्वर को देख लेता है तब वह विद्वान् पुण्य और पाप से छूट कर निर्मलता और परम समता को प्राप्त कर लेता है[४]"।

---

(१) इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ (ऋ० १ । २३ । २२)

(२) नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति, विपापो विरजो, विचिकित्सो ब्राह्मणो भवति ॥ (बृ० ४ । ४ । २३)

(३) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्डको० २ । २ । ८)

(४) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥
(मुण्डको० ३ । १ । ३ ॥)

(५) फिर एक तीसरी जगह इसी उपनिषद् में है कि जो कोई उस परमब्रह्म को जान लेता है वह शोक, पाप और गुहाग्रन्थि (वासना) से छूटकर अमरता प्राप्त कर लेता है[1]।

(६) ऋग्वेद में एक दूसरी जगह लिखा है कि "जो विद्वान् भुवन का ज्ञान रखते हैं और समस्त स्थावर और जंगम के मनन करने तथा उन पर अधिकार रखने वाले हैं, वे अब हम को, कल्याण के लिये, किये और न किये पापों से छुड़ा देवें[2]" इत्यादि इत्यादि, इस प्रकार की शिक्षा आमतौर से वेदोपनिषदादि ग्रंथों मे मिलती है। यह पापों से छूट जाना साधारण बात नहीं, मनुष्य जब अपने आस्तिक जीवन के अन्तिम ध्येय को प्राप्त करके संसार से सर्वथा पृथक् हो जाता है उस समय ऐसे पुरुष के, यदि पिछले जन्मों के, कोई पाप होते हैं तो उनसे भी छूट जाता है। इस संबंध मे एक बात और भी विचार करने योग्य है और वह यह है कि ब्रह्मज्ञान के सिवा क्या प्रायश्चित्त से भी, मनुष्य, अपने पाप कर्मों के फलभोग से बच सकता है ?

इसका उत्तर हां में नहीं दिया जा सकता। मनुष्य को, कोई भी भूल होने पर, उसे प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये।

(१) स यो हवैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवति। + + तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥

(मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ६)

(२) य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः। तेनः कृतादकृतादेनसस्परि अद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥

(ऋग्वेद १० । ६३ । ४)

प्रायश्चित्त से क्या पाप छूट जाते हैं ?

प्रायश्चित्त से कर्मफल से न बच सकने पर भी, प्रायश्चित्त की उपयोगिता है। उसी उपयोगिता का हम थोड़े शब्दों में यहां उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। यह कहा जा चुका है कि मनुष्य जब कोई भी कर्म करता है तो उससे उसका फल मिलने के सिवा, एक वासना बना करती है। चित्त में ये वासनायें लाल, पीली, नीली आदि अनेक रंगों की रेखाओं के रूप में, रहा करती हैं। इनका एक काम, यह भी होता है कि जिस कर्म की जो वासना होती है, उसी के करने की यह, भीतर से ही, प्रेरणा करती रहती है। प्रायश्चित्त की उपयोगिता यह है कि उससे, वासना का यह प्रेरक अंश, नष्ट हो जाता है और प्रायश्चित्त करने के बाद, उस दुष्कृत्य के करने की, जिसका प्रायश्चित्त किया गया है, प्रेरणा करने वाली कोई वस्तु अन्तःकरणों में बाक़ी नहीं रहती। यह थोड़ी बात नहीं है इसलिये प्रायश्चित्त को, उन्नत जीवन बनाने का, एक मुख्यसाधन समझना चाहिये।

अस्तु! अब हमें फिर कर्मविपाक (असली विषय) पर आकर उससे संबंधित अन्य बातों का विचार करना चाहिये।

मन की कुछेक क्रियायें जो अदृष्ट=प्रारब्ध से होती हैं

कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य एक काम करना चाहता है परन्तु उसका मन उस ओर न जाकर अन्य विषयों की ओर चला जाया करता है और यत्न करने पर भी, इच्छित कार्य की ओर नहीं जाता। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न पर, कुछ प्रकाश तो, प्रवृत्ति की बात कहते हुए, पड़ चुका है, इससे सम्बन्धित कुछ बातें यहां अंकित की जाती हैं। वैशेषिकदर्शन में, एक

जगह, अदृष्ट=प्रारब्ध से होने वाली बातों का उल्लेख है। वहां कहा यह गया है कि "बाहर निकल (एक शरीर से दूसरे शरीर में चला) जाना, समीप (अन्य विषयों की ओर) चला जाना, खान-पान का संयोग और अन्य कर्मों के साथ संयोग, ये सब, अदृष्ट=बिना देखे अर्थात् पहले किए हुए पुण्य पाप से बने प्रारब्ध से, कराये हुए कार्य होते हैं[1]"। उपर्युक्त कार्यों पर अधिक प्रकाश पड़ जावे इसलिये उनके संबंध में कुछ बातें यहां कही जाती हैं:—

जगत् में भिन्न प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति देखी जाती हैं, इस विभिन्नता का कारण क्या है? जो लोग इसी एक जगत् को पहला और अंतिम मानते हैं वे तो उत्तर दे दिया करते हैं कि ईश्वर की मरज़ी, उसने जिसको जैसा चाहा बना दिया। इसे भी एक उत्तर तो कह सकते हैं परन्तु यह सन्तुष्ट करने वाला उत्तर नहीं है। मनुष्यों ही में देखें एक सुखी है, दूसरा दुखी है, एक लंगड़ा लूला है तो दूसरा पांव वाला, एक अंधा है तो दूसरा समाखा इत्यादि। क्या यह सब ईश्वर ने अपनी इच्छा ही से कर दिया? यदि ऐसा हो तो, कम से कम, इसे न्याय तो नहीं कह सकते।

पुनर्जन्म

नये अहदनामे में एक जगह वर्णित है कि एक अंधे आदमी को देख कर, ईसा के शिष्यों ने, ईसा से पूछा कि "इसके माता-पिता या स्वयं इसमें से किसके पाप से यह व्यक्ति अंधा पैदा हुआ?" ईसा ने उत्तर दिया कि "दोनों में से किसी

इस विभिन्नता का एक और समाधान

(१) अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कायान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्ट-कारितानि ॥ (वैशेषिक० ५ । २ । १७)।

के पाप से यह अंधा पैदा नहीं हुआ वल्कि ईश्वर के कृत्यों ने अपने को इस व्यक्ति में प्रकट किया है।" रेवरेन्ड स्टेनली जौन्स ने, उत्तर को वहुत महत्वपूर्ण वतलाते हुए, ईसा के कथन से प्रकट किया है कि यदि कोई व्यक्ति वीमार होता है अथवा अंधा पैदा होता है तो इसमें न उस व्यक्ति का दोप है, न उसके माता पिता का, न ईश्वर का, किन्तु यह क्लेश एक अवसर है कि उस व्यक्ति में ईश्वर के कृत्यों को प्रकट किया जावे[१]। कोई इस उत्तर को, कितना ही महत्वपूर्ण कहे, परन्तु यह किसी साधारण व्यक्ति को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। किसी विशेप व्यक्ति में ही क्यों ईश्वर के कृत्यों के प्रकट करने का अवसर दिया गया? कम से कम दुनियां के आधे आदमी अंधे, लूले लंगड़े अथवा अन्य प्रकार के रोगी उत्पन्न होते तो ईश्वर के कृत्य अधिक मात्रा में संसार में प्रकट होते और अधिक व्यक्तियों को अवसर प्राप्त होता कि वे उन सव लूले

(१) प्रश्नोत्तर इस प्रकार है:—

Disciples—Who did sin, this man or his parents, that he should be born blind ?

Christ—Neither hath this man sinned nor his parents. But that the works of God should be made manifest in him.

+ + + + This would lay the responsibitily for sickness straight on God. But Jesus rejects that + + + + and says the calamity is an opportunity "to work the works of God" in him. (Christ and Human Suffering by E. Stanley Jones p 75 and 76)

लंगड़ों में ईश्वर के कृत्यो को प्रकट होते हुए देखकर काम में लावें। एक दूसरी जगह, इस बात पर विचार करते हुए कि मनुष्यों में असमानता क्यों है? स्टेनली जौन्स ने, अन्य सम्प्रदायों ने जो समाधान पेश किये हैं, उनमें से तीन का उल्लेख किया है:—

(१) असमानता का कारण पैतृक है। माता पिताओं मे विभिन्नता होती ही है, वही विभिन्नता सन्तान में चली आया करती है।

(२) सांसार्गिक परम्परा—सांसार्गिक परम्परा का अर्थ यह है कि जो बाहर के, वातावर्णिक, सामाजिक, आचारिक, धार्मिक, राजनैतिक और शीतोष्णिक प्रभाव बालक पर पड़ते हैं, वे उसे किन्हीं के अनुकूल और किन्ही के प्रतिकूल बनाकर असमानता पैदा कर दिया करते हैं।

(३) मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से असमानता पैदा कर लिया करता है।

स्टेनली जॉन्स को स्वीकार है कि उपर्युक्त तीनो मिलकर मनुष्यों में जो असमानता पैदा कर दिया करते हैं वे (तीनों) असमानता का ठीक कारण हो सकते हैं, परन्तु वे कहते हैं कि उपर्युक्त, यद्यपि असमानता का उत्तर ठीक है, परन्तु उनमें ईसाइयत के उत्तर की कमी है और वह (ईसाइयत का) उत्तर की कमी यह है कि "ईश्वर, इन असमानताओं और अन्यायों को अपने हृदय में धारण करता है जिससे वह हृदय सूली पर टूट जावे और हृदय के इस प्रकार सूली पर टूट जाने से संसार न केवल ठीक ही हो जावेगा किन्तु उसका उद्धार भी हो जावेगा[1]"।

---

(१) Christ and Human Suffering by E. Stanley Jones p. 59 to 62.

स्टेनली जोन्स का यह उत्तर दार्शनिक विचार के लेविल तक नहीं पहुंचता, इसमें ईसाइयत के प्रचार के उत्साह के सिवा और कुछ नहीं है। यह और इस प्रकार के उत्तर बीसवीं शताब्दी में दिये जाने योग्य नहीं कहे जा सकते।

श्री शंकराचार्य का समाधान

शंकरस्वामी ने, वेदान्तदर्शन का भाष्य करते हुये, एक जगह लिखा है कि "आहुतिमय अपतत्वों से लिपटे हुए जीवात्मा स्वकर्मफलभोगार्थ जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं[1]"।

शंकरस्वामी की दृष्टि में आवागमन ही असमानता का कारण है और मनुष्य एकजन्म के अपने कर्मों ही से दूसरे जन्म में, असमानभोग होने से, असमानता रक्खा करता है।

श्रीकृष्णजी पुनर्जन्म के समर्थन मे

गीता, जो मुख्य रीति से कर्मयोग का पुस्तक है, उसमें भी श्रीकृष्ण अर्जुन को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि "मेरे और तुम्हारे बहुतसे जन्म बीत चुके हैं उनको मैं तो जानता हूं परन्तु तुम नहीं जानते[2]"।

गीता की इस शिक्षा से भी स्पष्ट है कि असमानता का कारण, पिछले जन्म के कर्म हुआ करते हैं। अस्तु! अदृश्य प्रारब्ध के कराये कर्मों में सब से पहली बात, कही जाचुकी है कि पुनर्जन्म है। मनुष्य अपने कर्मों के प्रारब्धरूपी फल ही से जन्मजन्मान्तर को प्राप्त हुआ करता है।

---

(१) देखो वेदान्तदर्शन सूत्र ३ । १ । ६ का शांकरभाष्य।

(२) बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवचार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ (गीता ४ । ५)

अदृश्य का कराया हुआ दूसरा काम यह है कि मन उसके प्रभाव से, इच्छित विषय की ओर न जाकर, अन्य विषयों की ओर चला जाया करता है। ऐसा क्यों होता है? वैशेषिकदर्शनकार का कथन यह है कि पिछले संस्कार और वासनायें जिस प्रकार की हैं उनसे बनी हुई प्रवृत्ति के प्रभाव से, मनुष्य के अन्य प्रकार की इच्छा करने पर भी, मन दूसरी ओर चला जाया करता है। इसी प्रकार मनुष्य जो खाया करता है अथवा अन्य कर्म किया करता है, उस पर भी पहले कर्मों का, जो प्रायः प्रारब्ध के रूप में होते हैं, प्रभाव पड़ा करता है। इस दृष्टि से कर्म के, जिन्हें मनुष्य करने वाला होता है, दो भाग किये गये हैं:—

मन का अन्य विषयों की ओर चला जाना

(१) एक वे हैं जिन पर निकट भूत में किये कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ा करता (२) दूसरे वे हैं जिन पर प्रभाव पड़ा करता है। पहले प्रकार के कर्म शिक्षा प्राप्त करना आदि हैं जिन पर पिछले जन्मों से बनी वासना आदि का तो प्रभाव पड़ा करता है। परन्तु निकट भूत के कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ा करता। निकट भूत से अभिप्राय वर्तमान जन्म में अतिसमीप किये हुये कर्मों से है। दूसरे प्रकार के कर्मों पर इनका प्रभाव पड़ा करता है। उदाहरण के लिये मनुष्य के खान पान को ले लेवें। सभी जानते हैं कि खाना, पीना, मल, मूत्र करना स्वतंत्र कर्म है परन्तु जिस समय मनुष्य भोजन कर लेता है तब उसके लिये मलत्याग के लिये जाना अनिवार्य्य है, इसी तरह यदि मनुष्य जलादि पान करता है तब उसके लिये मूत्र त्यागार्थ जाना भी अनिवार्य्य है। ये मलमूत्र त्यागादि ऐसे कर्म होते हैं जो स्वतंत्र

कर्म के दो भाग

कर्म होते हुये भी निकट भूत के किये हुए कर्मों से, प्रभावित हुआ करते हैं। अस्तु! यहां एक बात को साफ़ कर देना आवश्यक है और वह यह है कि कर्म के फल से मनुष्य को सुख दुःख प्राप्त हुआ करते है, यह बात कही जा चुकी है परन्तु सांख्यदर्शन में बन्धनरूपी दुःख के कारणों पर विचार करते हुए निम्न बातें कही गई हैं:—

सांख्यदर्शन और दुःख के कारण

(१) काल बन्धन का कारण नहीं क्योंकि काल तो नित्य और व्यापी और सब से संबंध रखता है[1]।

(२) इसी हेतु से देश के योग से भी (बंधन) नहीं होता[2]।

(३) 'बाल्य, यौवन, वृद्धतादि' अवस्थाओं से बन्धन इस कारण नहीं हो सकता कि ये देह के धर्म हैं न कि जीवात्मा के[3]।

(४) कर्म से (भी बन्धन) नहीं क्योंकि (कर्म) अन्य का धर्म है और अतिप्रसंग दोष भी होगा[4]।

(५) यदि प्रकृति के बन्धन से (जीव को बन्धन कहें तो भी) नहीं, क्योंकि प्रकृति को भी परतन्त्रता है[5]।

(६) उस अविद्या से भी (बंधन) नहीं क्योंकि अवस्तु से बन्धन सम्भव नहीं[6]।

---

(१) न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसंबन्धात् ॥
(सांख्यदर्शन १ । १२)

(२) न देशयोगतोऽप्यस्मात् । (सांख्य० १ । १३)

(३) नाऽवस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः । (सांख्य० १ । १४)

(४) न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च । (सांख्य० १ । १६)

(५) प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपिपारतन्त्र्यम् । (सांख्य० १ । १८)

(६) नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धाऽयोगात् । (सांख्य० १ । २०)

(७) अनादि विषयवासना से भी इस (जीव) को बंधन नही हो सकता[१] ।

(८) सांख्यकार ने काल, देशादि उपर्युक्त ७ वस्तुओं में से किसी एक को भी बंधन अर्थात् दुःख का कारण नही माना परन्तु स्वयं उन्होंने एक जगह लिखा है कि "नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव (पुरुष) को उस (बंध) का योग नही हो सकता विना उस (प्रकृति) से संबंध के[२] ।" जिसका साफ मतलब यह है कि प्रकृति के संबंध से बन्धन होता है। यह विरोध किसलिये ? इसका उत्तर यह है कि अन्य दर्शनों की शैली के विरुद्ध सांख्यदर्शन मण्डन से नही अपितु खंडन से शुरू होता है और उसके खंडन के विषय "क्षणिक, शून्य, और विज्ञानवाद" हैं। प्रथम के दो वादों में कोई स्थिर सत्ता किसी वस्तु की स्वीकार नही की गई है और तृतीय वाद में "विज्ञान" ही एक वस्तु है, उसके सिवा और कोई भी वस्तु नही है, ऐसा माना गया है। इन वादों का स्वयं दर्शनकार ने, इन खंडनात्मक सूत्रों के बीच में, नाम भी लिया है। उनका थोड़ासा विवरण अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहां दिया जाता है:—

क्षणिकवाद

इस वाद के संबंध में कहा गया है कि "दोनों (कर्त्ता और भोक्ता पुरुष) के एक काल में योग न होने से उपकार्य उपकारक (कार्य-कारण) भाव नही हो सकता अर्थात् जिसने पहले क्षण में

(१) नाऽनादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य । (सांख्य० १ । २७)

(२) न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते । (सांख्य० १ । १९)

कर्म किया था वह चित्त उत्तरक्षणभावी भोक्ता से भिन्न है, फिर एक के किये हुए कर्म को दूसरा क्यों भोगे[1] ?

विज्ञानवाद

इस वाद के संबंध में सांख्य में कहा गया है कि "केवल विज्ञान ही (वस्तु) नहीं है क्योंकि बाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं[2] ।"

इस वाद का पक्ष यह है कि "शून्य तत्व है, भाव नष्ट हो जाता है क्योंकि नाश वस्तु का धर्म है ।

शून्यवाद

इसके उत्तर में वाद के लिये कहा गया है कि "बेसमझों का वृथा कथनमात्र है । क्योंकि विनाश प्रत्येक वस्तु का धर्म नही है, केवल सावयव पदार्थ में नाश देखा जाता है निरवयव अथवा एकावयव पदार्थ नष्ट नहीं होते[3] ।"

जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि तीनों वादों में से किसी एक में भी संसार में स्थिर सत्ता, ईश्वर, जीव और प्रकृति में से, किसी एक की भी स्वीकार नही की गई है । ऐसी दशा में दर्शनकार ने उन्हीं को संबोधन करते हुए कहा है कि जब काल, देश, अवस्था, कर्म और प्रकृति आदि कोई वस्तु या तो स्थिर नहीं, या है ही नहीं, तो फिर इन्हें बंध का कारण किस प्रकार कहा जा सकता है? और इसी प्रसंग में

---

(१) न द्वयोरेककालाऽयोगादुपकार्योपकारकभावः ।

(सांख्य० १ । ३१)

(२) न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः । (सांख्य० १ । ४२)

(३) शून्यं तत्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ।

(सांख्य० १ । ४४)

अपवादमात्रमऽबुद्धानाम् (सांख्य० १ । ४५)

उन्होंने प्रकृति और अविवेक को भी बंध का कारण नहीं बतलाया, परन्तु जब अपने दर्शन के इस खंडनात्मक भाग को समाप्त कर दिया तो अपना पक्ष प्रकट करते हुए, क्योंकि वे प्रकृति आदि की नित्य और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं, उन्होंने प्रकृति के अविवेक को बंध का कारण बतलाया और यही प्रकट करना सांख्यदर्शन का मुख्य उद्देश्य था। इसी प्रकृति का विकाररूप शरीर बंधन का हेतु सही, परन्तु उस (शरीर) का सदुपयोग करके मनुष्य उसे बंधन से छूटने का कारण भी बना लिया करता है। अस्तु! ईश्वर न्यायपूर्वक जहां कर्मफल दिया करता है वहां दयापूर्वक उस कर्मफल को, उसके सुधार का कारण भी बना दिया करता है। उसकी दया पुनर्जन्म के रूप में आये हुए जीव के कर्मफल से उस (जीव) का सुधार किस प्रकार किया करती है, यही बात यहां प्रकट की जाती है।

आवागमन (पुनर्जन्म) सुधार का कारण

यह प्रसिद्ध बात है जिसे प्रायः सभी जानते हैं कि मनुष्ययोनि कर्म करने और फल भोगने दोनों की योनि है, परन्तु अन्य पशु, पक्षी और वृक्षादि की योनियां केवल फल भोगने के लिये हैं। इन भोगवाली योनियों में जाने ही से मनुष्य का सुधार हुआ करता है। मनुष्य को जितनी भी इन्द्रियां मिली हैं, सदुपयोग करने के वास्ते हैं। एक उदाहरण से यह बात साफ हो जायगी। मनुष्य को आंखें देते हुए, रचयिता ने शिक्षा यह दी कि इन से सभी मनुष्यों को मित्र की दृष्टि से देखो, किसी के लिये भी, देखते हुए, तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या द्वेष की भावना न हो। एक मनुष्य इस शिक्षा पर आचरण नहीं करता, सदैव आंखों का दुरुपयोग करता है, समझाना बुझाना उसके लिये सब बेकार है। अब बतलाओ

उसका सुधार किस प्रकार हो ? उसके सुधार का, अब इस के सिवा कोई तरीका बाक़ी नहीं रहा कि, उस व्यक्ति को, आंख से काम लेने से रोक दिया जावे। आवागमन से ज्ञात यही होता है कि वह यदि मनुष्ययोनि मे पैदा होगा तो अंधा पैदा होगा यदि और भी कर्म उसके दूषित हैं तो फिर किसी ऐसी योनि में पैदा होगा जो चक्षुरहित हैं। करने से करने का और न करने से न करने का अभ्यास हुआ करता है, इसे सभी जानते हैं। इसलिये उस प्राणी की आंखों का काम वंद हो जाने से, आंखों को, जो ईर्ष्या द्वेष से देखने का अभ्यास था, वह जाता रहा। और वह व्यक्ति सुधरी हुई आंखो के साथ फिर मनुष्ययोनि में पैदा हो जाता है। यदि किसी की एक से अधिक इन्द्रिय इसी भांति दूषित हो जाती है तो इसी प्रकार उसकी वे सभी इन्द्रियां छिन जाती हैं और उनका भी उपर्युक्त भांति सुधार हो जाता है। यदि कोई मनुष्य इतना अधम हो जाता है कि उसके अंतः और वहिःकरण सभी दुरभ्यासी हो जाते हैं तो उस अधम व्यक्ति से इरादा करके काम करने वाली सभी वाहर और भीतर की इन्द्रियां छिन जाती हैं और वह यदि जंगम योनि में पैदा होता है तो 'अमीवा" आदि इन्द्रियरहित जन्तुओं के रूप में और यदि स्थावरयोनियों में, तो वृक्षादि की योनियों में से किसी में, पैदा हो जाता हैं जो आम तौर से इन्द्रियरहित योनि होती है, और इस प्रकार उसकी सभी इन्द्रियों का, काम वन्द हो जाने से, सुधार हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि ईश्वर की यह दया है कि मनुष्य के न चाहने पर भी, आवागमन द्वारा दंडविधान से, उसका जवरन सुधार हो जाया करता है। यदि रेवरेंड स्टैनली जौन्स आवागमन को इस प्रकार समझ लेते तो

जो बातें उन्होंने, इस (पुनर्जन्मादि के) सम्बन्ध में लिखी हैं न लिखते[1]।

अस्तु ! यहां यह और जान लेना चाहिये कि वैशेषिककार ने, कर्म के दो विभाग करते हुए, प्रकट किया है, "दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनवाले कर्मों में, दृष्ट के अभाव मे, प्रयोजन (प्रयोग या अनुष्ठान) परलोक के सुख के लिये हैं।"

फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार के

अर्थात् वेद में दो प्रकार के कर्मानुष्ठान हैं। कुछ कर्मों का फल दृष्ट है जो इसी लोक और इसी जन्म में प्राप्त होता देखा जाता है परन्तु अन्य कर्मों का फल अदृष्ट है जो जन्मान्तर में मिलता है उन्हीं को परलोकप्रयोजनवाला कहा जाया करता है[2]। परलोक केवल जन्मान्तर का नाम नहीं है अपितु उस (परलोक) में, दुःखों से सर्वथा छूट जाने अथवा मुक्त हो जाने का अभिप्राय भी शामिल है। मुक्त होना क्या है ? इस सम्बन्ध मे कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि कर्मविपाक की यह अन्तिम गति है।

एक जगह कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान से दोष, उससे प्रवृत्ति, उस (प्रवृत्ति) से जन्म और जन्म से दुःख प्राप्त हुआ करता है, जब मनुष्य क्रमपूर्वक इनके दूर करने का यत्न करता है अर्थात् पहले उसने अपने भीतर से मिथ्याज्ञान को दूर किया तो

मुक्ति

(१) देखो Christ and Human Suffering by Stanley Johns p 55-65.

(२) दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय।

(वैशेषिक० ६ । २ । १)

उससे दोष बाकी नहीं रहता, दोष के न रहने से, उसके कार्य-प्रवृत्ति का नाश हो जाता है प्रवृत्ति के नाश से, जन्माभाव हो जाता है और जन्म के न होने से मनुष्य दुःखों से छूट जाया करता है. इसी का नाम अपवर्ग (मुक्ति) है[१]। जन्म और जन्माभाव में अन्तर क्या है ? जैसा प्रारम्भ में कहा गया है जन्म, आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है, और जन्माभाव आत्मा का शरीरों से रहित होना है। इन्हीं शरीरों से रहित होने को मुक्ति कहते हैं। एक दूसरी जगह भी इसी प्रकार की बात कही गई है:—"उस कर्मारम्भ (आत्मा, मन और इन्द्रिय का संयोग) के अभाव में (आत्मा, मन और इन्द्रिय का) संयोग नहीं होता और संयोग के अभाव का नाम ही शरीरों से रहित होना अथवा मोक्ष है[२]।"

मुक्ति मे तीनों प्रकार के शरीरों का अभाव

यहां यह बात स्पष्ट रीति से कह दी गई है कि मुक्तावस्था वह है जिसमे कोई भी (तीन प्रकार के शरीरों में से) शरीर बाक़ी नहीं रहता। तीन प्रकार के शरीर कारण, सूक्ष्म और स्थूल हैं जिनका पहले जिक्र आ चुका है। एक जगह यह बात, एक उपनिषद् में भी अच्छी तरह से खोलकर कह दी गई है। वहां कहा गया है कि जब शरीर छोड़ने के बाद जीव मुक्त होता है तो उसके साथ क्या जाता है और क्या नहीं जाता ? "पन्द्रह कलायें अपने कारण में और समस्त

(१) दु.खजन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।(न्यायदर्शन १ । २)

(२) तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।

(वैशेपिक० ५ । २ । १८)

इन्द्रियां भी अपने कारण में चली जाती हैं। (किए हुए निष्काम) कर्मों और विशेष (अन्तर्मुखी) ज्ञान के साथ जीव अपने से सूक्ष्म और एकरस रहने वाले परमात्मा से मिल जाता अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है[1]।" वे पन्द्रह कलायें क्या हैं जो जीवात्मा में अपने कारण मे चली जाया करती हैं। प्रश्नोपनिषद् में उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है:—

१५ कलायें

(१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्नि, (६) जल, (७) पृथिवी, (८) इन्द्रिय, (९) मन, (१०) अन्न, (११) वीर्य्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र (वेद), (१४) कर्म, (१५) लोक, (१६) नाम[2]। जब प्राण और वीर्य्य अथवा मन और इन्द्रिय को इकट्ठा कर लेते हैं, तब ये ही सोलह कलायें पन्द्रह कलायें कही जाने लगती हैं। इन कलाओं में भी इन्द्रिय की गणना की गई है और उपनिषद् के वाक्य मे भी १५ कलाओं से पृथक् इन्द्रियों के अपने कारण में, लीन होने की बात कही गई है। इसका कारण यह है कि एक तो असली इन्द्रियां होती हैं जिसका स्थान मनुष्य का मस्तिष्क होता है और दूसरी इन्द्रियों के गोलक। इन्द्रिय-

---

(१) गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ७

(२) स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुः ज्योतिराप पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्य्यम् तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च॥
(प्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः)

गोलक १५ कलाओं में आ गईं, बाक़ी रही असली इन्द्रियां। उनको उपनिषद्वाक्य में पृथक् लिख दिया गया है। तात्पर्य यह है कि इस समय न सूक्ष्म इन्द्रिय रह जाती हैं न इन्द्रिय-गोलक। बाकी सब कुछ १५ कलाओं में आ गया। इस प्रकार मोक्षावस्था प्राप्ति पर केवल शुद्धात्मा रह जाता है। प्रकृति का किसी प्रकार का सूक्ष्म, स्थूल अथवा कारणशरीर बाक़ी नहीं रहा करता। ऐसा आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञान और वासना-रहित कर्म (इन्हीं के योग को धर्म कहते हैं) के साथ, तीनों प्रकार के दुःखों "(१) आध्यात्मिक=काम क्रोधादि, (२) आधि-भौतिक=सिंह, व्याघ्र, चोर आदि से पहुंचने वाले तथा (३) आधिदैविक=अग्नि, वायु, बिजली आदि से पहुंचने वाले" से छूट कर मुक्त हो जाता है। मनुष्य के पुरुषार्थ की, जैसा कहा गया है, अन्तिम गति यही मुक्ति है। कुछेक सज्जन, कर्म का

मुक्ति के मुख्य साधन ज्ञान और कर्म

निरादर करते हुए कह दिया करते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से होती है। ऐसा कहने वालों में, मुख्य स्थान शंकरमतानुयायी नवीनवेदान्तियों का है[1]। परन्तु स्वयं वेदान्तदर्शन में, जिसके टीका के आधार से, यह (माया) वाद

(१) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि में, शंकराचार्य के संप्रदाय मायावाद को नवीनवेदान्त लिखा है परन्तु असल में स्वामीजी इस वाक्य के प्रारम्भ करनेवाले नहीं थे। इससे पहले सांख्यदर्शन के सूत्र "नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धाऽयोगात्" (सांख्य० १ । २०) के भाष्य मे विज्ञानभिक्षु ने, उन्हें नवीनवेदांती लिखा था। विज्ञानभिक्षु के शब्द ये हैं:—"अनयैव च रीत्या नवीनाना-मपि प्रच्छन्नबौद्धानां मायावादिनामविद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम्।"

चला है इसे (मुक्ति को) केवल ज्ञानजन्य नहीं कहा है। वेदान्त का यह प्रकरण बड़ा मनोरंजक है। हम थोड़ी सी उसकी यहां चर्चा करते हैं:—

वेदान्त दर्शन और मुक्ति के साधन

वेदान्त में एक जगह बादरायण के प्रमाण स ब्रह्मज्ञान से मुक्ति का होना कथन किया गया है[1]। उसके बाद "जैमिनि" का मत प्रदर्शन किया गया है कि "जैमिनि आचार्य ऐसा कहते हैं कि जैसे अन्य प्रकरणों में है वैसे ही ब्रह्मज्ञान को कर्म-काण्ड का शेष होने से (उसके द्वारा) मुक्ति का कथन है[2]। बादरायण के मत में कर्म का निरादर नहीं किया गया है इसी लिये आगे लिखा है कि (ऋषि मुनियों तथा जनकादि का) आचरण देखने से भी पाया जाता है कि वे ज्ञान और कर्म दोनों का अवलम्ब लेते थे[3]" यह बात, वेद द्वारा श्रवण होने से, प्रमाण मानने योग्य है[4] फिर दर्शनकार ने लिखा है कि "समन्वारम्भ शब्द से" भी ज्ञान और कर्म दोनों का साधन होना पाया जाता है[5]। तथा "कर्म वाले को ज्ञान

(१) पुरुषार्थोऽत. शब्दादिति बादरायणः ॥ वेदान्त० ३ । ४ । १ ।

नोट—इस सूत्र में "अतः" शब्द से, पूर्वपादोक्त "गुणोपसंहार-ज्ञान" की अनुवृत्ति लेकर ज्ञान से मोक्ष का कथन है।

(२) शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥

वेदा० ३ । ४ । २ ।

(३) आचारदर्शनात् ॥ वेदा० ३ । ४ । ३ ।

(४) तच्छ्रुतेः ॥ वेदा० ३ । ४ । ४ ॥ कुर्व्वन्नेवेहकर्माणि × ×

यजुर्वेद ४० । २ ।

(५) समन्वारम्भणात् ॥ ३ । ४ । ५ ॥

का उपदेश पाये जाने से भी" दोनों को आवश्यक ठहराया है[१]।

फिर दर्शनकार ने कहा है कि "नियम पाये जाने से भी" मुक्ति के लिये ज्ञान और कर्म दोनों का होना आवश्यक है[२]। नियम का तात्पर्य्य वेदप्रतिपादित नियम से है। वेद ने इस संबंध में बड़ी मनोरंजक और स्पष्ट शिक्षा दी है। वेद मे एक जगह कहा गया है:—"वे जो, (ज्ञान की उपेक्षा करके केवल) कर्म का सेवन करते हैं, अंधकार मे प्रवेश करते हैं और उससे भी अधिक वे जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) ज्ञान में रत (निमग्न) होते हैं[३]"। अर्थात् ज्ञान की उपेक्षा करने के मुकाबिले में, वेद ने, कर्म की उपेक्षा करने को, अधिक अंधकार मे ले जाने वाला, कहा है। परंतु वेद का सिद्धान्त यह है कि दोनों में से एक की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसीलिये वेद ने, उपर्युक्त शिक्षा देने के बाद, उपदेश किया है:—"जो ज्ञान और कर्म दोनों को साथ साथ काम में लाते हैं, वे कर्म

नोट—बृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य का यहां हवाला दिया गया है। वह वाक्य इस प्रकार है:—

"तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते।" (बृह० ४। ४। २)

अर्थात् उस मुक्ति में जाने वाले जीव के साथ ज्ञान और कर्म सम्यक् प्रकार से जाते हैं।

(१) तद्वतो विधानात्॥ (वेदा० ३। ४। ६।

(२) नियमाच्च। (वेदांतदर्शन ३। ४। ७)

(३) अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥
(यजुर्वेद ४०। १२)

के द्वारा मृत्यु को पार करके, ज्ञान के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते हैं[1]।"

गीता में भी कर्म का महत्व प्रकट किया गया है। जब गीता के दूसरे अध्याय के अंत में, कृष्ण महाराज ने कर्म से ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकट की तो तीसरे अध्याय के प्रारंभ ही में, अर्जुन ने, उनसे पूछा कि "यदि तुम्हारे मत में कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो तुम, हे केशव! किसलिये (युद्ध जैसे) घोर कर्म में मुझे लगाते हो[2]?" तो इन प्रश्नों के उत्तर में कर्म की महिमा प्रकट करते हुये कृष्णजी ने अर्जुन से कहा कि "तू नियत कर्म कर क्योंकि अकर्मता से तो कर्म करना श्रेष्ठ है! क्योंकि अकर्मता से तो शरीर भी कायम नहीं रह सकता[3]।"

अस्तु! वेदान्त दर्शनकार ने, नियम की बात कहते हुये, वादरायणमुनि के संबंध में प्रकट किया है कि "अधिक स्पष्ट उपदेश से तो वादरायण का ऐसा ही तात्पर्य्य है (कि कर्मपूर्वक ज्ञान होना चाहिये) उस का कथन स्पष्ट देखने से[4]।" यहां दर्शनकार ने वादरायण और जैमिनि की सम्मतियों मे मेल दिखला दिया। क्यों यह मेल दिखलाया इसका

(१) विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजुर्वेद ४० । १४)

(२) ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (गीता ३ । १)

(३) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापिच ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता ३ । ८)

(४) अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।
(वेदान्त ३ । ४ । ८)

उत्तर दर्शनकार ने दिया है इसलिये कि "दोनों के दर्शन तुल्य हैं[1] " अर्थात् वादरायण और जैमिनि के दर्शनों में अविरोध है इसलिये उनके मतों में भी समता होनी चाहिये। फिर उन्हों (दर्शनकार) ने केवल ज्ञान से मुक्ति होने के सम्बंध में स्पष्ट कह दिया कि "यह सार्वत्रिक नियम नहीं है[2]।" अर्थात् कोई कोई ऐसा भी मानते हैं परंतु अधिकतर कर्म और ज्ञान दोनों ही से मुक्ति का होना स्वीकार करते हैं। दर्शनकार ने इस प्रकरण को समाप्त करते हुए ज्ञान और कर्म के लिये कहा कि इनका "विभाग १०० के समान है[3] ॥" अर्थात् ५०-५० का योग सौ होता है इसी तरह से कर्म और ज्ञान का विभाग है। अर्थात् मोक्ष के लिये जिस प्रकार ज्ञान की ज़रूरत है उसी प्रकार कर्म की भी।

सांख्यदर्शन और मुक्ति

सांख्यदर्शन में प्रकृति और उसकी विकृति के यथार्थज्ञान होने को मुक्ति का कारण बतलाया गया है! और कर्म को मोक्ष का कारण नहीं कहा। एक जगह सांख्य में कहा गया है कि "काम्य (सकाम) और अकाम्य (निष्काम) में भी साध्यत्व (साधन-जन्य) की समानता से" (दुःख वा बन्ध की निवृत्ति नहीं[4]) फिर इसके आगे कहा गया है कि "स्वरूप से मुक्त को पराकाष्ठा का बन्ध नाशमात्र है (इसलिये) समानता नहीं[5] ।"

(१) तुल्यं तु दर्शनम्। (वेदांत० ३।४।९)

(२) असार्वत्रिकी। (वेदांत० ३।४।१०)

(३) विभागः शतवत्। (वेदान्त० ३।४।११)

(४) काम्येऽकाम्येपि साध्यत्वाऽविशेषात् ॥ (सांख्य० १।८५)

(५) निजमुक्तस्य वन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ सांख्य० १।८६ ॥

अर्थात् यदि केवल कर्म से मुक्ति हो तो आत्मा का साक्षात् सच्चिन्मात्र स्वरूप से नहीं होता परन्तु विवेक (ज्ञान) से मुक्ति हो तो उस निजमुक्त (स्वरूप से मुक्त) का बंधन पूर्णतया नष्ट हो जाता है इसलिये कर्म द्वारा मोक्ष को ज्ञान-जन्य मोक्ष की समानता नहीं इन तथा इस प्रकरण के (दर्शनान्तर्गत) अन्य सूत्रों पर दृष्टि डालने से यह बात साफ़ हो जाती है कि दर्शनकार ने केवल कर्म से मुक्ति होने का निषेध करते हुये, उसको, यदि हो भी, तो उसे गौणता दी है। परन्तु असल में केवल कर्म से मुक्त होने का प्रश्न तो कहीं उठाया ही नहीं गया जो लोग कर्म को मुक्ति का साधन मानते हैं वे ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते, किन्तु उनका कथन है कि ज्ञान और कर्म दोनों ही से मुक्ति होती है। अतः स्पष्ट है कि इस प्रकरण में सांख्यदर्शन का, वेद अथवा वेदान्त और मीमांसा आदि से विरोध नहीं। विरोध उस समय हो सकता था यदि कोई इनमें से केवल कर्म से मुक्त होने का प्रतिपादन करता।



बाहरवां अध्याय

सकाम और निष्काम कर्म

वेद में एक जगह शिक्षा दी गई है कि "कर्म करते हुये ही, मनुष्य, सौ वर्ष जीने की इच्छा करे परन्तु शर्त यह है कि वे करने वाले को लिप्त न करें अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जावे, इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है"[1]। मंत्र का भाव स्पष्ट है कि मनुष्य के लिये उसके उद्देश्य की पूर्ति का, एक ही मार्ग है और वह यह है कि वह कर्म करे परन्तु इस प्रकार से करे कि वे उसके बंधन में लाने का कारण न बनें। कर्म के बंधन में लाने न लाने की दृष्टि से, कर्म दो प्रकार के होते हैं।

(१) सकाम कर्म (२) निष्काम कर्म—जो कर्म सांसारिक फल की इच्छा रख कर किये जाते हैं, वे सकाम और फल की इच्छा न रख और केवल अपना धर्म (कर्तव्य) समझ कर जो किये जाते हैं वे निष्काम कर्म कहे जाते हैं।

दोनों प्रकार के कर्मों का मुख्य अन्तर

इन दोनों प्रकार के कर्मों का मुख्य अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जिसका इससे पूर्व उल्लेख हो चुका है और जिसका काम यह होता है कि जिस प्रकार के कर्म की वह वासना है इसी प्रकार के कर्म

---

(१) कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
यजुर्वेद ४०। २।

करने की भीतर से प्रेरणा करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुये व्यासमुनि ने एक संसार-चक्र की बात कही है। वह चक्र (पहिया) छः अरे वाला होता है:—मनुष्य इच्छा करके कर्म करता है, उसका फल सुख फिर उपर्युक्त प्रकार की इच्छा-

संसारचक्र

नुकूल कर्म कराती है, उससे फिर सुख और सुख से फिर वही सुख की वासना और उससे फिर वही इच्छा। इस प्रकार (१) इच्छित कर्म (२) इसका फल सुख और (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं। इसी प्रकार (१) द्वेष से पूर्ण कर्म, (२) उसका फल दुःख और (३) उस दुःख से बनी, दुःख की वासना. ये चक्र के दूसरे तीन अरे हैं। इन छः अरों से बना चक्र, संसारी पुरुषों को, बराबर चक्र में रखता है। इसी चक्र को संसारचक्र कहते हैं। इसी चक्र में रहने का नाम, कर्म में, मनुष्य का लिप्त होना या यों कहिये कि कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। जब तक यह रागद्वेषजन्य वासना मनुष्य के अंतःकरणस्थ चित्त के अंतर्गत रहती है तब तक, मनुष्य इस संसारचक्र अथवा मरने जीने के चक्र से निकल नहीं सकता परन्तु निष्काम कर्म करने से कर्म करने का अभ्यास बनने पर भी यह बंधन में रखने वाली वासना नहीं बना करती इस प्रकार निष्कामकर्मकर्त्ता, निष्काम कर्म करते हुये, आवागमन के बंधन से छूट जाया करता है न संसार चक्र उसे अपने लपेट में ले सकता है और न वह वासना के जाल में ही फंस सकता है। इस (संसार) चक्र में फंसे हुये प्राणी इससे किस प्रकार निकल सकते हैं? इस का उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्त्तन करना है। इस परिवर्त्तन से प्रभावित मनुष्य, निष्काम कर्म करने का अभ्यास करके,

वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से, सुख दुःख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख दुःख के न रहने से उनकी वासनायें भी नहीं बन सकतीं। इस प्रकार चक्र के छओं अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उसके बंधन से बाहर हो जाता है। यह शिक्षा वेद और उपनिषद् की है। गीता में भी इसी शिक्षा का समर्थन किया गया है। एक जगह गीता में कहा गया है कि 'विद्वान् लोग काम्य (सकाम) कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं। असली त्याग समस्त कर्मों के फल का त्याग ही कहा जाता है[1]।"

गीता और कर्मयोग

फिर एक दूसरी जगह कहा गया है:—"कर्म का त्याग (संन्यास) और कर्मयोग (फलत्याग की इच्छा के साथ कर्म करना) दोनों ही श्रेयस्कर हैं। तो भी कर्म त्याग से कर्मयोग की विशेषता है[2]।" गीता में योग अथवा कर्मयोग किसे कहा गया है? यह बात गीता के निम्न वाक्यों से प्रकट होती है:—

"हे अर्जुन कर्म के फल को त्याग करते हुए, एकाग्र चित्त होकर, कर्म कर। उस कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनों में समता का भाव रख, इसी समता को योग कहते हैं[3]। (२) फिर एक और जगह कहा गया है:—

(१) काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ गीता १८। २।

(२) संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ गीता ५। २।

(३) योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ गीता २। ४८॥

बुद्धियुक्त (ज्ञानी) होकर यहां अच्छे और बुरे कर्मों में (फल की इच्छा) मनुष्य छोड़ देता है, इसलिये तू योग की प्राप्ति के लिये उसमें लग, वह योग, कर्म में कुशलता ही का नाम है[1]। क्यों, इस फल की इच्छात्यागरूप योग में मनुष्य को लगना चाहिये ? इसका उत्तर गीता में इस प्रकार दिया गया है:—"कर्म करने ही में तेरा अधिकार है फल मे कदापि नहीं, इसलिये तू कर्मफल (की इच्छा) का हेतु मत बन, न अकर्मता से अपना नाता जोड़[2]।" प्रारम्भ से लेकर अंत तक समस्त गीता की, कर्मफल के संबन्ध मे, यही टोन है। वह कर्म करने की शिक्षा देने में सबसे बढ़ कर है परंतु चाहती है कि जो कुछ करो सब ईश्वर के अर्पण करते हुये करो। अपने स्वार्थ के संबन्ध को उसमे रखना पाप समझो।

क्या निष्काम बनना संभव है?

कुछेक महानुभावों के हृदय मे यह शंका उत्पन्न हुआ करती है कि किस प्रकार यह संभव है कि कोई मनुष्य निष्काम हो जावे ? वह इच्छा किये बिना संसार में कोई काम नही कर सकता। अच्छे से अच्छे काम के लिये भी इच्छा करने की ज़रूरत हुआ करती है। इस शंका का समाधान यह है कि निष्काम कर्म करने की प्रेरणा करने वाले भी यह नहीं कहते कि मनुष्य इच्छा न करे। वह ईश्वर की ओर चलना चाहता है, धर्म समझ कर कोई काम करना

---

(१) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
गीता २ । ५० ॥

(२) कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता २ । ४७ ॥

चाहता है, किसी मुसीबत में फंसे हुए को उससे छुड़ाना चाहता है अथवा और इसी प्रकार के कोई अन्य कृत्य, जिनमें उसका, अपने लिये लेशमात्र भी (सांसारिक) स्वार्थ नहीं है, करना चाहता है, तो इनमें से कोई भी कृत्य इच्छारहित नहीं हो सकता। इसलिये यह समझना तो भूल है कि निष्कामता के हामी, यह चाहते हैं कि मनुष्य इच्छारहित हो जावे। उनका कहना केवल यह है कि तुम कर्म करते हुए अपने, किसी ऐसे स्वार्थ का, उससे संबंध न जोड़ो, जिसके द्वारा तुम किन्हीं प्राकृतिक सुखों की, अपने लिये कामना करते हो। प्राकृतिक सुखों का अभिप्राय, अपने लिये धन, पुत्र, स्त्री, सांसारिक मान प्रतिष्ठा आदि की इच्छा करना है। इस प्रकार की इच्छायें, बंधन में रखने वाली वासनायें पैदा करती हैं। अन्य, ईश्वर-प्राप्ति अथवा लोकोपकार, करने आदि की इच्छायें, बंधन में लाने और बंधन को दृढ़ रखने वाली वासनायें, नहीं पैदा करतीं।

क्या निष्काम कर्म करना घाटे का सौदा है ?

कुछेक महापुरुषों के हृदय में एक और दूसरे प्रकार की शंका उत्पन्न होती है कि अपने लिये इच्छा न करके, निष्काम रहने से, मनुष्य कर्म कर के भी घाटे ही में रहेगा! क्यों घाटे में रहेगा? इसके लिये उनका कहना यह है कि जब तुम किसी से कुछ चाहते ही नहीं हो तो तुम्हीं को क्यों कोई कुछ देने लगा? इस प्रकार की शंका करने वाले एक नियम की बात को भुला देते हैं और वह बात यह है कि कर्मविज्ञान का तो एक अटल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्म करके उसके फल से, न इच्छा रखने पर भी, बच नहीं सकता! अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका वैसा ही फल अवश्य

मिलेगा इसलिये फल की इच्छा करके, मनुष्य अपने लिये बंधन पैदा कर लेवे, इससे अधिक और उसे लाभ कुछ नहीं क्योंकि किये कर्म का फल तो अवश्य ही मिलेगा। यहां हम एक उदाहरण देते हैं जिससे इन दोनों प्रकार के कर्मों के अच्छे और बुरे दोनो पहलू, भली भांति, प्रकट हो जावेंगे—

एक उदाहरण

एक सकामवादी गृहस्थ के घर मे पुत्र का जन्म हुआ पुत्रोत्पत्ति के साथ ही उसने ख्याली घोड़े दौड़ाने शुरू किये और उसके साथ अनेक आशायें बांधनी शुरू कर दी कि पुत्र बड़ा होकर उसको बहुत धन देगा और अनेक प्रकार की सेवा शुश्रूषा करेगा इत्यादि। पुत्र के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होने की संभावना है। कल्पना करो वह अच्छा हुआ तब तो उस गृहस्थ की समस्त आशायें पूरी होगईं परन्तु यदि अच्छा न हुआ और उस (पुत्र) ने, माता पिता को कष्ट दिया, तब उस गृहस्थ की समस्त आशाओं पर पानी फिर गया और उसे क्लेशित होना पड़ा। हमने देख लिया कि सकामवादी गृहस्थ को, पुत्र के अच्छा न होने और इसी कारण, उसकी आशाओं के पूर्ण न होने से दुःख उठाना पड़ा। अब दूसरे निष्कामवादी गृहस्थ को देखोः—उसके घरमे भी एक पुत्र पैदा हुआ, उसने अपने सिद्धांत के अनुकूल, उस पुत्र के साथ कोई आशायें नहीं बांधी किन्तु पुत्र की रक्षा करते हुये, उसके अच्छे बनाने को अपना कर्तव्य स्थिर किया। अब कल्पना करो कि पुत्र अच्छा हुआ और उसने माता पिता की अच्छी सेवा की तो इससे उस गृहस्थ को, पहले गृहस्थ की अपेक्षा, अधिक प्रसन्नता हुई, क्योंकि आशा की पूर्ति से तो प्रसन्नता होती ही है परन्तु बिना किसी आशा ही के, किसी

को यदि कुछ मिल जावे तो उससे, उसे अधिक प्रसन्नता होती है। अब कल्पना करो कि पुत्र अच्छा नही हुआ और उसने कोई अच्छा सलूक, माता-पिता के साथ, नही किया, तब भी इस दूसरे गृहस्थ को कुछ कष्ट नहीं हुआ क्योंकि, सकामवादी गृहस्थ की तरह, इसने पुत्र के साथ कोई आशा बाँधी ही नही थी। संसार में क्लेश तो आशा की पूर्ति न होने ही से हुआ करता है जैसा कि एक कवि ने कहा है:—

रहती थी यास[1] दिल मे तो खटका न था कोई।
उम्मीद ही ने डाल रक्खा है अज़ाब[2] में॥

उदाहरण से स्पष्ट है कि सकामवादी गृहस्थ को एक सूरत में कष्ट भोगना पड़ा परन्तु निष्कामवादी को किसी सूरत में भी कोई तकलीफ़ नही उठानी पड़ी। अब विचार कर देखो कि सकामता और निष्कामता दोनों में से कौन मंहगा सौदा है।

कर्म के आदर्श पर दृष्टिपात करने से, यह स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ता है कि इस देश तथा पश्चिमी देशों के आदर्शों में, पूर्व और पश्चिम ही का अंतर भी है। हमारे देश में कर्म का आदर्श निष्कामता है। तुम यदि किसी की सेवा करते हो तो यह ख़्याल मत करो कि तुम उस दुःख-ग्रस्त व्यक्ति पर कोई अहसान करते हो किन्तु तुम्हारे भीतर जो भावना होनी चाहिये वह यह कि तुम अपने एक पवित्र कर्त्तव्य का पालन कर रहे हो। यह है निष्काम कर्म का आदर्श, परन्तु पश्चिमी देशों में जो आदर्श इस समय मिलता है वह है उपयोगितावाद का! इस वाद का अभिप्राय यह है कि कोई काम न करो जबतक उससे अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि न

निष्काम कर्म और उपयोगितावाद

(१) यास=निराशा, (२) अज़ाब=क्लेश।

होती हो। इस वाद के पक्षपोषकों का कथन है कि दया, उपकार आदि सब निरर्थक शब्द हैं। यदि कोई कहता है कि वह किसी पर दया या अहसान करता है तो यह बात झूठ है, वह सब कुछ अपनी स्वार्थसिद्धि ही के लिये करता है। उदाहरण के लिये माता को लीजिये ! कहा जाता है कि माता बड़ा उपकार बच्चे पर करती है। अपने किये भोजन का सर्वोत्तम अंश, दूध के रूप में बच्चे को देती है परंतु उपर्युक्त वाद के पोषक कहते हैं कि यह भी ग़लत है। माता के स्तनों में दूध पैदा हो जाता है और जबतक वह न निकले माता के लिये कष्ट का कारण रहता है इसलिये माता, बच्चे पर दया करके नहीं अपितु अपने कष्ट के निवारणार्थ, बच्चे को दूध पिलाया करती है। इन महापुरुषों से कोई पूछे कि माता बच्चे का मल मूत्र, अपने किस स्वार्थ की पूर्ति के लिये, साफ़ किया करती है ? क्या माता उस बच्चे को छोड़ कर उससे बेसुध नहीं हो सकती थी ? फिर क्यों उसकी देख भाल करती है ?

इस स्कूल के एक विद्वान् ने तो सत्य और आचार दोनों को उन्मूलन करने का यत्न किया है ! वह कहता है:—"किसी

उपयोगितावाद में सत्य और आचार का मूल्य

कार्य्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने से ही कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तय्यार नहीं रहूंगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्त्तव्य है[1]"।

---

(१) Leslie Stephen's Science of Ethics, Ch: IX Sec. 29, p 369 (2nd Edition)

यहां लैज़ली स्टीफ़िन्स ने यदि सत्य की अवहेलना करने की शिक्षा दी है तो एक दूसरी जगह जान स्टुअर्ट मिल ने चोरी करना जायज़ ठहराया है. मिल ने लिखा है कि "इस प्रकार जान बचाने के लिये चोरी करना न केवल विहित अपितु उसका करना कर्तव्य होगा[१] ।"

उपयोगितावाद की इन उपर्युक्त शिक्षाओं तथा इसी प्रकार की अन्य शिक्षाओं के प्रभावों से प्रभावित होकर सत्य तथा आचार के संबंध में पश्चिमी देशों का दृष्टिकोण ही बदलसा गया प्रतीत होता है। एक विद्वान् ने एक जगह लिखा है:-"किसी अंगरेज़ लड़के को कभी सत्य बोलना नहीं सिखलाया जाता केवल इसीलिये कि उसमें सत्य के लिये प्रेम न पैदा हो। प्रारंभ ही से, उसे जो सिखलाया जाता है वह केवल यह कि वास्तविकता क्या है इसकी परवाह न करे, जो कुछ उसे परवाह करनी चाहिये वह केवल इस बात की कि व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार कोई घटना, अपने पक्ष की सिद्धि मे, प्रयुक्त की जा सकती है[२] ।"

---

(१) "Thus to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal." (Mill's Utilitarianism Ch: V p. 95, 15th Edition.)

(२) No English boy is ever taught to speak the truth for the very simple reason that he is never taught to desire the truth From the very first he is taught to be totally careless as to whether a fact is a fact. He is taught to care only whether the fact can be used on his side when

आचार-शास्त्र के अध्यापक प्रोफेसर सिजविक ने निर्णीत ठहराया है'—

पश्चिमी आचार शास्त्र और सत्य

(१) "छोटे लड़कों और पागलों को उत्तर देने के समय, रोगियों को उनका रोग विवरण देते समय, चोरों और अन्याय से प्रश्न करने वालों को उत्तर देते समय, अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है[१]।"

(२) फिर एक जगह सिजविक ने लिखा है:—"यद्यपि कहा गया है कि सबको सच बोलना चाहिये तथापि हम नहीं कह सकते कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्यवाही गुप्त रखनी पड़ती है, वे अन्यों के साथ, अथवा व्यापारी अपने ग्राहकों के साथ, हमेशा सच ही बोला करें[२]।"

(३) एक और जगह इसी प्रकार की रिआयत पादरियों और सिपाहियों को भी दी गई है।

(४) जान स्टुआर्ट मिल ने भी, अपने उपयोगितावाद सम्बंधी ग्रंथ में, उपर्युक्त अपवादों में से अनेक का समर्थन किया है[३]।

---

he is engaged in playing the game (Passing of Empire by H. F. Hall, I. C. S.)

(१) Sidgwick's Method of Ethics, Book III Ch: XI, sec. 6, p 355 (7th Edition) Also see p 315 to 317).

(२) Do. Book IV Ch: III Sec. 7., p. 454 and Book II Ch: V sec. 3 p. 169.

(३) Mill's Utilitarianism, Ch: II p. 33 and 34 (15th Edition.)

(५) इन अपवादों का प्रारंभ, ईसा के शिष्य, पाल ने किया था। उसने एक जगह कहा है:—"यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा अधिक बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का प्रचार होता अथवा बढ़ता है) तो इससे मै पापी क्योंकर हो सकता हूं"। पाल के शब्द ये हैं:—

For if truth of God hath more abounded through my lie unto His Glory; why yet am I also judged as a sinner[1]?

नोट—ईसाई मत के इतिहासकार मिल मैन (Mill man) ने लिखा है कि प्राचीन ईसाई पादरी प्राय: इसी प्रकार का आचरण, ईसाईधर्मप्रचार में, किया करते थे।

इस प्रकार के अपवादों का उल्लेख करने पर कई देशी और विदेशी विद्वान्, महाभारत में भी ऐसे ही अपवादों के होने की, बात कह दिया करते हैं। हम उनका भी यहां उल्लेख किये देते हैं:—

(१) "हंसी में, विवाह के समय, स्त्रियों के साथ, जब जान पर आ बने तब तथा समस्त संपत्ति के जाने पर उसकी रक्षा के लिये झूठ बोलना पाप नहीं है[2]।"

महाभारत और सत्य के अपवाद

ये पांच स्थल हैं जहां केवल वाचक सत्य (शब्दोच्चारण मात्र) और सर्वभूतहित में अंतर या विरोध होता है,

---

(१) Romans 3 7.

(२) न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥
(महाभारत आ० ८२। १६, शांतिपर्व १०६, तथा मनुस्मृति ८, ११०)

वहां असत्य भाषण की अनुमति दी गई है परन्तु अनुमति देते हुये उसे न आवश्यक बतलाया गया है और न कर्त्तव्य ठहराया गया है, किन्तु श्रेष्ठता सत्यभाषण ही को अंत में दी गई है परन्तु योरुप में तो व्यवहार (व्यवसायादि) में असत्य विहित ठहराया गया है। (२) वे मनुष्य जो अपने वा दूसरे के लिये तथा हंसी मे भी झूठ नही बोलते वे स्वर्गगामी होते हैं'।

अस्तु ! अब हमे फिर अपने विषय पर आ जाना चाहिये। कहा यह जा रहा था कि आदर्श के भेद से पूर्व मे निष्कामवाद और पश्चिम मे उपयोगितावाद का जन्म हुआ। दोनों वादों पर एक दृष्टि डालने से, निष्काम कर्म की महत्ता प्रत्येक पर प्रकट हो जाती है।



(१) आत्महेतोः परार्थे वा नर्म हास्याद्भयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥
(महाभारत अनु० १४४ । १९)

तेरहवां अध्याय

इस अध्याय में हम कुछेक ऐसी बातों का उल्लेख करना चाहते हैं जो कर्म और उसके फल-भोग से संबन्धित हैं और उनका अब तक विवरण नहीं दिया गया।

कर्मसंबधी कुछेक फुटकर बातें

सांख्यकार ने एक जगह लिखा है कि प्रकृति और पुरुष के साक्षात् कर लेने को तत्व कहते हैं और तत्वज्ञानी होने (मोक्ष प्राप्त कर लेने) पर दोनों (कर्तृत्व और भोक्तृत्व) नहीं रहते[1]। तात्पर्य, इस का स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवात्मा शुद्ध अपने स्वरूप में हो जाता है, किसी प्रकार का प्राकृतिक बंधन शरीरादि के रूप से भी बाक़ी नहीं रहता इसलिये जगत् में जिसे शरीरादि के द्वारा किये कर्म और उन्हीं के द्वारा उपलब्ध भोग कहते हैं, बाक़ी नहीं रहते, अवश्य शुद्ध आत्मा आनन्द का अनुभव करता है और ईश्वर को भी स्मरण करता है, क्योंकि वही एकमात्र उसके आत्मिक चिन्तन का विषय रह जाता है और उसी के चिन्तन और उपलब्ध समीपता से वह असीम आनन्द प्राप्त करता रहता है। इस उच्च अवस्था को प्राप्त करने के बाद उसे छोड़ कर फिर इस जगत् में आने का प्रकट में तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव अल्पज्ञ है और यह अल्पज्ञता का स्वभाव उससे कभी छूट

क्या जीव मुक्तावस्था में कर्त्ता और भोक्ता होता है?

फिर वह मुक्तावस्था से लौटता क्यों है?

---

(1) नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ (सांख्य १ । १०७)

नहीं सकता यह अल्पज्ञता, उसके प्रत्येक कर्म और प्रत्येक प्रकार के चिन्तन को प्रभावित किये रहती है, जिससे जीव सदैव जीव ही रहता है। जहां ईश्वर की चेतना, उसका ज्ञान और कर्म सर्वज्ञता से प्रभावित रहते हैं वहां जीव की चेतना, उसके ज्ञान और कर्म को, अल्पज्ञता से प्रभावित रखती है। अपनी इस अल्पज्ञता के प्रभाव से, जीव, जो मुक्ति के साधनों को काम में लाता है, उनमें भी कमियो के रहने की संभावना हुआ करती है। परन्तु मुक्तिदाता, उन कमियों को, मनुष्य के मुक्ति प्राप्त करने में, बाधक इसलिये नहीं होने देता कि उन (मनुष्यों) का सामर्थ्य, इतना ही होता है जिससे प्रेरित होकर, वे इससे अधिक पूर्णता, अपने पुरुपार्थ में नहीं ला सकते। इसलिये ज्ञान की कमी जीव को, मुक्ति प्राप्त करलेने पर भी, अन्य जीवो की अपेक्षा, जिन्होने मुक्ति प्राप्त नहीं की भले ही सर्वज्ञ कह ले, परन्तु ईश्वर की अपेक्षा जीव सदैव अल्पज्ञ ही रहता है। इस अल्पज्ञता तथा मुक्ति के साधक कर्मों के ससीम होने से, मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद भी, एक समय उसे (जीव को) मुक्ति से लौटने के लिये, बाधित होना पड़ता है। इसीलिये सांख्यदर्शन में एक जगह कहा गया है कि "(ज्ञान से) इतर अर्थात् कर्म का फल भी, दुःख की अत्यंत निवृत्ति नहीं है[1] ।" क्योंकि सभी कर्म प्रकृति के संग (शरीरों के मेल) से बना करते हैं और प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् तीन गुण वाली है इसलिये इन गुणों से बढ़ कर असीम फल कर्मों का नहीं हो सकता।

जब जीव आवागमन के चक्र में रहता है और एक शरीर

(१) इतरस्याऽपि नात्यन्तिकम् ॥ (सांख्य ३ । २७)

को छोड़ कर दूसरे में प्रविष्ट होता है तो क्या इन दोनों के बीच के मार्ग में जीव को दुःख सुख हुआ करता है। सांख्यकार ने इसका उत्तर निषेधपरक दिया है[1]। सांख्यकार कहते हैं कि "संप्रति (ससृति के समय में) दोनों से (सुख दुःख से जीव) मुक्त होता है।" स्पष्ट है कि दुःख सुख भोगने के लिये स्थूलशरीर का होना आवश्यक है और उस समय स्थूलशरीर होता नहीं, इसलिये कर्म करने, अथवा उनका फल दुःख सुख भोगने का प्रश्न, उस बीच वाले मार्ग के पथिक के लिये उठ ही नहीं सकता, जो लोग सूक्ष्मशरीर वालों की दुनियां ही अलग बतलाया करते हैं, अथवा जो लोग भूत प्रेत की संभावना प्रकट किया करते हैं, अथवा जो शव के साथ पिंड आदि रक्खा करते हैं, उन सबके कथन और कृत्यों का खंडन इस सूत्र से होता है।

एक योनि छोड कर दूसरे तक पहुंचने में क्या दुःख सुख होता है?

वेद ने कर्म करने का अधिकार मनुष्यमात्र को दिया है किसी प्रकार की रुकावट किसी वर्ण अथवा जाति के लिये नहीं रक्खी गई है। एक जगह पूर्वमीमांसा में इस पर बड़ी मनोरंजक बहस की गई है। मीमांसाकार ने कहा है कि "कर्मफल के लिये होने से शास्त्र सब के अधिकार वाला है[2]।" अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वेदादि शास्त्रों का

क्या कर्म करने का सबको अधिकार है?

---

(१) सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥ (सांख्य ३। ६)

(२) फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥

(पूर्वमीमांसा ६। १। ४)

अध्ययन और तदनुकूल कर्म करे। इस पर एक महापुरुष 'एतिशायन' का कथन है कि पुल्लिंग का कथन कर्मविधायक वाक्यों मे पाये जाने से पुरुष ही को यज्ञादि कर्मों का अधिकार है[1]। एतिशायन ने अपने कथन की पुष्टि में कहा है कि अज्ञात गर्भ के हनन में दोष का श्रवण पुल्लिंगोक्ति से पाया जाता है[2]। "अविज्ञाते गर्भे हते भ्रूणहा" अर्थात् इस वाक्य में कहा गया है कि अज्ञात गर्भ के हनन करने से पुरुष भ्रूणहत्यारा बनता है। भ्रूण नाम यज्ञ का है इसलिये भ्रूण ही का अर्थ यज्ञहन्ता है। एतिशायन कहता है कि पुल्लिंग के प्रयोग से यह बात प्रकट होती है जिस गर्भ मे पुरुष हो उस गर्भहन्ता ही को यज्ञहन्ता कह सकते हैं, जिसमे स्त्री हो उसको नहीं, अतः स्पष्ट है कि स्त्री को यज्ञाधिकार नही है। "एतिशायन" प्रतीत यह होता है कि योरुप के उस स्कूल का प्रतिनिधि था जिसमे एक समय यह माना जाता था कि स्त्रियों में रूह नहीं होती (Woman has no Soul) अन्यथा लोपामुद्रा, सुलभा, गार्गी और मैत्रेयि आदिकों के देश में यह कौन कहने का साहस कर सकता था कि जिस गर्भ में स्त्री हो, उसका हन्ता यज्ञहन्ता नहीं? उचित रीति से उसका उत्तर जैमिनि ने बादरायण के हवाले से यह दिया है कि "बादरायण मुनि "स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि वाक्यो मे पुल्लिंगनिर्देश को जाति का बोधक मानते हैं क्योंकि उन (पुरुषों) मे कोई विशेषता नहीं पाई जाती। जाति के अर्थ में, स्त्री पुरुष दोनों तुल्यरीति से ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये स्त्रियों को भी समस्त शास्त्रों के अध्ययन और समस्त कर्मों के करने का पूर्ण

---

(१) लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ॥

पूर्वमीमांसा ६ । १ । ६)

(२) तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ (पूर्व० ६।१।७)

अधिकार है[1]। जैमिनि मुनि ने जो परिणाम निकाला है उसके लिये उन्होंने कहा है कि वेदप्रतिपादित होने से भी (स्त्रियों को यज्ञाधिकार है)[2]। अर्थात् उनका कथन वेद से भी पुष्ट है।

स्थिर आयु का प्रश्न

आयु कर्म का फल बतलाकर उसकी अवधि कुछ घंटों से लेकर सैकड़ों वर्ष तक की नियत कहे जाने का विश्वास सर्वसाधारण में फैला हुआ है। कुछेक पढ़े लिखे लोग भी, ऐसा ही विश्वास रखते हुये, अपनी पुष्टि योगदर्शन के उस प्रसिद्ध सूत्र से करते हैं जिस में वर्णन किया गया है "यदि क्लेशमूल (कर्म) बाक़ी रहेगा तो उस का फल योनि, आयु और भोग होते हैं[3]।"

इस प्रकार की वर्षों के हिसाब से, स्थिर आयु मानने का विचार भ्रममूलक है। उपर्युक्त सूत्र का आशय भी यह नहीं है। संसार में जितनी भी योनियां हैं उनमें से प्रत्येक की अपवादों को छोड़ कर पृथक् पृथक् आयु नियत है जैसे हाथी, ऊंट, कुत्ता, शेर, हिरण आदि साधारणतया कितने २ वर्ष जीते हैं यह सब नियत है। अपवाद के तौर पर वह आयु कम और ज्यादे भी हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्ययोनि की आयु भी १०० वर्ष नियत है। सूत्र का भाव यह है कि पाप अथवा पाप-पुण्य मिश्रित कर्मों का फल योनि और उस के साथ नियत आयु और भोग हुआ करते हैं। इस सूत्र के भाष्य के प्रसंग में व्यासमुनि ने लिखा है कि क्लेश रहने से कर्मसमूह

---

(१) जाति तु बादरायणोऽविशेषात्। तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयते जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् (पूर्व० ६ । १ । ८)

(२) चोदितत्वाद्यथाश्रुति (पूर्व० ६ । १ । ६)

(३) सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ (योगदर्शन २ । १३)

विपाकारंभी होता है, छिन्नक्लेश होने से नहीं जैसे तुषरहित चावल। यहां प्रश्न यह है कि—

(१) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं।

(२) क्या एक कर्म अनेक जन्मों का कारण होता है? इसका भी उत्तर निषेधपरक ही है?

(३) क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं? युगपत् जन्म संभव न होने से इसका उत्तर भी निषेधपरक ही दिया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि जन्म प्राप्ति के बाद से किये हुये कर्म और उससे पूर्वकाल की एकत्रित वासनायें, दोनों मिल और अभिव्यक्त होकर, एक जन्म दिया करती हैं, परन्तु इस जन्म के बाद अब पिछला कोई कर्म अथवा पिछली कोई वासना बाक़ी ही नहीं रही, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्लेश और कर्मविपाक के अनुभव से बनी हुई वासनाओं से, चित्र के सदृश, चित्त चित्रित और मूर्छित सा रहता है, जब तक चित्त की यह दशा रहती है, वह पिछले कर्म और वासनाओं से मुक्त नहीं समझा जा सकता, अस्तु। वर्षों के हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् २ आयु मानने का विचार, जैसा कि कहा जा चुका है, भ्रमपूर्ण है। हां योनि की साधारण आयु अवश्य वर्षों के हिसाब से नियत है। एक जगह वेद में भी ऐसी ही बात कही गई है:—

'जहां इस ब्रह्मद्वारा सुखपूर्वक जीवन की परिधि (नियत) की जाती है वहां गाय, घोड़ा, पशु और मनुष्य सभी जीवित रहते हैं[1]।"

---

(१) सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिं जीवनाय कम्॥ (अथर्ववेद ८।२।२५)

इससे प्रत्येक योनि के जीवन की परिधि नियत होने की ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। मनुष्ययोनि की १०० वर्ष की आयु नियत है, यह बात अनेक शास्त्रों में वर्णित है, जैसे:—

(१) तुझे १०० वर्ष की आयु के लिये (जगत् में) लाता हूं[1]।

(२) हम १०० वर्ष देखें, सुनें और अदीन रहें[2]।

(३) १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करें,[3] इत्यादि।

परन्तु इस १०० वर्ष की आयु का घटा या बढ़ा लेना मनुष्य के अधिकार में हुआ करता है। अच्छे कर्मों से, जिनका फल नियमित जीवन हुआ करता है, मनुष्य की आयु बढ़ जाया करती है और इसी प्रकार बुरे कर्मों से घट भी जाया करती है इसीलिये वेद में लिखा है कि मनुष्यों को अपने कर्मों को संभालते हुए १०० वर्ष से भी अधिक जीने की इच्छा करनी चाहिये।

(१) हम १०० वर्ष से भी अधिक जीवित रहें[4]।

(२) ३०० वर्ष से भी अधिक आयु ईश्वर हमको प्राप्त करावे[5]॥

कई विद्वानों का कहना है कि ऐसे स्थानों पर आया हुआ शत शब्द अवधारणवाची नहीं अपितु बहुवाची हुआ करता है।

---

(१) त्वा हरामि शतशारदाय। (अथर्व वेद ८। २। २)

(२) पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं + + + (यजुर्वेद ३६।२४)

(३) जिजीविषेच्छतं समाः॥ (यजुर्वेद ४०। २)

(४) भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजुर्वेद ३६। २४)

(५) त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ (यजुर्वेद ३। ६२)

हमें इसके स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि १०० वर्ष से अधिक आयु का होना तो इससे भी सिद्ध हो जाता है।

मनुस्मृति में एक जगह लिखा है कि "सतयुग के मनुष्य रोगरहित होते और सर्वार्थ की सिद्धि रक्खा करते थे इसलिये उनकी आयु ४०० वर्ष की होती थी इसके बाद के त्रेता, द्वापर और कलियुग में उनकी आयु एक एक पाद घटती गई, अर्थात् ४०० से ३००, २०० और १०० वर्ष की रह गई[1]।"

उपर्युक्त अवधि ठीक हो या न हो, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सदाचार से आयु की वृद्धि और कदाचार से आयु का ह्रास हुआ करता है। अस्तु, स्थिर आयु व्यक्तियों की नियत हुआ करती है या नहीं यह प्रश्न है, जिस पर, इस प्रकरण के समाप्त होने से पहले कुछ प्रकाश पड़ना चाहिये। वेदादि सत्-शास्त्रों में, जहां तक मेरी वाक़िफ़यत है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट शिक्षा नहीं मिलती, परन्तु उनके देखने से जो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, वह यह है कि वर्ष की अपेक्षा यदि स्थिर आयु की कल्पना की जावे तो उसका श्वासों पर निर्भर होना अधिक युक्तिसंगत होगा। एक जगह ऋग्वेद में लिखा है कि:—"वह श्रेष्ठकर्मा आदित्यब्रह्मचारी सदैव हमें अच्छे मार्ग में करे और प्राण हमारी आयु को परिपूर्ण करे[2]।" यहां आयु की पूर्ति का साधन प्राण, और वृद्धि का कारण सुकृत बतलाये गये हैं।

---

(१) अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुष ।
कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः (मनु० १ । ८३)

(२) स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्राणः आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० १ । २५ । १२ ॥

ऐसे वाक्य अन्य जगहों में भी मिलते हैं जिनसे प्राणों (श्वासों) पर आयु का निर्भर होना समझा जा सकता है। प्राणों के शीघ्र अथवा दीर्घ चलने से नियत श्वासों के भीतर रहते हुए भी, वर्षों के लिहाज़ से, आयु न्यूनाधिक हो सकती है, यह बात ऐसी नहीं है जिसमें सन्देह किया जा सकता हो।

एक और प्रश्न है, उस पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है और वह है प्राप्त कर्मफल में न्यूनाधिक का होना। यह बात

नये पुरुषार्थ का पुराने कर्मफल पर प्रभाव

कही जा चुकी है कि किये हुये कर्मों का जब फल मिलने लगता है तब उसका नाम प्रारब्ध हो जाता है। कर्म यदि पुरुषार्थ अथवा तद्बीर है तो उसका फल प्रारब्ध, भाग्य या तक़दीर है। कुछ लोगों का मत ऐसा है कि प्राप्त कर्मफल में, कितना ही नया पुरुषार्थ क्यों न किया जावे, किसी प्रकार की कमीवेशी नहीं हो सकती, परंतु यह बात, युक्ति और प्रमाण, दोनों के विरुद्ध है। यहां एक बात समझ लेने के योग्य है कि प्राप्तफल दो प्रकार के हुआ करते हैं एक तो मनुष्यादि के योनि के रूप में और दूसरे उस योनि में रहते हुये प्राप्त दुःखसुख के रूप में। जब यह कहा जाता है कि प्राप्त कर्मफल में परिवर्तन हो सकने की संभावना है तो उसका अभिप्राय, दूसरे प्रकार के फल अर्थात् दुःख सुख में, परिवर्तन हो जाने से है। एक उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकेगी:—

एक प्राणी कर्म-फलानुसार, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुआ है और उसने असावधानी से

एक उदाहरण

अपने को, स्वास्थ्यरक्षा के विरुद्ध कर्म करके, रोगी बना रक्खा है।

इनमें से, योनि तो अपरिवर्तनीय है परंतु रोग, जो फलरूप में प्राप्त है, चिकित्सारूपी नया कर्म करने से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार एक दरिद्री अपनी दरिद्रता को दूर अथवा कम कर सकता है। वेद मे आयुर्वेद की शिक्षा इसीलिये दी गई है कि उसका प्रयोग करके रोगी अपने को रोगमुक्त कर सके। जब कर्म का फल मिलना अनिवार्य्य है तो इसका सबब क्या है कि एक कर्म के फल से मनुष्य रोगी तो हो जावे परंतु दूसरे चिकित्सारूप कर्म के फल से वह अच्छा न होवे? यह बात कही जा सकती है कि अनेक रोगी चिकित्सा से भी तो अच्छे नहीं होते, उसका कारण हुआ करता है और वह कारण पुरुपार्थ का समय पर न करना अथवा चिकित्सकों की अल्पज्ञता से, ठीक औषधि का उपचार न करना आदि ही हो सकता है।

यहां, विषय को स्पष्ट करने के लिये, योग के व्यासभाष्य में से, व्यासजी की सम्मति, इस विषय में क्या है? प्रकट करते हैं:—"ऊपर जो एक जन्म का देने वाला कर्मसमूह कहा गया है वह दो प्रकार का है—एक नियतविपाक और दूसरा अनियतविपाक वाला। इनमें से नियतविपाक वाले कर्म का फल जन्म होता है। जो अनियतविपाक कर्मसमूह है, उसकी गति ३ प्रकार की है:—(१) अपक्कफल (कृतस्याविपक्कस्य नाशः) का नाश, (२) प्रधानकर्म में (आवापगमनम्) असंयोग अर्थात् न्यूनता, (३) प्रधानकर्म (नियतप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्) द्वारा, नियतविपाक का अभिभूत-अनादृत अथवा चिरकाल तक निष्फल रहना।

व्यास का मत

इसी प्रसंग में, व्यासजी ने, भाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से

लिखा है कि कर्मों की दो दो गति या राशि समझनी चाहिये, (१) पापकर्म (२) पुण्यकर्म, इनमें से मनुष्य के पाप उसके किये अच्छे कृत्यों के नाशक होते हैं। इसी प्रकार पुण्य पाप के[1] व्यासजी ने जन्मदाता कर्मसमूह को नियतविपाक और अन्य प्रकार के फलदाता कर्मसमूह को अनियतविपाक वाला कहा है। यही बात फल का प्रकार बतलाते हुये ऊपर कही गई है। अनियतविपाक ही में परिवर्तन हुआ करते हैं। एक मनुष्य को उसके दुष्टकर्म से ज्वर हुआ, अब यह बात उसके अधिकार में है कि और दुष्ट कर्मों में वृद्धि करते हुये उसे क्षय के रूप में बदल देवे अथवा शुभ कर्म चिकित्सा आदि के द्वारा उसे कम या दूर कर देवे। इससे यह बात भलीभांति साफ होगई कि अनियतविपाक वाले कर्मसमूह का विपाक अर्थात् सुख दुःख, नये कर्मों से, बदला वा दूर किया जा सकता है।



---

(१) देखो योगदर्शन २। १३ का व्यासभाष्य—"तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाश यथा शुक्लकर्मोदयात् इहैव नाशः कृष्णस्य यत्र इदमुक्तम् द्वे द्वे ह कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति तदिच्छस्व कर्मणि सुकृतानि कर्तुम्" ॥

चौदहवां अध्याय

भारतीय दृष्टिकोण, कर्म के सम्बन्ध में, क्या है ? इसका विवरण देने और उसके बाद पश्चिमी विचार उपस्थित करने से पहले, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कर्म के संबन्ध में बुद्धमतानुयायी क्या मानते हैं और स्वयं गोतम बुद्ध ने इस संबन्ध में क्या शिक्षा दी है ? यह बात पाठकों के सम्मुख रख दी जावे क्योंकि बुद्ध की शिक्षायें भारतीय शिक्षा ही का एक अंग हैं। बुद्ध ने स्वयं भी यह बात एक से अधिक जगहों पर कही है कि वह कोई नया संप्रदाय नहीं चलाना चाहता है किंतु प्राचीन (वेद के) धर्म ही का पुनरुद्धार करना चाहता है। अस्तु, इस संबन्ध में, किसी भूमिका को स्थान न देकर कर्म और कर्मस्वातन्त्र्य के संबन्ध में बुद्धमत की शिक्षाये क्या हैं ? उनका यहां उल्लेख किया जाता है। जैनधर्म में भी लगभग कर्म के संबन्ध में इसी प्रकार और इसीसे मिलती जुलती बातें कही जाती हैं इसलिये उनके पृथक् लिखने की ज़रूरत नहीं है।

बुद्धधर्म और कर्म-स्वातन्त्र्य

बुद्धमत में कर्म के लिये माना जाता है कि उसका फल अनिवार्य रीति से मिला करता है। बुद्ध के प्रादुर्भूत होने से पहले और उस समय भी जब बुद्ध का प्रादुर्भाव हो चुका था, इस देश में संशयवादियों के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। एक ऐसे ही सम्प्रदाय वालों का, जिसका आचार्य "अजीता" था, विचार था कि न कोई कर्म है न उसका कोई अच्छा या बुरा फल है, न कोई परलोक है, न इस लोक ही की कोई

वास्तविकता है इत्यादि परन्तु इन और ऐसे ही अन्य विचारों के लिये, बुद्धमतानुयायी, मिथ्याचार कहा करते थे[1]।

एक और जगह लिखा है कि यदि उन कारणों को दूर कर दिया जावे जिनसे बुराई पैदा हुआ करती है तो उस बुराई का पैदा होना अवश्य बंद हो जावेगा[2]।

फिर एक जगह लिखा है कि स्वयं बुद्ध ने, संयम पर बल देते हुये, शिक्षा दी थी कि (१) शुभाशुभ कर्मों से शुभाशुभ फल निकला करते हैं। (२) चावल (धान) बोने से धान ही पैदा होता है। (३) ईख अथवा शहत से मिठास मिला करती है इत्यादि[3]।

फिर एक जगह बुद्धधर्म के लिये, यह प्रकट करते हुये, कि उसने (वैदिकधर्म से भिन्न) अपने लिये कोई नया आचार नहीं बनाया था, बतलाया गया कि तुम अच्छे बन जावो, तुम्हे अवश्य अच्छी योनि मिलेगी और बुरे बनने से बुरी योनियों में जाना पड़ेगा। अवश्य यहां बुद्धधर्म ने शिक्षा यह दी है कि संस्कार, यज्ञादि का शुभकृत्यों में समावेश नहीं है, बुद्ध-मतानुसार शुभकर्म केवल वे हैं जिनसे किसी को कष्ट न पहुँचे अपितु उनकी (अन्यो की) कुछ भलाई ही हो सके। सदाचार और संयम के साथ रहना भी शुभ कर्मों के अंग हैं[4]।

फिर एक जगह बतलाया गया है कि किन्हीं लोगों को सन्देह हो जाया करता है कि अच्छा कर्म करते हुये भी बुरा फल मिल जाया करता है, परन्तु इस का प्रतिवाद करते हुये बुद्धधर्म ने शिक्षा यह दी है कि यदि तुम अपने कर्मों पर ठीक

(१) Buddhism by Rhys Davids p. 86.

(२) Do. p. 91.

(३) Do. p 119. (अभिधम्म पिटक के आधार से)

(४) Do. p 121.

रीति से ध्यान रक्खोगे तो प्रकट हो जायगा कि अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है और बुरे का बुरा और यह भी स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्यों का त्रुटिपूर्ण न्याय प्राकृतिक नियमों के मर्य्यादानुकूल अचूक न्याय का मुक़ाबिला नहीं कर सकता। तुम जो बोओगे उसी के अनुकूल फ़सल काटोगे[1]।

गोतम बुद्ध की प्रदानित शिक्षाओं में से, जो बौद्ध धर्म के ग्रंथों के अवगाहन से प्राप्त होती है, सब से अधिक बल कर्म करने पर दिया गया है।

श्रीमती राइस डैविड्स ने, नये अहदनामे के उस प्रसिद्ध प्रश्न को, जिसे क्राइस्ट के एक शिष्य ने, एक अंधे को देख कर, क्राइस्ट से किया था कि "स्वामिन्! इस व्यक्ति या इसके माता पिता किसने पाप किया था जिससे यह व्यक्ति अंधा पैदा हुआ है?" उद्धृत करते हुये लिखा है कि यद्यपि हम इस (अंधे होने) का कारण पैतृक प्रभाव बतलावेंगे और यहूदी लोग भी ऐसा ही उत्तर देंगे परन्तु बुद्धधर्म साफ कह देगा कि इस अंधे व्यक्ति के अंधे होने का कारण उसके पिछले जन्म या जन्मों के कर्म है[2]।

गोतम बुद्ध ने अपने इकलौते पुत्र से कहा कि "राहुल! जब तुम कोई कर्म करना चाहो तो पहले यह सोचो कि क्या वह कर्म तुम्हारे, अन्यों अथवा दोनों के, लिये हानिकारक है, यदि है तो समझलो कि वह कर्म बुरा और अकर्तव्य है। श्रीमती डैविड्स ने बुद्ध की इस शिक्षा को, उपयोगितावाद

---

(१) बुद्धिज्म Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 122 and 123.

(२) Do p. 124.

समझा है[1]। परन्तु जब बुद्धधर्म प्राकृतिक न्याय पर विश्वास करता है जिसके द्वारा कर्म स्वयमेव अच्छा या बुरा फल पैदा कर लिया करते हैं[2] तब बुद्धधर्म का कर्मवाद, उपयोगितावाद से, सर्वथा भिन्न वाद ठहरता है। अस्तु, एक बात और भी कही जाती है कि समझदार और विचारशील बुद्धमतानुयायियों के लिये, उनके सदाचार को लक्ष्य में रखते हुये, कर्मनियम, मानो उनकी प्रवृत्ति यह मानने की ठहराते हैं कि एक सर्वज्ञ नियन्ता कर्मों का साक्षी है और वही उनका फल दिया करता है[3]। कम्म (कर्म) शब्द पाली भाषा में, मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार के कर्त्तव्यों का द्योतक है। बुद्ध ने, कर्म के संबंध में, कहा जाता है कि शिक्षा यह दी है कि मनुष्य अपने कर्म का स्वामी और विधाता है, अपने कर्म का उत्तराधिकारी है, उनके कर्म उनका गर्भाशय (उत्पत्तिस्थान) है, उनका कर्म ही उनकी सन्तति है। और अपने कर्मों ही से वे प्रतिष्ठित होते अर्थात् अपनी सत्ता की स्थापना करते हैं[4]।

---

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 125 (Utilitarianism preached by John Stuart Mill)

(२) Do p. 125

(३) Do. p 127

अंग्रेज़ी के शब्द ये हैं:—For the thoughtful Buddhist the "Kamma Neyam" will have furnished as a pressing motive for moral conduct as if he held that an Omniscient Lawgiver watched and rewarded his acts.

(४) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 129 and 130.

बुद्ध की शिक्षानुकूल बुद्धमतानुयायी मानते हैं कि मनुष्य जितने भी दुःख भोगता है उनका कारण उनके पिछले कर्म हैं और ये कर्मों के फल, संसार को शासित करने वाले, प्राकृतिक नियमों के न्यायानुकूल प्राप्त हुआ करते हैं[1]।

फिर एक जगह लिखा है कि "यह सर्वश्रेष्ठ है कि मनुष्य निष्काम होकर पुनर्जन्मोत्पादक समस्त कर्मों को त्याग कर देवे। इच्छाओं का त्याग, निष्कामता, निवृत्ति निरवान (निर्वाण) का कारण है[2]। इस शिक्षा पर किसी जिज्ञासु ने एक प्रश्न किया जिसे, उत्तर के साथ, यहां उद्धृत किया जाता है:—

प्रश्न—क्यों उस उत्कृष्ट पुरुष ने इस बात की घोषणा नहीं की कि सन्त (तथागत) मृत्यु के बाद बाक़ी है ?

उत्तर—इसलिये कि इसकी उपयुक्तता मनुष्य को अपने अन्तिम ध्येय प्राप्ति के लिये नहीं थी। इसका, पवित्रजीवन बनाने, जगत् को निस्वाद समझने, निष्कामता, निवृत्ति, शांति, अन्तर्दृष्टि होने, ज्ञान प्राप्त करने अथवा निर्वाण प्राप्त करने से, कुछ संबंध नहीं था।

प्रश्न—फिर उस उत्कृष्ट पुरुष ने क्या घोषणा की है ?

उत्तर—केवल उपर्युक्त योग्यताओं के प्राप्त करने की घोषणा की है और शिक्षा दी है कि यह दुःख है और यह इस दुःख का कारण है और यह उस दुःख की निवृत्ति का उपाय है[3]।

---

(१) Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 162.

(२) Do. p 178 and 179.

(३) संयुत्त निकाय २. २२३. Quoted by Mrs. Rhys Davids in her Buddhism p 179.

पन्द्रहवां अध्याय

ग्रन्थ के उपोद्‌घात मे कुछ थोड़ा-सा अत्यन्त सरसरा विवरण कर्म-स्वातंत्र्य का दिया गया है कि पश्चिमी देशों मे उसके मानने न मानने की क्या अवस्था है। अब यहां सविवरण उसका उल्लेख किया जाता है। विषय गहन होने पर भी मनोरंजक है। विश्वास है कि पाठकों को इस दार्शनिक विषय के अध्ययन करने में, इतिहास का सा आनन्द आजायगा और दार्शनिक विषय के पढ़ने से जो बोझ चित्त पर पड़ा करता है, उसे उनके चित्त, अनुभव न करेंगे। हम और प्रायः सभी पश्चिमी विद्वान् पश्चिमी विचारों का जन्म-क्षेत्र यूनान को मानते हैं, इसलिये हम भी, इसी पश्चिमी विचारों की, जन्मदात्री भूमि से. अपने विषय का प्रारम्भ करते हैं:—

पश्चिमी देशों में कर्म-स्वातन्त्र्य समस्या

पैथागोरस और उसके अनुयायी इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ अस्पष्ट ज्ञान रखते थे। वे आवागमन को मानते थे। उनका विचार था कि मृत्यु के बाद अपने कर्मानुसार मनुष्य या तो नरक में जाता है या मनुष्य अथवा पशुयोनि में उत्पन्न होता है, कर्मफल और आवागमन पर विश्वास रखने से उन के लिये इच्छास्वातन्त्र्य का मानना अनिवार्य था और इसीलिये वे इसमें विश्वास रखते प्रतीत होते हैं।

पैथागोरस
Pythagorus

ग्रीक के इन दार्शनिकों का विचार था कि जगत् की प्रत्येक घटना ज़रूरत के साथ घटित होती है, यही नियम मनुष्य

परमेनिडस तथा डिमोक्रीटस
Parmanidas and Damocritus

का ध्येय है और यही न्यायविधि भी है और ब्रह्मांड का यही कारण भी है। परमाणुवादियों का भी सिद्धान्त कुछ इसी प्रकार का है, वे कहते हैं कि जगत् की प्रत्येक वस्तु का अन्तिम हेतु आकाश की अवस्थाओं के परिवर्तन में निहित होता है, और इसी अवस्था परिवर्तन से अणुओं का सम्मिश्रण होता है और यह परिवर्तन दूसरे के द्वारा ही होता है। फल इसका यह है कि सार्वत्रिक आवश्यकता ही जगत् में काम करती है, अचानक कुछ नहीं हो जाता, सब कुछ कारण और आवश्यकता ही की आधीनता से होता है।

सुकरात का कथन है कि कोई भी स्वेच्छातः दुश्चरित्र नहीं होता। किन्हीं आचारिक नियमो के प्रचलित न रहने से सोफ़िस्ट[1] लोगों का सन्देहवाद प्रचलित हो चला था कोई प्रवृत्ति चरित्र-गठन आदि के संबंध में बाक़ी न रहने से विषयवासना का तृप्त कर लेनामात्र उद्देश्य हो गया था। सुकरात ने इसका विरोध किया और आचारनियमों की ज्ञानपूर्वक स्थापना की और प्रकट किया कि जो सत्य है वही श्रेष्ठ है और ज्योंही मनुष्य उसे जान लेता है उसका प्रभाव अनिवार्य रीति से जैसा बुद्धि पर पड़ता है वैसा ही इच्छाशक्ति पर भी। प्रत्येक

सुकरात
Socrates

(१) यूनान में ईसा से चार पांच सौ वर्ष पहले एक सोफिस्ट नाम का समुदाय था जो कुतर्क बहुत किया करता था। उनके इस कुतर्क के व्यवहाराधिक्य से 'सोफिस्ट' (Sophist) शब्द अपमानित समझा जाने लगा था और ऐसे ही अवसरों पर प्रयुक्त होने लगा था।

व्यक्ति, बहुमात्रा में, अपना कल्याण चाहा करता है और अपनी वास्तविक प्रसन्नता की इच्छा करता है और उसके कर्म इसी उद्देश्य के साधक होते हैं। इसीलिये यह पर्याप्त है कि आदमी जान ले कि श्रेष्ठता या भलाई क्या है जिससे वह उसे काम में ला सके। जो कोई बुराई करता है अज्ञानता से करता है। उसने असत्य साधनों को सत्य समझ लिया है और इसीलिये उसे ही किये चला जा रहा है। दुश्चरित्र आदमी सचमुच जिस बात की इच्छा करता है उसे नहीं करता यद्यपि वह जो कुछ करता है यह समझकर ही करता है कि इस में उसकी भलाई है। सुकरात की सम्मति में जो कोई जान लेता है कि क्या भला और प्रतिष्ठित है और यह भी कि किस प्रकार उसे व्यवहार मे लाया जा सकता है, उस में और उस व्यक्ति में, जो यह जानता है कि क्या बुराई है और किस प्रकार उससे बचा जा सकता है, दूरदर्शिता और संयमशीलता की दृष्टि से, कोई अन्तर नही है। इसपर लोगों ने सुकरात से पूछा कि जो कोई अपने कर्तव्य को तो समझता है परन्तु आचरण उसके विपरीत करता है क्या वह भी बुद्धिमान् और संयमशील है। सुकरात ने उत्तर दिया कि वह खुले तौर से अदूरदर्शी और संयमशीलतारहित है। सुकरात ने, इस बात को स्पष्ट करते हुये, यह भी कहा कि मैं जानता हूं कि सभी आदमी अपने लिये लाभ की बातें छांट कर उन्हीं के अनुकूल आचरण किया करते हैं इसलिये जो इस के विपरीत आचरण करते हैं वे न दूरदर्शी हो सकते हैं न संयमशील। उसने यह भी कहा कि न्याय और प्रत्येक अन्य भलाई, दूरदर्शिता का एक अंग होती हैं क्योंकि प्रत्येक सत्य और श्रेष्ठ काम प्रतिष्ठित और भला है और जो कोई इन बातों की तमीज

रखते हैं, वे अपने लिये किसी उलटे काम को तरजीह नहीं दे सकते।

फ़ौइली ने, सुकरात के उपर्युक्त सिद्धान्त पर, विचार करते हुए प्रकट किया कि सुकरात ने, अपने परतन्त्रतावाद को स्थापित करने के लिये, कितनी निकम्मी बात कह डाली जिसकी रू से कोई भी व्यक्ति, भलाई को समझते हुए, बुराई कर डाले।

एम० फौइली
M. Foullee

सुकरात के उपर्युक्त तर्क को जेनोफोन (Zenophon) ने अपनी किताब में केवल उद्धृत किया था, परन्तु अफलातून ने उसे व्यक्त और अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया है। सुकरात के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये, अफ़लातून कहता है कि एक आदमी चाहे बुरे ही ढंग से दौड़ता है परन्तु दौड़ता है अपने इरादे से, वह उससे कहीं बहतर है जो स्वाभाविक अयोग्यता के कारण, अनिच्छा और बुरे ढंग से दौड़ता है। इसी प्रकार जो लंगड़ा कर चलता, बुरी तौर से गाता या कुश्ती मे हार जाता है, परन्तु ये सब करता अपनी इच्छा से है, वह, इन सब कामों को अनिच्छा से करने वालों की अपेक्षा बहतर है क्योंकि इन सब सूरतों में काम चाहे बुरे ही ढंग से क्यों न किये जाते हों, परन्तु अपनी इच्छानुसार करने के कारण, उनके कर्त्ता को, नेकी का ज्ञान होता है, और न केवल ज्ञान होता है किन्तु वह यह भी जानने लगता है कि किस प्रकार उस (नेकी) को, काम में लाया जा सकता है, इसी प्रकार सुकरात के मतानुतार, आचारिक जीवन में भी, वह आदमी, चाहे वह अन्याय ही क्यों न करता

अफलातून
Plato

हो, उस आदमी से अच्छा है जो विना इरादे के अन्याय करता है क्योंकि पहला आदमी न्याय को जानता और उसे काम मे लाने की योग्यता रखता है। अफ़लातून कहता है कि सुकरात के इस मत को सुन कर हिपियास (Hippias) ने सुकरात से कहा कि "मै इस मामले में आपसे सहमत नहीं हो सकता।" सुकरात ने उत्तर दिया कि "मैं भी अपने से सहमत नहीं हो सकता परन्तु इस समय, जहां तक विचारा गया है, अनुकरण करने योग्य यही वात है।"

सुकरात के उपर्युक्त विचार की, एक प्रकार से पुष्टि ही करता हुआ कि "मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा, स्वभावतः भलाई करने की ओर जाती है, अफ़लातून इसमे संशोधन करता है और कहता है कि जीवात्मा का एक अंश बुद्धि का विरोधी है और वह सदैव बग़ावत करने के लिये तैय्यार रहता है। मनुष्य की सम्मति, वह कहता है कि दृढ़ आधार पर स्थित नहीं होती इसलिये उसमे इतना वल नही होता कि उस विरोधांश का, सफलतापूर्वक, विरोध करे, इसलिये वह, विरोध की टक्कर न सह सकने से, वदल जाया करती है इसलिये मनुष्य उस वात के विरुद्ध, जो उसे भलाई मालूम होती है, अमल कर सकता है। शुद्ध विज्ञान ही अजेय है परन्तु सम्मति एक प्रकार का अज्ञान ही है जो कभी कभी ही सत्यता की ओर झुकती है।

इस प्रकार सुकरात और अफ़लातून, दोनों के मतानुसार नेकी,[1] श्रेष्ठता[2] के ज्ञान के आधार पर, इच्छाशक्ति की

(१) Virtue शब्द अंगरेज़ी अनुवाद में प्रयुक्त है।
(२) Good शब्द अंगरेज़ी अनुवाद में प्रयुक्त है।

निश्चय की हुई, एक वस्तु होती है। यही वास्तविक स्वतन्त्रता और सच्ची प्रसन्नता है। इसके विरुद्ध आचरण करने वाला मूर्ख सदैव दासता के बंधन में रहा करता है।

सुकरात के मतानुसार मनुष्य के अन्दर ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे असंयमता कहते हैं, जब एक प्राणी श्रेष्ठता के विपरीत आचरण करता है तो, उसके कथनानुसार, वह प्राणी विषय का शुद्ध ज्ञान नही रखता और जो कुछ करता है अज्ञान से करता है, सुकरात का यह विचार, अरस्तू के मतानुसार, अनुभव के विरुद्ध है। अन्य विद्वान् (अफ़लातून) हैं जो सुकरात के इस विचार से आंशिक सहमति और आंशिक विरोध रखते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान के विपरीत कुछ संचालित नहीं हो सकता, परन्तु ऐसा भी नही है कि मनुष्य जिसे श्रेष्ठ समझता है उसके विपरीत आचरण न कर सके, वह इन्द्रियाधीन होकर जब सुख की कामना करता है तब वह ज्ञानसम्पन्न नही होता किन्तु जो कुछ करता है अपनी सम्मति के वशवर्ती होकर करता है। इस पर अरस्तू कहता है कि यदि सचमुच वह (विषयकामना) उस पुरुष की केवल सम्मति है और यथार्थज्ञान नही और इस यथार्थ ज्ञान की कमी ही से, जिसे ढीला विश्वास कहना चाहिये, वह उस विषयकामना का, सफलतापूर्वक, विरोध नही कर सकता जैसा बहुधा सन्दिग्ध विषयों में हुआ करता है, तो वह पुरुष, अरस्तू की सम्मति में, क्षन्तव्य है, परन्तु वह बुराई (विषयकामना) क्षन्तव्य नहीं हो सकती[1]। अर्थात् कोई उस बुराई को भलाई नही कह सकता। बुराई सदैव बुराई ही रहेगी। फिर एक

अरस्तू
Aristotle

(१) Nicom Ethics VII, 2.

दूसरी जगह[1] अरस्तू ने लिखा है कि यह जो कहावत है कि "कोई न भला होता है न बुरा" यह कुछ तो ठीक है और कुछ ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी पुरुष, अपनी इच्छा के विरुद्ध, अच्छा नहीं बन सकता और बुराई तो इरादा करके ही की जाया करती है। यदि इसे कोई न माने तो मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार मनुष्य अपनी सन्तान का उत्पादक होता है उस प्रकार अपने कर्म का उत्पादक नहीं। स्पष्ट है कि अरस्तू मनुष्य को, अपने कर्म का उत्तरदाता ठहराता है और इसी लिये इच्छास्वातन्त्र्य का भी पोषक था।

अरस्तू के बाद यूनान में अनेक स्कूल फ़िलासोफ़ी के बने परन्तु कर्मस्वातन्त्र्य के संबंध में उनमें अनेक भेद थे। वहां के एक समष्टिवादी स्कूल ने, जिन्हें स्टोइक्स कहते थे, यह शिक्षा प्रचलित की कि संसार एक बड़े पशु के सदृश है, जिसके प्रत्येक अंश को एक ही जीव ने घेर रक्खा है और छोटी से छोटी गति भी, उसी की प्रेरणा से होती है। उनके इस परतन्त्रतावाद में, इच्छास्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नहीं था। उनका कहना है कि बिना कारण के कुछ नहीं होता, कारण के बिना कार्य्य का मानना, अभाव से भाव की उत्पत्ति के सदृश है उनके मतानुसार, संसार, शब्द समुदाय से बना हुआ, छन्द नहीं है अपितु जब समस्त संसार कुछ करता है तभी कोई काम होता है। संसार में जो कुछ होता है वह ईश्वर द्वारा, पहले से निश्चित कार्य्यक्रमानुकुल ही, हुआ करता है; जगत् में अकस्मात् किसी कार्य्य के हो जाने की गुंजाइश नहीं।

स्टोइक्स
The Stoics

(१) Nicom Ethics III, 5.

इपीक्यूरस, इच्छास्वातन्त्र्य के संबंध में, अरस्तू से मिलते जुलते विचार रखता था। उसने एक जगह लिखा है:—

इपीक्यूरस
Epicurus

"यह अच्छा है कि देवताओं से संबंधित, कल्पित कहानियों पर विश्वास किया जावे परन्तु क़िस्मत का गुलाम बनना अच्छा नहीं है।" उन कहानियों के अनुसार देवताओं को प्रसन्न करके, उनकी मिन्नत मानकर अपना काम तो निकाला जा सकता है परन्तु भाग्य की परतन्त्रता को कौन टाल सकता है। इस परतन्त्रतावाद से बचने के लिये, इपीक्यूरस ने परमाणुओं के भीतर एक प्रकार से भीतर ही काम करने वाली शक्ति की कल्पना की है जो उन्हें गतिमान् बना दिया करती है। वह कहता है कि काम मस्तिष्क से शुरू होता है और शरीर द्वारा उसकी पूर्ति हुआ करती है। भाव से भाव और अभाव से अभाव ही हुआ करता है इसलिये मस्तिष्क, जिसमें इच्छा उत्पन्न हुआ करती है वह जिन परमाणुओं से बना हुआ होता है, उनमें भी, उस इच्छारूपी गति का अंकुर होना आवश्यक है। इपीक्यूरस ने बंधन (परतन्त्रता) को उत्तरदायित्वरहित, शक्ति और भाग्य को अस्थिर कहते हुये, इच्छा को स्वतंत्र कहा है। वह कहता है कि इस स्वतंत्रता से, हमारे भीतर उत्तरदायित्व पैदा होता है और उसी उत्तरदायित्व की पूर्ति या अपूर्ति करने से, हम प्रशंसा या निन्दा के भागी बना करते हैं[1]।

कारनीडेस ने स्टोइक और इपीक्यूरस दोनों के विचारों

(१) A History of the Problems of Philosophy, by Paul Jenart. (English Translation) p. 312 and 329.

का विरोध करते हुये अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:—

कारनीडेस
Carneedes

"जब हम कहते हैं 'बिना कारण के' तो इसका मतलब यह नहीं होता कि कार्य्य का कोई कारण ही नहीं है बल्कि उसका अभिप्राय यह होता है कि इसका कोई बाह्य, व्यक्त और तात्कालिक कारण नहीं है। जैसे जब हम कहते हैं कि एक बरतन खाली है तो उसका मतलब यह नहीं होता कि उसके भीतर आकाश और वायु भी नहीं, अपितु उसका तात्पर्य केवल इतना होता है कि उसके भीतर जल, तेल आदि कोई स्थूल और व्यक्त वस्तु नहीं है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि हमारा जीवात्मा बिना किसी कारण के चेष्टा करता है तो इसका भी केवल इतना ही मतलब समझना चाहिये कि कोई व्यक्त, बाह्य और तात्कालिक कारण नहीं। जब कोई परमाणु विशिष्ट-गुरुत्व से गति में है तो इसका भी तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि उस गति का कोई व्यक्त, बाह्य कारण नहीं। स्पष्ट है कि हम किसी कार्य्य के बिना कारण के होने के समर्थक नहीं हैं। हमारा अभिप्राय केवल यह प्रकट कर देने से है कि परमाणुओं की प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि वे विशिष्टगुरुत्व ही से गतिमान् होते हैं। इसी प्रकार जब हम इरादा करके कोई काम करते हैं तो इस इरादे के भी किसी बाह्य कारण के खोजने की ज़रूरत नहीं क्योंकि इच्छित कार्य्यों की भी प्रकृति कुछ इसी प्रकार की है कि उसे केवल आन्तरिक प्रेरणा अपेक्षित है और यह कि वह (प्रेरणा) हमारे ऊपर ही निर्भर होती है यदि ऐसा न हो तो फिर उसे इच्छित-कार्य ही किस प्रकार कहा जा सके। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि हमारी इच्छास्वातन्त्र्य की गति, बिना कारण के कोई कार्य्य है,

क्योंकि उसकी प्रकृति ही इस कार्य का कारण हुआ करती है[1]।"

वर्तमानकाल के विद्वान्, जो इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक हैं, वे स्पष्ट रीति से कहते हैं कि इच्छास्वातन्त्र्य के सिद्धान्त से कार्य्यकारणवाद को कुछ हानि नहीं पहुंचती इसलिये कि इच्छास्वातन्त्र्य स्वयमेव एक कार्य्य है, जो प्रकार की दृष्टि से स्वतन्त्रता का पोषक है[2]।



(१) Problem of Freedom p. 323 and 324.

(२) Do. p. 324.

सोलहवां अध्याय

इस वाद के अनुयायियों ने मनुष्य के कर्मस्वातन्त्र्य का समर्थन किया है, परन्तु उन्हें, अपने साम्प्रदायिक विचारों के साथ, इस वाद की संगति लगाने में सफलता नहीं हुई। प्लाटिनस ने अनेक बार कहा कि हम इच्छास्वातन्त्र्य रखते हैं क्योंकि नेकी, दासत्व से ऊपर की वस्तु है और यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों का शुभाशुभ फल भोगा करता है। उस ने यहां तक अपना मत प्रकट किया है कि बिना इच्छास्वातन्त्र्य के मनुष्य, मनुष्य नहीं कहा जा सकता और न उसे स्वतंत्र कर्ता कह सकते हैं, अवश्य उसे मट्टी का एक ढेला कह सकते हैं जो ब्रह्मांड की सार्वत्रिक गति के साथ गति में हो[1]।

प्लाटिनस का सिद्धान्त
Neo-Platonism

प्लाटिनस ने यह भी प्रकट किया है कि यदि प्रत्येक कार्य्य भवितव्यता ही के आधीन हो तो फिर न तो हम ही होंगे और न हमारा कोई कार्य्य ही होगा, हां हमारे स्थान पर एक नियम होगा जो हमारे अन्दर नहीं, इच्छा और कर्म सबका स्थानापन्नरूप समझा जावेगा, दैववाद अथवा अनिवार्य्य परतन्त्रतावाद तो मनुष्य को, इच्छास्वातन्त्र्य, कर्मस्वातन्त्र्य, इन सभों से वंचित करके, ईंट पत्थर के समान ठहराते हैं जो एक निश्चित गति के साथ घसिटते हुये चले जा रहे हैं और जिस गति पर हमारे कर्म का कोई प्रभाव नहीं होता[2]।

---

(१) Enneads- III. I, Ch: IV

(२) Do. III. I, 5.

प्लाटिनस ने यह प्रश्न भी उठाया है कि इच्छास्वातन्त्र्य की संगति किस प्रकार ईश्वर और ब्रह्मांड के संगठन से लगाई जा सकती है ? और उत्तर दिया है कि धर्म तो स्वतंत्र है परन्तु उसके अनुसार किया हुआ कर्म, ब्रह्मांड के नाटक के उस समष्टि में, शामिल रहता है, जो इस नाटक के रचयिता के दिये हुये भागानुसार प्रत्येक नाटक में भाग लेने वालों के कृत्यों से, बना करती है परन्तु इस नाटक के रचयिता का दिया हुआ काम. होता ऐसा ही है, जो प्रत्येक के लिए अधिक से अधिक अनुकूलता रखता है[1]। परन्तु कठिनता यह है कि प्लाटिनस धर्म को कहता है कि स्वतन्त्र है, किसी के आधीन नहीं और स्वतन्त्रता से आचरण में लाया जा सकता है और, प्लेटो की तरह, साथ ही यह भी मानता है कि अधर्म पराधीनता से किया जाता है। इस कठिनता का समाधान प्लाटिनस ने वही किया है जो उससे पहले स्टोइक्स कर चुके हैं अर्थात् जो अपने स्वभाव का अनुकरण करता है स्वतन्त्र होता है क्योंकि ऐसा करने मे, उसे अपने सिवा अन्य किसी की अधीनता नहीं करनी पड़ती। जो अधर्म करता है, यद्यपि बन्धन और परतन्त्रता से किया जाता है, परन्तु वह भी उसी से सम्बन्धित होकर किया जाता है जिसने उसे पूरा किया है क्योंकि उसका कर्ता असल में वही (उसका स्वभाव) होता है[2]।

लैम्बलोचस ने इच्छा की कि कर्मस्वातन्त्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता की संगति लगाई जावे। इस प्रश्न के समाधान

---

(१) Enneades III, I, 5

(२) Do III, 2, 10.

लैम्बलीचस और ईश्वर की त्रिकालज्ञता
Lamblichus

का उत्तरदायित्व अब तो धर्माचार्यों के ज़िम्मे है, परन्तु उस समय दार्शनिकों के ही ज़िम्मे इसके समाधान का भार था। स्टोइक्स ने तो ईश्वर की सर्वज्ञता की रक्षा के धुन में, इच्छास्वातन्त्र्य को उड़ा ही दिया था 'लैम्बलीचस ने समाधान तो करना चाहा परन्तु वह समाधान ईसाई मतावलम्बी विद्वानों के समाधान से कुछ बहतर न था। उसने बतलाया कि जो बातें, अनिश्चित और संदिग्ध हैं, ईश्वर उन्हे भी निश्चितरूप में जानता है क्योंकि वह त्रिकालज्ञ है।

सेंट आगस्टिन और अन्य ईसाई मतावलंबी विद्वान्, ईश्वर

सेंट आगस्टिन

को न्यायकारी सिद्ध करने और मनुष्य के आचारिक जीवन की दृष्टि से, इच्छास्वातन्त्र्य का मानना अपने लिये अनिवार्य समझते थे।

ईश्वर की दया और त्रिकालज्ञता के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगे, इसके संबंध मे, सेन्ट आगस्टिन का विचार था कि इच्छा का विचार ही इच्छास्वातन्त्र्य का समर्थक है। उसका कहना है कि कारणों की शृङ्खला के आधार पर इच्छास्वातन्त्र्य का विरोध करना, हेत्वाभास है। इच्छा कार्य नहीं किन्तु मनुष्य के समस्त कर्मों का कारण है। इच्छा बुनियाद और समस्त अध्यात्मजीवन सम्बन्धी कर्मों का सार है। इच्छा का निश्चय बुद्धि से नहीं होता क्योंकि उसकी सत्ता बुद्धि के पूर्व से है। नेकी को जानने और उसे अधिकार में करने के लिये, हमारे भीतर, नेकी का प्रेम और इच्छा होनी चाहिये। सेंट आगस्टिन उनसे बहुत अप्रसन्न है जो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर मनुष्यों को, इच्छास्वातन्त्र्य के अधिकार से, वंचित करना चाहता है। वह कहता है कि हमारी इच्छायें उन,

कारणों की श्रृङ्खला में. सम्मिलित हैं, जिनका, त्रिकालज्ञता से, ईश्वर को ज्ञान है। चूंकि ये हमारी इच्छायें, हमारे कार्य्यों का कारण भी हैं, इसलिये उनमें जो शक्ति है, वह एक सीमा के भीतर है, परन्तु फिर भी वे (इच्छाये) जो कुछ करना चाहें कर सकती हैं।

जो कुछ भविष्य में होने या न होने वाला है, ईश्वर को उसका ज्ञान, किस प्रकार पहले से हो सकता है ? आगस्टिन इसका उत्तर यह देता है कि ईश्वर के लिये भूतकाल कुछ नहीं, जो कुछ है वर्तमानकाल ही है। "कदापि नहीं," "पहले" "उस समय"—इन शब्दों का, ईश्वर के दिव्यजीवन में, कोई महत्व नहीं है। ईश्वर दोनों (भूत+वर्तमान) को एक साथ देखता है और ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गोचरवस्तु का रचयिता है जो अपने समय पर प्रकट होती रहती हैं। कोई अनिश्चित काम संसार मे इसलिये नहीं हुआ करता कि ईश्वर उन्हे पहले से देख लेता है और ईश्वर इसलिये उन्हें देख लेता है कि वे होने वाले होते हैं'।

सेंट आगस्टिन का कथन है कि धर्मात्माओं में जहां स्वतन्त्रता है वहां पाप की असंभावना है। पाप के आदिकारण पर दृष्टिपात करने से आगस्टिन के मत मे इस समय, संभव नहीं कि कोई पाप न करे अतः मनुष्य की इच्छा,

ईश्वर की दया और इच्छास्वातन्त्र्य

(१) The Problem of Philosophy p. 326

सेन्ट आगस्टिन के अन्त के शब्द अंगरेज़ी भाषा मे ये हैं.—"Contingent things do not take place because God foresees them, but God foresees them because they will take place"

दया के बिना, शक्तिहीन है। मनुष्य जो नेकी करता है उसका कारण उसके भीतर ईश्वर का होना है क्योंकि ईश्वर स्वयमेव शक्ति है'।

संट आगस्टिन के विचारों को, ईश्वर की त्रिकालज्ञता से जो संबंधित थे संशोधन करता हुआ, एक्यूनस अपनी सम्मति इस प्रकार देता है:—"ईश्वर जो कुछ जानता है वह अवश्यंभावी है, और जो कुछ हम जानते हैं वह भी अवश्यंभावी है परन्तु ईश्वर का ज्ञान हमारे ज्ञान की अपेक्षा अधिक निश्चित है ऐसा होने पर भी, कोई बात जो अचानक हो जाया करती है उसके लिये पहले से यह नहीं कह सकते कि वह अवश्य होगी इसलिये ऐसी बातें ईश्वर के ज्ञान में भी नहीं होती।" अवश्य ईश्वर सब कुछ जानता है न केवल उन्हें जो वर्तमान हैं बल्कि उन्हें भी जिन्हें वह स्वयमेव करता अथवा अन्य कोई प्राणी करने लगता है। इस प्रकार भविष्य की वास्तविक अवस्था का भी उसे, सर्वज्ञता से, ज्ञान है और होता रहता है × × × वह नित्य है और उस (ईश्वर) का नित्यत्व भी नित्य है जिससे स्पष्ट है कि वर्तमानकालीन सभी वस्तुयें और घटनायें, चाहे वे नियमानुकूल हुई अथवा अचानक घटित होगई, ईश्वर को उनका ज्ञान होता है और इसके साथ ही भविष्य की उन बातों का भी उसे ज्ञान है जिनके तात्कालिक कारण अपना काम पूरा कर चुके हैं और वे ईश्वर के ज्ञान में हैं'।

एक्यूनस
Aquinas

कल्पना करो कि एक आदमी किसी मीनार के सब से

(१) The Problem of Philosophy p. 326.
(२) Do p. 327.

ऊपरी भाग पर खड़ा होकर नीचे एक के बाद दूसरे जाने वाले मुसाफिरों को देखता है, ठीक इसी प्रकार ईश्वर नित्यता की अचल मीनार पर खड़ा होकर, अपने उत्पन्न किये हुए प्राणियों के कार्य्य, जो एक के बाद दूसरे होते रहते हैं. देखा करता है। इस प्रकार ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से, जहां उन प्राणियो के कार्य्यों को देखता है और साथ २ ही अपने ईश्वरत्व से उन्हे निश्चय भी करता जाता है इस प्रकार ऐक्यूनस के मतानुसार हमारे काम न केवल ईश्वर के पूर्व से जाने हुये हैं किन्तु पूर्व से निश्चय किये हुये भी हैं। ईश्वर इच्छा करता है और पहले से हमारे समस्त कृत्यो को जान लेता है और स्वाभाविक रीति से पूर्व से हमें प्रेरणा हो जाती है। इस प्रकार हमारे कृत्य ईश्वर द्वारा पूर्व से निश्चित हो जाते हैं परन्तु साथ ही यह भी निश्चय हो जाता है कि हम उन्हें स्वतंत्रता के साथ एक खास ढंग से करेंगे[1]।

एक उदाहरण

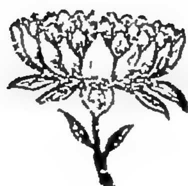
डंस स्कौटस (ऐक्यूनस का प्रतिपक्षी) कहता है कि जगत् ईश्वर का बनाया हुआ है और जगत् मे अनेक कारण हैं जिन्हे चाहे काम में लाया जाय या न लाया जाय और उनके कार्य्यों को चाहे उत्पन्न होने दिया जावे या न उत्पन्न होने दिया जावे। स्कौटस इच्छा को बुद्धि से ऊपर समझता है और कहता है कि स्वतंत्र सम्मति से विश्वास की सचाई स्वीकृत हुआ करती है। मनुष्य का इच्छास्वातन्त्र्य, ईश्वर की इच्छा-स्वातन्त्र्य के

मध्यमकालीन विचार

---

(१) The Problem of Philosophy p. 327 and 328. ऐक्यूनस का यह वाद Theory of Physical Pre-motion के नाम से प्रसिद्ध है।

माध्यम ही से समझा जा सकता है। ईश्वर के विचार में ऐसी बातें नहीं रहा करतीं जिन्हें भाग्य की तरह, किये जाने के लिये मनुष्य बाधित किये जासके। ईश्वर ने स्वतंत्रता से सत्यता और नेकी को पैदा किया है। यदि कर्ता, जगत् में कर्म परतन्त्रता से करता होता तो उसका फल पर कुछ भी अधिकार न होता और जो कुछ जगत् मे उसके लिये होता वह सब परतन्त्रता ही का परिणाम होता।



सत्रहवां अध्याय

होवस का यान्त्रिक जड़वाद

इच्छास्वातन्त्र्य की समस्या
डेकार्टेस से कांट तक

इच्छास्वातन्त्र्य को, मनुष्य के मस्तिष्क से, पृथक् करता है। वह कहता है कि हमारे विचार और कल्पनायें, असल में मस्तिष्क में फैली हुई एक गति के सिवा और कुछ नही है। वह गति मस्तिष्क मे खतम नही हो जाती किन्तु हृदय तक पहुंचती है जहां उसके लिये आवश्यक होता है कि वह जीवनरूपी गति की सहायक बने या उसके काम में बाधा डाले। पहली सूरत होने पर मनुष्य को प्रसन्नता होती है और वह प्रसन्नता इष्ट वस्तु के संबंध से प्रेम कहलाती है। दूसरी सूरत में दुःख होता है और वह दुःख भी, इष्ट वस्तु के संबंध से. द्वेष कहा जाता है। यह गति, जिसके भीतर सुख और दुःख निहित होते हैं, सुखद वस्तुओं को आकर्षण करने और दुःखद वस्तुओं को हटाने के लिये याचना अथवा प्रकोपोत्तेजन का कारण बना करती है और यह याचना ही उद्योग अथवा प्राणियों की आन्तरिक गति का सूत्रपात करती है और उस (गति) से जब कर्त्ता में प्रसन्नता के भाव उद्भूत होते हैं तब उसे सुख की स्वाभाविक इच्छा कहते हैं परन्तु वर्तमान दुःख की दृष्टि से वह द्वेष और भावी दुःख के लिहाज़ से उसे डर कहा करते हैं[1]। इस प्रकार उत्पन्न हुए इच्छा, भय और द्वेष हमारे कार्यों के प्रारम्भिक परन्तु निहित कारण हुआ करते हैं।

---

(१) On Human Nature by Hobbes Ch: VII.

यह गहरी इच्छायें ही इच्छा-शक्ति होती है। एक आदमी नहीं कह सकता कि वह इच्छा की इच्छा करता है यदि कहे तो ये शब्द बार बार उसे दुहराने तिहराने पड़ेंगे। जिसे इरादा करके काम करना कहते हैं, वह इच्छाओं या भयों की पुनरुक्ति-मात्र होती है[1]। स्पष्ट है कि होवस के मत में प्रत्येक वस्तु अन्त में एक प्राकृतिक अणु की गति ही का रूप धारण कर लिया करती है जिसका निश्चित होना आवश्यक है। फल इसका यह हुआ कि मनुष्य में उससे अधिक इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है जितनी एक वेसमझ पशु में समझी जा सकती है। होवस की सम्मति में, इच्छा (Will) और राग (Desire) एक ही है।

लाक ने मनोवैज्ञानिक हेतुओं से इच्छास्वातन्त्र्य को, अस्वीकार किया है। वह कहता है कि हमारे अन्दर मस्तिष्क के अनेक कार्य्यों और शरीर की अनेक गतियों के प्रारम्भ करने, सह लेने, जारी रखने या समाप्त करने की एक शक्ति है। वह शक्ति इन कार्यों को मस्तिष्क की प्रेरणा से, जो एक से दूसरे को तरजीह देते हुए किसी काम के करने या न करने का मानो विधान कर रहा है, करती है। उसी शक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं[2]। लाक का कहना है कि समस्त कार्य, जिनका हमे प्रज्ञान है, विचार और गतिमूलक हैं। मनुष्य को अपने मस्तिष्क की प्रेरणानुसार, विचार करने न

लाक
Locke

(१) On Human Nature by Hobbes Ch: XII.

(२) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 5

करने, गति देने न देने की जहां तक योग्यता है वहां तक वह स्वतन्त्र है[1]।

एक लूला लंगड़ा आदमी यदि चलना चाहे तो नहीं चल सकता क्योंकि पांव उसका साथ नहीं देते. इसलिये इस मामले में वह स्वतन्त्र नहीं है। एक गेंद भी, यद्यपि इधर उधर चली जाया करती है, स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि स्वतन्त्रता के लिये समझ और इच्छाशक्ति की ज़रूरत होती है परन्तु गेंद इनसे वंचित है।

फिर वह (लाक) कहता है कि स्वतन्त्रता का संबंध मनुष्य की इच्छा से भी नहीं है। कल्पना करो कि एक आदमी गहरी नींद में सो रहा है उसे, बेखबरी ही में, एक दूसरे कमरे में पहुँचा कर उस कमरे को बंद कर दिया गया। उस बंद कमरे में एक और व्यक्ति था जिसे, सोने वाला आदमी, देखना और जिससे बात भी करना चाहता था। जब वह जगा तो उसे देख कर खुश हो गया और बंद कमरे से निकलने की जगह, उसी में उस व्यक्ति के साथ रहना चाहता है इस घटना का उल्लेख करते हुये. लाक एक प्रश्न करता है कि क्या उस (सोने वाले) पुरुष का, उस बंद कमरे में ठहरना, उसकी इच्छानुसार नहीं है? और उत्तर देते हुये कहता है कि इसमें किसी को भी संदेह न होगा कि वह (सोने वाला) अपनी इच्छानुसार ही उस बंद कमरे में ठहरना चाहता है यद्यपि उस बंद कमरे से बाहर जाने की उसे स्वतन्त्रता प्राप्त

---

(१) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21. Sec. 8.

नहीं है[1]। अस्तु लाक इस उदाहरण से परिणाम यह निकालता है कि इच्छा और स्वतन्त्रता दो पृथक् पृथक् वस्तुयें है। इच्छा स्वतन्त्रता से पहले उत्पन्न होती है और जैसी इच्छा होती है स्वतन्त्रता से मनुष्य वैसा ही काम किया करता है। अतः स्वतन्त्रता एक शक्ति है जिससे इच्छानुकूल मनुष्य काम किया करता है और वह (इच्छा) स्वतन्त्रता से भिन्न वस्तु है। 'लाइबनिटज़' ने भी एक जगह इच्छा और कर्म करने की स्वतन्त्रताओं में भेद किया है अर्थात् इच्छा करने की स्वतन्त्रता एक वस्तु है और कर्म करने की स्वतन्त्रता दूसरी वस्तु[2]।

लाक ने, विवादास्पद विषय को, कि मनुष्य में इच्छा-स्वातंत्र्य है या नही, लक्ष्य करके उत्तर दिया है:—

अतः साफ़ ज़ाहिर है कि वर्तमान कर्म से संबंधित समस्त प्रस्तावों के करने न करने में, मनुष्य स्वतंत्र नही है क्योंकि वह इच्छा करना बंद नही कर सकता और स्वतंत्रता में एक शक्ति है कि चाहे काम करे या न करे[3]। अच्छा यदि मनुष्यों में इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है तो वह इच्छा फिर किस प्रकार निश्चित होती है ? इसके संबंध मे लाक का कहना है "एक ही हालत को स्थिर रखने या एक ही कर्म को जारी रखने से मनुष्य वर्तमान की सन्तुष्टि रखता है परन्तु जब उस हालत या कर्म में

---

(१) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec 10.

(२) New Essays II, Ch: 21, Sec 8.

(३) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 24.

परिवर्तन करना चाहता है तो इसमें उसे सदैव कुछ कठिनता प्रतीत हुआ करती है[1]। इससे लाक यह परिणाम निकालता है कि जब हम अत्यंत प्रतिकूलता का अनुभव करने लगते हैं तो उस समय राग के आनुकूल्य से इच्छा निश्चित हुआ करती है[2]। असुविधाओं के भंडार मे से, जो प्राकृतिक वंधनों अथवा बनाये हुये स्वभावो ने एकत्र कर रक्खा है, बार बार असुविधायें निकल कर मनुष्य की इच्छा को अपने साथ ले लेती हैं और ज्योंही एक काम पूरा हो चुकता है, जिसे इसी प्रकार की प्रभावित इच्छा से प्रारंभ किया गया था, दूसरी असुविधायें, इच्छा को प्रभावित करके दूसरा काम शुरू करा देती हैं[3]।

जैसा कि कहा जा चुका है लाक ने इच्छा और राग में भेद किया है। वह एक जगह लिखता है कि एक गठिया का रोगी चाहता है कि रोगमुक्त होजावे। वह समझता है कि इस रोग के दूर होने से शरीर के भीतर का कष्टप्रद वायुविकार दोषमुक्त होकर जीवनप्रद वन जायगा तो भी उसकी प्रभावित इच्छाशक्ति इस प्रकार कार्य्य नहीं करती जो उस दर्द के दूर करने का कारण

इच्छा और राग
Will and Desire

---

(१) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21. Sec 25.

(२) A History of the Problems of Philosophy p. 33.

(३) On the Human Understanding by Locke Book II Ch; 21 Sec. 45.

बने[1]। उसने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि "इसलिये स्वीकार करना चाहिये कि यद्यपि अत्यंत असुविधायें, इच्छाशक्ति को प्रभावित करके, एक के बाद दूसरे काम करने के लिये बाधित करती रहती हैं फिर भी यह नियम अपवाद से खाली नहीं है[2]। "हमारे भीतर एक शक्ति है जिससे हम किसी खास इच्छा को रोक भी सकते हैं जिससे वह इच्छाशक्ति को बाधित करके किसी काम में न लगा सके[3]"। "हमको स्वतंत्रता है कि हम अपनी रागात्मक इच्छाओं की तुलना करके उनके वपयों पर विचार करें और उनके परिणामों पर दृष्टि डालें। इसी मे मनुष्य को जितनी स्वतंत्रता प्राप्त है उसका विधान है[4]"। इस मामले में इच्छाशक्ति जिस बात से प्रभावित और बाधित होती है वह शुभाशुभ का अन्तिम निर्णय है[5]। "आत्मनिरीक्षण करते हुये अन्तिम निर्णय के आधार पर इच्छा करना और उसी इच्छा को कार्य्य मे परिणित करना यह हमारे स्वभाव का दोष नहीं किन्तु उसकी पूर्णता है। हमारी रुचि, हमारे ज्ञान से नियन्त्रित होती है। हम अपनी बुद्धि से, जितना धिक भलाई करने की इच्छा द्वारा प्रभावित अथवा बाधित होते हैं उतना ही अधिक स्वतंत्रता वाले समझे जा सकते हैं। इसलिये स्वतंत्रता तात्कालिक इच्छाओं को दूर करने और वास्तविक सुख के विचारों

---

(१) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec 30

(२) Do. Sec. 47

(३) Do Sec. 50.

(४) Do Sec. 47

(५) Do Sec 48.

को बलिष्ठ बनाने में होती है × × × निष्कर्ष यह है कि मनुष्य निश्चय कर लेवे कि यथार्थसुख को छोड़ कर सुखाभास की चिन्ता न करेगा यही स्वतंत्रता की असली बुनियाद है[1] ।"

वर्तमान दार्शनिकयुग मे डेकार्ट, इच्छास्वातन्त्र्य का सब से बड़ा पोषक था । वह आत्मा को न केवल मेधा (Intelligence) अपितु स्वतंत्रता-पूर्ण भी मानता था। उसके मतानुसार विधि-निषेध का निर्णय केवल प्रज्ञा से नही होता। प्रज्ञा से किसी वस्तु से संबंधित केवल विचार ग्रहण किये जाते हैं जिनके लिये कोई सम्मति स्थिर करनी होती है। वह चीज़ जो उस वस्तु की सत्ता को स्वीकार करती है, जिसका विचार बुद्धि से हमने ग्रहण किया है, हमारी इच्छाशक्ति होती है[2] । निर्णय करना इच्छा करना ही है। इच्छा-शक्ति की विभेदक विशेषता उसकी स्वतंत्रता है। इससे हमको समझना चाहिये कि हमारे अन्दर एक धनात्मक शक्ति है जिससे हम अपने लिये किसी वस्तु के स्वीकार, अस्वीकार अथवा ग्रहण या त्याग का निर्णय किया करते हैं[3] उस शक्ति का ज्ञान हमको, जब वह काम में लाई जाती है, होता है। हमारे अन्दर जो कुछ

डेकार्ट
Descartes

---

(१) On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 51.

(२) Principles of Philosophy by Descartes I, 34.

(३) Letter to Peremers, Edition V Cousin, Vol. VI, 134

है सभी अल्पज्ञतापूर्ण है, परन्तु केवल इच्छाशक्ति या उसकी स्वतंत्रता है, जिसे अपने अनुभव से, हम इतना महत्वपूर्ण पाते हैं कि उससे अधिक महत्वपूर्ण और विस्तारवती कोई दूसरी स्वतंत्रता नहीं है। यही हमारी स्वतंत्रता है जिससे हम अपने को ईश्वर के तद्रूप और तदनुकूल समझते हैं। डेकार्ट ने जो पत्र एक जेसूट पादरी को लिखा था उसमें उसने कुछ इस तरह की बातें लिखी थीं जिनसे यह समझा जा सकता है कि उसने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध किया है[1]। परन्तु उसके सब लेखों के देखने से उसका सिद्धान्त यह पाया जाता है कि "यद्यपि हम घटनाओं से प्रभावित होते रहते हैं, परन्तु फिर भी हमारी स्वतंत्रता बनी रहती है। उस स्वतंत्रता के बने रहने के हेतु ये हैं:—

(१) सत्य, जो सर्वदा श्रेयस्कर है, उसे सदैव हम अपनी इच्छा ही से ग्रहण किया करते हैं।

(२) हम घटित घटनाओं की उपेक्षा करते हुये उन बातों को करते रहते हैं, जो हमें बुराई की ओर प्रवृत्त करने वाली होती हैं।

(३) कोई भी चीज़, हमारी उस इच्छा को, जो हमारी इच्छाशक्ति को स्वतंत्र सिद्ध करने के लिये, हमारे अन्दर सदैव बनी रहती है, दबा नहीं सकती[2]"।

स्पाईनोज़ा का कथन है कि संसार में अचानक कुछ भी

(१) Letter to a Jesuit Father, Ed V Cousin, Vol IX, 168

(२) The Problem of Philosophy p 333 and 334.

स्पाईनोज़ा
Spinoza

नहीं हो जाता। संसार की प्रत्येक वस्तु, प्राकृतिक नियमों की आवश्यकतानुसार, नियमित काम करने के लिये उत्पन्न हुई है[1]।

मनुष्य के अन्दर कोई पूर्ण या स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं है, बल्कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वयमेव, कारणवश, एक या दूसरा, काम करने के लिये, बाधित है। वह कारण भी स्वतंत्र नहीं है, वह एक दूसरे कारण से, उस प्रकार के कार्य्य के लिये मजबूर है, और वह दूसरा कारण भी, इसी प्रकार एक तीसरे कारण के बंधन में है। निष्कर्ष यह है कि कारणों का अनन्त चक्र है जो एक दूसरे को उपरोक्त रीति से कार्य्य करने के लिये बंधन में रखते हैं[2]। ये विचार स्पाईनोज़ा के प्रायः सभी लेखों में, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, पाये जाते हैं।

उसने एक और जगह लिखा है कि मस्तिष्क में कोई इच्छा या विधिनिषेधपरक कोई शक्ति नहीं है सिवाय एक विचार के और वह भी इतना कि वह विचारमात्र है[3]। उसकी सम्मति में इच्छाशक्ति (Volition) और बुद्धि (Understanding) एक ही चीज़ हैं। जब हम कहते हैं कि एक आदमी अपनी निर्णायक बुद्धि से काम नहीं लेता तो इसका मतलब केवल इतना होता है कि विवादास्पद विषय को वह अच्छी तरह नहीं समझता। निर्णायक बुद्धि से काम लेने के अर्थ सम-

---

(१) Ethics by Spinoza part I Prop XXIX

(२) Do part II prop XLVIII.

(३) Do. part II prop XLIX

भ्रमनामात्र है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं[1]। तब स्वतन्त्रता का ज्ञान कहां से आया? स्पाइनोज़ा का उत्तर यह है कि यह भ्रम-मात्र है और इस भ्रमोत्पत्ति का कारण यह है कि मनुष्य अपने कामों को तो जानता है, परन्तु उन कारणों से अनभिज्ञ रहा करता है जिनके द्वारा वे कार्य, विवशता के साथ, निष्पन्न हुआ करते हैं[2]। फिर एक और जगह उसने एक उदाहरण देकर अपना भाव इस प्रकार प्रकट किया है:—

'एक बालक दूध की इच्छा करने में अपने को स्वतन्त्र समझता है। एक दूसरा क्रोधी बालक, क्रोध करने के लिये, इसी प्रकार के विचार रखता है। एक डरपोक बालक भाग जाने को स्वतन्त्रता समझता है। एक शराब के नशे में बेसुध पुरुप जो कुछ ऊटपटांग बकता है, उसे अपनी स्वतंत्रता का काम समझता है, इसी प्रकार एक सन्निपातग्रस्त व्यक्ति अथवा एक वाचाल स्त्री अपनी व्यर्थ की वातों को अपनी स्वतंत्रता का काम समझती है। परन्तु वास्तव में वे, ये सब कार्य बंधन ही से करते हैं और हेतु स्पष्ट है कि वे इन कार्यों को रोक नहीं सकते[3]।"

मालब्रांश ने अपने अनियत कारणवाद में, ईश्वर ही में समस्त कर्तृत्व का आदेश किया है। ऐसा करते हुए भी उसने जीव की सत्ता स्वीकार की है। जीव की सत्ता से, इन्कार न करते हुए भी, उसने उसको, किसी प्रकार का भी,

मालब्रांश
Molebranche

(१) Ethics by Spinoza part II, prop XLIX note.
(२) Do part II prop XXXV note.
(३) Ethics by Spinoza part III prop. II, note.

यत्न प्रारम्भ करने से, वंचित रक्खा है। वह कहता है कि किसी प्रकार का भी हम यत्न क्यों न करें, वह ईश्वरेच्छा से बाहर नही हो सकता। इसलिये मनुष्य के समस्त कार्य, ईश्वरेच्छा ही पर निर्भर होते हैं जैसे समस्त जगत् के अन्य कार्य। हमारी इच्छा एक स्वाभाविक रुचि है जो आमतौर से भलाई की ओर जाती है, परन्तु वह रुचि भी अनिश्चित है। वह ईश्वर है जो विना रोकटोक हमको भलाई की ओर ले जाता है और वही किसी विशेष भलाई का ज्ञान और उसका प्रेम हमे देता है और उस भलाई के करने के लिये भी वही हमें उद्यत करता है, अतः हमारे मस्तिष्क के कार्यों में जितनी वास्तविकता है उसका कर्ता भी ईश्वर ही है, परन्तु वह पाप का कर्ता नहीं है। पापी कुछ नही करता क्योंकि पाप कुछ नहीं है। पाप यही है कि जीव कुछ नहीं करता और बेकार रहता है, ईश्वर का अनुसरण नही करता[1]।

वोसूट (Bossuet)

वोसूट ने, इच्छास्वातन्त्र्य संबंधी, अपने एक निबंध मे, इच्छास्वातन्त्र्य की स्थापना करते हुये उसकी संगति, ईश्वर के भविष्य ज्ञानी और सर्वज्ञ होने के साथ, लगाने का यत्न किया है। वह कहता है कि इच्छास्वातन्त्र्य अवश्य हमारे अन्दर है और इस स्वतंत्रता का ज्ञान हमको निम्न कारणों से होता है:—

(१) अनुभव साक्षी है।

(२) तर्क से समर्थित है।

---

(१) Rech. de la Verite by Molebranch Book I (English Translation)

(३) इलहाम से उसकी गवाही मिलती है। ईश्वर ने धर्मग्रंथों के द्वारा उसका हमें ज्ञान दिया है। इस आक्षेप के उत्तर में कि आवश्यक कार्य्यों के करने में कोई न कोई अभिप्राय कर्ता का अवश्य हुआ करता है और वही, उस कार्य्य के करने में, हमे बाधित किया करता है, बोसूट, अनेक ऐसे कार्य्यों के उदाहरण देते हुये, जिन्हें मनुष्य उपेक्षा बुद्धि रखते हुये करता है, कहता है कि इच्छाशक्ति अपने कार्य्यों की स्वयं निर्णायक है। उसे, उस निश्चय के करने में, अन्य किसी बंधन की ज़रूरत नहीं। उसने एक उदाहरण दिया है कि जब हम, अपना हाथ बिना किसी इरादे के, किसी विशेष दिशा की ओर उठाते हैं तो हमको मालूम हो जाता है कि केवल हमारी इच्छाशक्ति है जो हमको इस काम के करने के लिये बाधित करती है। अन्तःकरण के इस साक्षी की पुष्टि तर्क से होती है। बोसूट और एक तर्क उपस्थित करता है कि संसार के प्रायः सभी भाषाओं में आये हुये, "उत्तरदायित्व", "प्रायश्चित्त", "प्रशंसा", "इलज़ाम", "दंड", "इरादा" आदि शब्द, स्वतंत्रता का विधान करने के सिवा, और कोई बात प्रमाणित नहीं करते। इसलिये हम अनेक वस्तुओं से संबंधित स्पष्ट विचार रखते हैं जिन्हें कोई स्वतंत्र व्यक्ति ही रख सकता है। इलहाम से स्वतंत्रता सिद्ध करने के लिये उसने बाइबिल के अनेक उदाहरण दिये हैं[1]। इसके बाद उसने इस जटिल प्रश्न के हल करने का यत्न किया है कि किस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की संगति ईश्वर की सर्वज्ञता से लगाई जा सकती है।

"ईश्वर, मनुष्य की इच्छा शक्ति को, प्रेरित करता है कि

(१) Treatise on Freewill by Bossuet Ch: II

वह अपनी इच्छानुसार किसी परिणाम के लिये कोई काम करे, ईश्वर केवल वही जानता है जो वह स्वयं करता है। वह बाहर से कोई ज्ञान प्राप्त नहीं करता और क्योंकि वह प्रत्येक बात देखता है इसलिये कोई काम नहीं जिसका वह कर्ता न हो।" "यदि उसके भीतर कुछ न होता तो कहां से वह हमारे कार्य-स्वातन्त्र्य का कारण बन सकता था। हमारे स्वतन्त्रता से किये कामों को वह पहले से नहीं जानता और इन कामों को जब हम करेंगे तब भी वह इन्हें नहीं देखेगा"' । मनुष्य का इच्छास्वातन्त्र्य भी बना रहे और ईश्वर की त्रिकालज्ञता मे भी भेद न आवे, इसके लिये वोसूट ने चार सूरतें पेश की हैं:—

कर्मस्वातन्त्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता

(१) पहला हल तो वही है जो सेंट आगस्टाइन (St Augustine) से संबंधित है जिसे पीछे से प्रोटिस्टेंट और जान सेनिस्ट ईसाइयों ने अपना लिया था। अर्थात् जो काम मनुष्य अपने इरादे से करे उसे इच्छास्वातन्त्र्य के अन्तर्गत समझना चाहिये। १७ वीं शताब्दी में इरादे से कुछ करने का मतलब यह समझा जाता था कि किसी काम को मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से करे। इसके भीतर रहस्य यह है कि पहला पाप करने से पूर्व मनुष्य कर्म करने में पूरे स्वतंत्र थे परन्तु जब उसने पहला पाप कर डाला तब ईश्वर ने, पूर्णता से, सब कार्य्यों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जिससे वे हमारी इच्छा पर निर्भर रहें और वह अपनी सर्वज्ञता और सर्व-शक्तिमत्ता से इस प्रकार का हमको बना देता है जिससे हमारी

(१) Treatise on Freewill by Bossuet Ch: III

इच्छा वही हो जिससे वह (ईश्वर) प्रसन्न होता हो। बोसूट के मत में, इस प्रकार समझने से ईश्वर की त्रिकालज्ञता और हमारे अपने कर्मों के उत्तरदायित्व में कोई असंगति नहीं रह जाती, परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि पहले पाप करने से पूर्व ईश्वर में त्रिकालज्ञता नहीं थी और उसके बाद स्वतंत्रता नहीं रही।

(२) १६ वीं सदी में जेसूट मौलिना (Jesuit molina) ने, एक निबंध में, स्वतंत्रता का ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ अविरोध प्रदर्शन करते हुये, लिखा था कि ईश्वरीय ज्ञान के ३ उद्देश्य हैं:—(१) संभवनीय घटनाओं का प्रकट करना, (२) घटित घटनाओ का विवरण देना, (३) सोपाधिक घटनाओं का खोलना। संख्या ३ में वर्णित घटनाओ का स्थान सं० १ और २ के मध्य में है। ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उसके उत्पन्न किये हुये प्राणी स्वतंत्रता से क्या करेंगे। ईश्वर के इस ज्ञान से मनुष्य की स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं पहुंच सकती, क्योंकि किसी चीज़ के जानने का अभिप्राय यह नहीं होता कि स्वतंत्रता से करने के लिये, निश्चय किये हुये कर्म का प्रकार बदल दिया जावे। ईश्वर प्राणियों की इस बात को लक्ष्य में रखते हुये कि वे, अपनी प्राप्त स्वतंत्रता से किस किस समय क्या क्या करेंगे, अपने आदेशों को मर्यादित किया करता है वह (ईश्वर) प्रतीक्षा करता हुआ देखता है कि हमारी इच्छाओं के रुख किधर हैं और तब निश्चित रीति से अपने आदेशों को, हमारे निश्चयों के संबंध में, निश्चित करता है[1]। इस प्रकार ईश्वर, अपने ज्ञान के माध्यम से, जो सं० १ (संभवनीय

(१) Treatise by Bossuet Ch: IX

घटना) और सं० २ (घटित घटनाओं) दोनों से पृथक् होता है, मनुष्य इच्छास्वातंत्र्य से जो कुछ करना निश्चय करता है, उसे जानते हुये अपनी कृपाओं का विभाग किया करता है।

जेसूट मौलिना के लेख का, उपर्युक्त विवरण देते हुये, बोसूट इस पर आक्षेप करता है कि इस वाद की रू से ईश्वर के आदेश, वस्तुओं के आदिकारण नहीं हो सकते[1]।

यह समाधान भी, आक्षेपरहित नहीं कहा जा सकता। किस प्रकार, स्वतन्त्रता से किया हुआ कोई अचानक कर्म, अनादि काल से ईश्वर के ज्ञान में आ सकता है ?

(३) तीसरा समाधान यह है कि ईश्वर हमको विशेष कार्यों की ओर खींच लेता है।

(क) विषयों की तरतीब और उन परिस्थियों के द्वारा, जिनमें उस (ईश्वर) ने हमको रक्खा है।

(ख) उन विचारों के द्वारा, जिन्हें उसने हमारे मस्तिष्कों में भर दिया है।

(ग) उन आवेगों के द्वारा, जिन्हें वह हमारे हृदयों में उत्पन्न करता रहता है।

अस्तु, ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे वह, अपने मनसूबों के पूरा करने में, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से, काम में न ला सकता हो। इसलिये यदि वह चाहे कि हमारी इच्छाशक्ति पर अधिकार प्राप्त कर ले और साथ ही हमें स्वतन्त्र भी रक्खे तो, यह दोनों काम, एक साथ करने में वह समर्थ है[2]।

---

(१) Treatise by Bossuet Ch: VI

(२) Do, Ch: VII

(४) चौथा समाधान—इसे थौमिस्ट[1] लोगों ने उपस्थित किया है, जिसे पूर्वनिश्चयवाद[2] कहते हैं। वाद का रूप यह है कि ईश्वर हमारे मस्तिष्क पर तत्काल इस प्रकार काम करता है जिससे हम कोई काम विशेष रीति से करना स्थिर कर लेते हैं, परन्तु फिर भी वह हमारा स्थिरीकरण स्वतन्त्रता-पूर्ण ही रहता है, क्योंकि वह (ईश्वर) ऐसा ही चाहता है। हम अपने को व्यर्थ थकाते हैं जब हम यह जानने का यत्न करते हैं कि ईश्वर के, इच्छा करने का आधार क्या है? ईश्वर न केवल हमारी पसन्द ही का कारण है बल्कि उस स्वतन्त्रता का भी कारण है जिससे, हम किसी काम का करना, पसंद किया करते हैं[3]।

वोसूट, इस चौथे समाधान को उपस्थित करते हुये, कहता है कि ईश्वर हमारी स्वतन्त्रता का कारण है। वह हमारे काम को ऐसा बना देता है, मानो, उसका करना न करना एकमात्र हमारे ऊपर ही निर्भर था।

लाइवनिटज़ डेकार्ट और स्पाईनोज़ा दोनों के सिद्धान्तों का विरोधी था। डेकार्ट ने डन्सस्काट्स (Duns Scotis) की

लाइवनिटज़
Liebnitz

तरह निश्चय किया था कि ईश्वर मे पूर्ण उपेक्षा और मनुष्य मे इच्छास्वातन्त्र्य है परन्तु इसके विरुद्ध स्पाईनोज़ा ने,

---

(१) A follower of the scholastic philosophy of Thomas Aquinos

(२) The doctrine of Premonition or physical pre-determination

(३) Treatise by Bossuet Ch: IX.

जीव और जगत्, सबका आधार ईश्वर ही को माना था। स्पाईनोज़ा के इस द्वैववाद और डेकार्ट के उपेक्षावाद के मध्य में लाइबनिट्ज़ ने एक वाद, जिसे "आचारिक आवश्यकतावाद" कहते हैं, स्थापित किया था। लाइबनिट्ज़ कहता है कि उपेक्षा स्वातन्त्र्यवाद, ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ, असंगत है और प्राकृतिक नियमों तथा तर्क के साथ भी इसकी संगति नहीं लगती, क्योंकि इस वाद के अनुसार, जीवात्मा कर्म करते समय, ऐसी अवस्था में है जिसमें प्रत्येक बात ठीक तरह नपी तुली है या तो इसलिये कि इच्छा के सामने कर्म का कोई लक्ष्य नहीं है अथवा वह अत्यंत बलिष्ट प्रलोभनदायक उद्देश्यों से प्रभावित है। लाइबनिट्ज़, अपने वाद को, पुष्ट करने के लिये कहता है कि मनुष्य में भी सभी बातें, उसी तरह से, ठीक और पूर्व से निश्चित हैं जैसे कि ब्रह्मांड के अन्य सब काम, और जीवात्मा एक प्रकार का आध्यात्मिक स्वयं चलने वाला यन्त्र है। मस्तिष्क एक कांटा है और लक्ष्य उस कांटे में तोलने के बाट हैं, या यों कहिये कि मस्तिष्क एक शक्ति है, जो अनेक ओर, काम करने का यत्न करता है परन्तु कर उसी को पाता है जिधर, अधिक से अधिक, उसे सुगमतायें प्राप्त होती हैं, और कम से कम विरोध होता है इस प्रकार मस्तिष्क की इच्छा, उसके संपर्क में आने वाली, भलाइयों ही की ओर जाती हैं। ये पूर्वगामिनी इच्छायें होती हैं परन्तु आनुषंगिक इच्छा, जो इन इच्छाओं का परिणाम होती हैं, उस ओर जाने के लिये निश्चित हो जाती हैं जिधर जाने के लिये उस पर अधिक से अधिक प्रभाव पड़ते हैं। यहां प्रश्न यह है कि फिर किस दृष्टि से मनुष्य में स्वतन्त्रता का आरोप किया जाय?

स्वतन्त्रता के भीतर ३ बातें हुआ करती हैं:—(१) बुद्धि

या छांटकर पसंद करने का विवेक, (२) स्वेच्छा (३) यदृच्छा। इनमें से स्वेच्छा कर्म करने की शक्ति और वह योग्यता है जिसके भीतर, कर्म क्यों किया गया, यह रहस्य निहित है। चूंकि संसार आध्यात्मिक अणुओं से बना हुआ है इसलिये प्रत्येक वस्तु के अन्दर स्वेच्छा मौजूद होती है। जगत् में सभी, जो असंभव या परस्पर विरोधी नहीं है, आपातिक (अचानक हो जाने वाला) है। इस दृष्टि से, न केवल मनुष्यों के कर्म, किन्तु वास्तविक जगत् की प्रत्येक दृष्टिगोचर वस्तु आपातिक है।

लाइबनिटज़ के उपर्युक्त विवरण पर दृष्टिपात करने पर सुगमता से यह कहा जा सकता है कि लाइबनिटज़, जिसको सुरक्षित रखना चाहता है वह, स्वतन्त्रता का शब्दमात्र है, वास्तविक स्वतंत्रता नहीं। फिर भी लाइबनिटज़ के आचारिक परतन्त्रतावाद को स्पाइनोजा के तर्कानुसार भाग्यवाद से मिला नहीं सकते।

डेविड ह्यूम
David Hume

ह्यूम की सम्मति में कर्म करने की जगत् मे न तो परतन्त्रता है और न स्वतन्त्रता। जो कुछ है उसे दृष्टिगोचर वस्तुओं का तारतम्य ही कह सकते हैं। जो निरन्तर एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी घटना घटित होती रहती हैं। लाइबनिटज़ की तरह, न तो उसकी पद्धति युक्तियुक्त थी और न लाक की तरह अनुभवात्मक। उसे केवल आलोचनात्मक कह सकते हैं जिसका उद्देश्य इतना था कि अपने विचारों का व्यवच्छेद करके उनका स्पष्टीकरण कर देवे। ह्यूम ने एक जगह लिखा है—"मुझे आशा है कि सभी

मनुष्य परतन्त्रता और स्वतन्त्रता दोनों पद्धतियों के मानने में, युक्तियुक्त सीमा तक, सदैव सहमत रहे हैं और यह कि इस संबंध का सभी वादविवाद केवल शब्दों पर निर्भर रहता है[1]।

यदि यह प्रकट हो सके कि सभी मनुष्य. बिना किसी झिझक या सन्देह के, सहमत हैं कि हमारे सभी, स्वतन्त्र इच्छापूर्वक किये कर्म. नियमित संबंध नियम के आधीन हैं और उनके तर्क निर्णीत अर्थ किये जा सकते हैं. तो इससे सिद्ध हो जायगा कि सभी पुरुष परतन्त्रतावाद को मानते हैं। एक ही उद्देश्य से. एक ही प्रकार के, कार्य हुआ करते हैं। कर्म के लक्ष्य आकांक्षा, धनोपार्जन, आत्मप्रेम, उदारता, जनसेवा आदि हुआ करते हैं।

अपने वाद को पुष्ट करने के लिए एक जगह ह्यूम ने लिखा है:—"अत्यन्त अनियमित और आशातीत निश्चय. जो मनुष्य करता है, उसे प्रायः ऐसे मनुष्य पूर्व से विचार लिया करते हैं, जिन्हें उस मनुष्य के चरित्र का प्रत्येक विवरण और परिस्थिति का पूरा ज्ञान होता है[2] । + + + एक प्रकार, मनुष्य, उचित-रीति से, इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकार कर सकता है जैसा लाक ने भी कहा है कि मनुष्य मे ऐसी शक्ति हो जिससे, रुकावट न होने पर, वह अपनी इच्छा को कार्य में परिणत कर सके, परन्तु जब लक्ष्य मालूम होने से मनुष्य के सभी कर्म पहले से जाने जा सकते हैं तो फिर स्वतन्त्रता का विचार भ्रममात्र है।

---

(१) Enquiry Concerning the Human Understanding by Hume Section VIII part I

(२) Do

हम ब्रह्मांड में केवल वाह्यजगत् को, काल और दिशा के रूप में, देखते हैं। परन्तु यह दृश्य वाह्यजगत्, अद्वैत और एकात्मवाद से मेल नहीं खा सकता, हां यदि कठोर परतन्त्रतावाद की बेड़ियो से, अपने आगे पीछे जाने के कार्य्यों में, इस प्रकार जकड़ दिया जावे कि पृथक् न हो सके तो शायद मेल हो सके। परन्तु हमारी बुद्धि के समस्त विचार और नियम, बुद्धि की सीमा से, वाहर काम में नहीं आ सकते। यदि समस्त आन्तरिक विषयों को वाह्यजगत् की सत्यता दे दी जावे तो बुद्धि का यह काम इन्द्रजाल ही समझा जावेगा और उसका यह कार्य्य अपनी तुष्टि ही का कार्य माना जावेगा। इस प्रकार दैववाद से हमारा छुटकारा हो जाता है। जगत्, जैसा वह हमे प्रतीत होता है, परतन्त्रतापूर्ण है, केवल वाह्यजगत् यहां अभिप्रत है। परन्तु आन्तरिक वस्तु तात्त्विक और यथार्थ जगत् इस वाह्यजगत् के नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र है और केवल उन्हीं नियमो के आधीन है जो आन्तरिक जगत् ही से संबंधित हैं। निष्कर्ष यह है कि हमको जो कुछ ब्रह्मांड में प्रतीत होता है उससे, जो कुछ वास्तव में है, उसके अनुमान करने का कोई अधिकार नहीं है। कान्ट के उस ग्रंथ से, जो उसने शुद्ध तर्क के संबंध मे (The Critique of Pure Reason) लिखा था, प्रमाणित होता है कि स्वतंत्रता असंभव है परन्तु क्रियात्मक बुद्धि से संबंधित ग्रंथ (Critique of Practical Reason) से सिद्ध होता है कि स्वतंत्रता अनिवार्य्य है। जगत् में मनुष्यों के लिये जो स्पष्ट विधायक कर्तव्य नियत किये जाते हैं फिर उनके कुछ अर्थ ही नहीं हो सकते यदि मनुष्य स्वतंत्रता से वंचित रक्खा जावे। कर्तव्य की नियुक्ति

कान्ट
Kant

असंदिग्ध रीति से स्वतंत्रता का विधान करती है। अपने वर्तमान जीवन में, यदि हम, समष्टि रूप से, अपने कार्य्यों को देखें तो वे केवल नामरूप (बाह्य दृश्य) होते हैं और एक ऐसा प्रकार उपस्थित करते है, जिसके सभी अंश एक दूसरे के साथ, परतंत्रतावाद की मर्यादानुसार, जुड़े हुये हैं, परन्तु यह शृंखला, जिसकी अनेक लड़ियां हैं, और जो क्रमबद्ध और विभाज्य है, क्योंकि काल उनका प्रकाश कर रहा है, एक ऐसी वस्तु को प्रकट कर रही हैं जो निरवयव एकाकी स्वतंत्र, काल के बंधन से रहित और नित्य है। परतंत्रता उसका बाह्य दृश्य और स्वतंत्रता उसका आन्तरिक सत्य है। कान्ट की, इस दार्शनिक शिक्षा में, विश्वास के लिये कोई स्थान नहीं है[1]।

---

(१) Preface. 25 Edition of the Critique of Pure Reason by Kant.

अठारहवां अध्याय

मिल ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के संबंध में, बहुत पुराने ज़माने अर्थात् पेलेजियस (Pelegius) के समय से मतभेद चला आता है। परतन्त्रतावाद की रू से मनुष्य की इच्छा और कार्य्य दोनों नियत और अनिवार्य्य हैं परन्तु स्वतन्त्रतावाद इसके विरुद्ध है। उसकी रू से मनुष्य की इच्छा, जगत् के अन्य दृश्य कार्य्यों के सदृश, पहले से निश्चित नहीं है किन्तु मनुष्य उसका निश्चय स्वयं करता है, इन दोनों सूरतों का विवरण देने के बाद मिल कहता है कि उसकी सम्मति में पहला पक्ष ठीक है[1]। परन्तु उसमें एक आपत्ति यह है कि इस पक्ष के समर्थक, उसे इस प्रकार प्रकट करते हैं कि जिससे आम तौर से वह वाद स्वीकार करने के अयोग्य हो जाता है।

जान स्टुअर्ट मिल
John Stuart Mill

मिल ने, पहली सूरत का शुद्धरूप, इस प्रकार प्रकट किया है कि मनुष्य के मस्तिष्क में निमित्त पहले से मौजूद होते हैं और इसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति और चरित्र भी पहले से तय्यार होता है। मिल का कथन है कि यदि किसी मनुष्य को याथातथ्य रीति से जानते हों और उस पर पड़ने वाले प्रत्येक प्रभाव अथवा प्रलोभन को भी जानते हों तो निश्चित रीति से बतलाया जा सकता है कि वह किस प्रकार काम करेगा।

दार्शनिक परतन्त्रता

(१) System of Logic by J. S Mill Book VI Ch: II p 547.

इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि किसी व्यक्ति के संबंध मे, इस प्रकार, उसका भविष्य बतला देने से उसकी इच्छास्वातन्त्र्य में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आ सकता[1]। अपने इस पक्ष के समर्थन में उसने एक दलील दी है। वह कहता है कि धार्मिक तत्वों ने, इच्छास्वातन्त्र्य को, ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ संगत समझा है। यदि ईश्वर के भविष्य-ज्ञान के साथ वह संगत हो सकता है तो अन्यों के भविष्य ज्ञान के साथ भी उसकी संगति होनी चाहिये।

मनुष्य, किसी लक्ष्यविशेष की ओर चलने के लिये, जैसे किसी निहित अलौकिक शक्ति से, विवश होता है, वैसा कर्म करने में विवश नहीं, अपितु हम यह भी अनुभव करते हैं कि यदि किसी लक्ष्य का हम विरोध करना चाहें तो हम यह भी कर सकते हैं। + + + जो लोग यह खयाल करते हैं कि कारण और कार्य्य के मध्य में एक अलौकिक संबंध है, जो कारण के बाद कार्य्य को ले आया करता है, वे, यह समझने में, निर्दोष हैं कि, स्वाभाविक प्रवृत्तियों और इच्छाओं के बीच का संबंध उससे भिन्न प्रकार का है। यदि इसी प्रकार की ग्रंथि परतन्त्रता शब्द के अन्तर्गत मानी जावे तो यह परतन्त्रतावाद, मनुष्यों के कर्मों के संबंध मे, ठीक नहीं उतरेगा और न किसी सजीव प्राणी के संबंध ही में ठीक होगा क्योंकि यह कहना बिलकुल ठीक है कि मस्तिष्क से अधिक प्रकृति, परतंत्रतावाद से, परतंत्रित नहीं है[2]। वह फिर कहता है कि कारण और कार्य्य अथवा प्राकृतिक आवश्यकता और उसके प्रभाव के मध्य में निरुद्धता

(१) System of Logic by J. S Mill Book VI Ch: II p 548.

(२) Do p. 548.

की गुंजाइश नहीं है, परन्तु इच्छाशक्ति के संबंध मे समझना होगा कि वर्तमान कारणविशेष से कार्य्य होगा, परन्तु इस कारण के प्रभाव में अन्य कारणों के प्रति व्याघात की संभावना हो सकती है, परन्तु साधारणतया वह (कारणविशेष) सभी अन्य कारणों, विशेष कर सब से वलवान् प्रतिव्याघाती कारण के व्यापार का साधक होता है।

जब हम कहते हैं कि मनुष्यों के प्रत्येक कार्य परतन्त्रता-वशात् ही होते हैं, तब इसका मतलब इतना ही होता है कि यदि कोई रुकावट न हुई तो वह अवश्य घटित होंगे परन्तु जब हम यह कहते हैं कि जो लोग भोजन नहीं पा सकते उनके लिये मरना अनिवार्य है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसके रोकने के लिये चाहे जितना यत्न किया जाये वह अवश्य मरेगा। प्राकृतिक साधन जिन पर मनुष्यों के कर्म निर्भर होते हैं और जो अनियन्त्रित हैं उनके अनुकूल सदैव कार्य हुआ करता है। मिल ने अपना भाव स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया है कि प्राकृतिक नियमो की आवश्यकता या परतन्त्रता किसे कहते हैं? हम शारीरिक परम्परा को आवश्यकता या परतन्त्रता कहते हैं जैसे विना वायु या भोजन के मरना आवश्यक है परन्तु यदि किसी व्यक्ति को विष दे दिया जावे तो उसके लिये हम मौत को आवश्यक नहीं कहेंगे क्योंकि सम्भव है कि औषधिप्रयोग से, विष का प्रभाव, जाता रहे और वह आदमी न मरे। यह उदाहरण देकर, मिल कहता है कि मनुष्य के कर्म दूसरी (ज़हर से मृत्यु वाली) सूरत में आते हैं। वे कर्म कदापि किसी एक लक्ष्य के इस प्रकार आधीन नहीं होते कि उनपर किसी दूसरे लक्ष्य का प्रभाव न पड़ सके। इसलिये वे कारण (प्राकृतिक साधन), जिनपर कर्म निर्भर होते

हैं, कदापि अनियान्त्रित नहीं होते और कोई भी कार्य, यदि उस कारण को, जिसका वह कार्य है, नियन्त्रित न किया जावे तो वह अवश्यम्भावी है[1]।

यह परतन्त्रतावाद, जिसका ऊपर विवरण दिया गया है, दैववाद से, सर्वथा पृथक् है, परन्तु प्रायः देखा यही जाता है कि अधिकांश परतन्त्रतावादी, अपने अनुभव के आधार पर, न्यूनाधिक दैववादी ही होते हैं। मिल ने भाग्य (दैव) वाद और परतन्त्रतावाद के अन्तर दिखलाने के लिये एक चित्र दिया है जो इस प्रकार है:—

भाग्य(दैव)वादी

(१) क—भावी अपने कार्य का अनिवार्य फल है।
ख—भावी के विरुद्ध यत्न करना बेकार है। वह अटल है।

(२) विश्वास रखता है कि उसका स्वभाव ऐसा है अथवा उसकी शिक्षा और अवस्थाओं ने, उसके चारित्र को ऐसा मोड़ दिया है कि कुछ भी उसे एक खास तरीक़े से सोचने और वैसा ही कर्म करने से रोक नहीं सकता या कम से कम उसका कोई भी यत्न, उसमें रुकावट नहीं डाल सकता।

(३) मनुष्य का चारित्र उसके लिये बनाया गया है, उसने नहीं बनाया इसलिये वह उसे बदल भी नहीं सकता।

परतन्त्रतावादी

(१) क—से सहमत है।
ख—हमारे कर्म हमारे चारित्र का फल है और चारित्र

(१) System of Logic by J. S. Mill Book VI Ch: II p 549.

शारीरिक संगठन शिक्षा और परिस्थितियों का परिणाम होते हुए न्यूनाधिक चेतना के अनुकूल होता है।

(२) मनुष्य का चरित्र उसकी अवस्थाओं से बना करता है परन्तु उसकी यह इच्छा भी कि मैं उसे (चरित्र को) मोड़ दूं एक अवस्था (कारण) है और यह भी नहीं है कि उसका कम प्रभाव हो।

(३) हम साक्षात् रीति से यह इच्छा नही कर सकते कि हम जो कुछ हैं, उससे सर्वथा भिन्न हो जावें परन्तु क्या वे भी, जिनके लिये कल्पना की जाती है कि उन्होंने हमारा चरित्र बनाया है, साक्षात् रीति से इच्छा करते हैं कि हमें वहीं रहना चाहिये जो कुछ कि हम हैं। मनुष्य की इच्छाशक्ति मे और कोई साक्षात् शक्ति नही है सिवाय इसके कि अपने कर्मों पर अधिकार रक्खे। उन्होंने हम को पहले जैसी इच्छा वाला बनाया वैसा ही बना दिया परन्तु यह बनाना अन्त का काम नही था अपितु आकांक्षित मध्यस्थिति ही थी। हम जब कि हमारा स्वभाव (आदत) अत्यन्त चिरस्थायी नही, उपर्युक्त भांति इच्छा करके आकांक्षित मध्यस्थिति में हो जाने के द्वारा अपने को अब से भिन्न भी बना सकते हैं। हम भी अपने चरित्र को बनाने में उतने ही समर्थ हैं जितना कि दूसरे हमारा चरित्र हमारे लिये बनाने में समर्थ हैं।

रौबर्ट ओवन के अनुयायी ओवनाइट (Owenites) मिल के उपर्युक्त तर्क पर यह आक्षेप करते हैं[1] कि इच्छाशक्ति, जो

---

(१) The Socialistic Philanthropical System of Robert Owen (1858) established by him at the New Lamark Mills in Scotland

ओवनाइट का इस पर आक्षेप

हमारे चरित्र को बदल देती है, विना किसी यत्न के हम को मिली है, वह इच्छाशक्ति, विशेष अवस्थाओं द्वारा जिनपर हमारा कुछ अधिकार नहीं होता, बाह्य कारणों से या विना किसी कारण के हमारे पास आती है।

मिल का समाधान

हमारा चरित्र, हमारे लिये हमारे द्वारा ही बना है, इच्छाशक्ति जो हम को चरित्र के निर्माण के लिये प्रवृत्त करती है, उसी से चरित्र बना करता है, किस प्रकार चरित्र बनता है? इसका उत्तर यह है कि न केवल हमारे शारीरिक संगठन और न केवल हमारी शिक्षा से चरित्र बनता है, किन्तु मुख्यतया उस अनुभव से चरित्र बना करता है, जो हमारे पहले चरित्र के दुःखप्रद परिणामों से प्राप्त होता है अथवा अन्यों द्वारा, अपने गुणों की बार बार प्रशंसा से जो संस्कार बना करते हैं या अनायास जो प्रभाव सत्संगादि से हृदय पर पड़ता है, वह चरित्र के निर्माण में सहायक हुआ करते हैं। परन्तु एक यह विचार कि हमारे अन्दर चरित्रपरिवर्तन करने की शक्ति नहीं और दूसरा यह विचार कि हम अपनी शक्ति को प्रयोग में नहीं लावेंगे जब तक हम उसके प्रयोग में लाने की इच्छा न करें, दो भिन्न भिन्न बातें और दोनों का भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ा करता है[1]।

---

(१) System of Logic by John Stuart Mill, Book VI Ch: II p. 550.

उन्नीसवां अध्याय

विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति, वस्तुओं के सार्वत्रिक प्रकृति का एक भाग है, और मनुष्य का जीवन भी विश्व की विस्तृत चेतना का एक अंश है।

विज्ञान का पक्ष

प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं हो सकता। जो अपवाद प्रतीत होता है वह भ्रममात्र है, और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने पर जाता रहता है। यह नियम है जिसका विज्ञान सदैव समर्थन करता रहता है। इसी वाद के आधार पर, जब मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान और भौतिकविज्ञान का, मनुष्य की जीवन समस्या पर, आक्रमण होता है, तब मनुष्य के कल्पित इच्छास्वातन्त्र्य का सफाया हो जाता है और उसे अपनी परतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी वैज्ञानिकवाद का नाम परतन्त्रतावाद है, इस पर जेम्स सेठ ने एक जगह लिखा है कि यदि इस वैज्ञानिकवाद (Determinism) को अपने मन्तव्य के प्रकट करने का साहस होता तो उसे अपने पुराने और शुद्ध नाम 'प्राकृतिक आवश्यकतावाद" (Necessitarianism) को अपनाना चाहिये था[1]। क्योंकि जो शक्तियां मनुष्य को बंधन में रखती हैं, वे मुख्यतः लक्ष्य, स्वभाव और निर्मित चरित्ररूपी आंतरिक शक्तियां ही हुआ करती हैं। तो भी इन आंतरिक शक्तियों और

---

(१) पहले Determinism और Necessitarianism के पृथक् पृथक् स्कूल थे परन्तु पीछे से यह अन्तिम वाद पहले वाद में शामिल कर दिया गया। अब Necessitarians का कोई पृथक् स्कूल नहीं रहा। वे आमतौर से Determinism को मानने लगे हैं—लेखक

वाह्यजगत् मे प्रचलित प्राकृतिक शक्तियों के मध्य, कोई वास्तविक असंबद्धता नही है। अन्त को ये दोनों (बाह्य और आभ्यन्तर) शक्तियां एक ही हैं। अतः मनुष्य के कर्त्तृत्व का असली आधार, भीतर की अपेक्षा, अधिकतर बाहर है क्योंकि वाह्यशक्तियां अधिक वलवती और महत्वपूर्ण हैं। आंतरिक शक्तियों का समावेश उन्हीं के अंदर है, और वे उन्ही का अंश-मात्र हैं। हम अपना स्वभाव, वाह्यप्रकृति से, वंशपरम्परा के द्वारा लेते हैं और एक वार जब प्राप्त कर लेते हैं तब अवस्थाओं के वल और शिक्षा से, उसकी पुष्टि और वृद्धि करते रहते हैं। उन्ही वाह्यप्रभावों के वशीभूत हो कर, जो हमारे ऊपर नित्यप्रति पड़ते रहते है, हम जो कुछ करते हैं, वह उन्ही के अनुकूल, पुनरावृत्ति के रूप में, होता है, जैसे कि पशु, पौदे और यहां तक कि पत्थर भी, अपने भीतर क्रिया करते है। इस प्रकार के (प्रभावों से उत्पन्न) कार्य्य (और उन्ही के वश हो कर किये हुये हमारे) पुनः कार्य्य, मिलकर उन घटनाओं की पूरी शृङ्खला उत्पन्न करते हैं, जिनसे हमारा जीवन वनता है, इसलिये हम स्वतंत्र नही हैं किन्तु बाह्य प्रकृति की आवश्यकताओं के वन्धन में है। वाह्यप्रकृति के जो नियम हैं वही हमारे भी हैं। वाह्यप्रकृति की आवश्यकता को, जो हमारे जीवन से इस प्रकार जुड़ी हुई है जैसे दुलड़ी रस्सी की एक लड़ दूसरी के साथ जुड़ी हुई होती है, हम विचार मे ला सकते हैं। वह सत्य है, आंतरिक आवश्यकता की जगह, उसे वाह्य आवश्यकता कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु यह आंतरिक और वाह्य आवश्यकतायें, अंत में एक ही हैं। पैटर ने एक जगह[1] कहा है कि "आवश्यकता जिससे

---

(१) The Renaissance by W. Pater.

हमारा जीवन शासित होता है, वह एक ऐंद्रजालिक तन्तु है जो हम में ओतप्रोत है। जिस प्रकार विज्ञान, वैद्युतशक्ति का, कथन करता है, कि वह जाल की तरह हमारे शरीर में फैली हुई है और सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ी से भी, सूक्ष्म है तो भी उसके भीतर ब्रह्मांड की मुख्य शक्ति निहित होती है।"

इस नवीन परतंत्रतावाद और प्राचीन आवश्यकतावाद में जो भेद था वह विज्ञान से, जहांतक कि उसका संबंध है, विकासवाद के विचारों के आजाने से दूर होगया। अब विज्ञान, अन्य विकसित पदार्थों की तरह, मनुष्य को भी, विकास की पैदावार समझता है। मनुष्य स्वभाव को भी, समझना चाहिये कि वह विकासमय है जिसमें नित्यप्रति विकास होता रहता है। विज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य अपने समय और अपनी अवस्था की सन्तति है और बच्चों ही की तरह शक्तिहीन उनके हाथ में है। मनुष्य के जीवन और चरित्र की, वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ब्रह्मांड में प्रचलित सार्वत्रिक विकास से विकसित, अन्य पदार्थों के साथ, वह भी अपना स्थान ले रहा है और अपने स्थान पर अपना प्रदर्शन कर रहा है।

विज्ञान के पक्ष का निचोड़ यह है कि विज्ञान के लाभ और उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति की ओर चलने देने के लिये, आवश्यक है कि इच्छास्वातन्त्र्य का, प्रत्येक अंश में, जो इन शब्दों से प्रकट हो सकते हैं, विरोध किया जावे, उसकी स्वीकारी का अर्थ, विज्ञान ने, मनुष्य के जीवन का जो अर्थ समझा है उससे दस्तबरदार होना है[1]।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विज्ञान का उपर्युक्त मत

(१) A Study of Ethical Principles by James Seth part III Ch: I (15th Edition).

सर्वसम्मत था परन्तु बीसवीं शताब्दी का विज्ञान और मनोविज्ञान इससे सर्वथा भिन्न है। वह इस परतंत्रतावाद को स्वीकार नहीं करता।

सर आर्थर इडिंगटन ने, १६३० ई० मे, एक विज्ञानसंबंधी सभा के सभापति की हैसियत से, जो भाषण दिया था उसमें इस (उपर्युक्त) वैज्ञानिक परतंत्रतावाद के असफल होने के संबंध में इस प्रकार कहा था —"एक और आश्चर्यजनक परिवर्तन, जो वैज्ञानिक विचारों में हो गये हैं, परतंत्रतावाद के संबंध मे है। यह विचार कि भविष्य पहले से निश्चित है और यह कि समय केवल उस कहानी के पृष्ठों को उलट रहा है जो पहले से लिखी जाचुकी है।"

"निस्संदेह उत्पन्न जगत् की पहली प्रातःकाल ही में जो लिखा गया था वही प्रलयांत की अन्तिम प्रातः को पढ़ा जायगा"। एडिंगटन ने उपर्युक्त वाक्य को, उल्लेख करते हुये, प्रकट किया था कि कुछ काल पूर्व तक आमतौर से यह शिक्षा साइन्स की समझी जाती थी। कम से कम प्राकृतिक जगत् के संबंध में तो यही सार्वत्रिक विचार था। यद्यपि यांत्रिक दृष्टिकोण के मुख्य नियमों ने जड़वाद का वहिष्कार किया था परंतु आज का भौतिकविज्ञानवाद यांत्रिक नियमों पर निर्भर नहीं है। वह ऐसी बुनियाद पर खड़ा हुआ है जहां इस कल्पित परतंत्रावाद के लिये कोई गुंजाइश नही है। जहांतक प्राकृतिक जगत् का संबंध है, उसमें हमें अणुमात्र भी, परतंत्रतावाद का चिह्न नही मिलता और इसलिये अब इच्छास्वातंत्र्य के सम्बंध में संदेह करने की कोई बात नहीं है[1]।

---

(१) सर आर्थर एडिंगटन वर्तमान काल के वैज्ञानिकों में उच्च स्थान रखते हैं इसलिये पाठकों के लाभार्थ हम उनके शब्द यहां उद्धृत किये देते हैं:—

मैक डौगाल महाशय ने भी एक जगह लिखा है कि "मुझे बड़ा संदेह है कि यदि भावी जीवन तथा तत्सम्बंधी धार्मिक विचारों को छोड़ दिया जावे तो कोई जाति आचारिक उत्कृष्टता प्राप्त भी कर सकती है"[२] ।

Another striking change of scientific views was in regard to Determinism, the view that the future was pre-destined, and that time merely turned over the leaves of a story that was already written.

"Jea, the first morning of Creation wrote
What the last Dawn of Reckoning shall read."

Until recently this was almost universally accepted as the teaching of science, at least in regard to the material universe It was the distinctive principle of the mechanistic outlook which superseded the crude materialistic outlook But today physical theory was not mechanistic and it was built on a foundation which knew nothing of this supposed Determinism So far as we had yet gone in our proving of the material universe, we could not find a particle of evidence in favour of Determinism. There was no longer cry need to doubt our intuition of Freewill (Leader Allahabad 29 / 12 / 30)

(२) Body and Mind-a History and Defence of Animism by Mr. Mc Dougall Ch: XIV.

बीसवां अध्याय

दूसरा पक्ष आचारिक और धार्मिक विश्वास

कांट का प्रसिद्ध वाक्य, कि इच्छास्वातन्त्र्य आचार की बुनियाद है, अब तक स्वीकार किया जा रहा है, वैज्ञानिक परतंत्रतावाद के स्वीकार करने से, आचारिक जीवन नष्ट हो जाता है, परतंत्रतावादी हजार यत्न करें कि प्राकृतिक आवश्यकता के आधार पर, परतन्त्रतावाद की सहायता से, नाममात्र का कोई आचार स्थापित करें परन्तु यह यत्न अवश्य असफल होगा, असफल होगा।

सदाचारी पुरुषों का जीता जागता अनुभव है कि प्रायश्चित्त प्रतिफल, पाप की स्वीकारी और इनाम, उसके जीवन के समस्त कष्ट, अपमान, प्रसन्नता और श्रेष्ठता के लिये इनका पूरा करना न करना, उसकी अपनी इच्छा ही पर निर्भर होता है अवश्य उसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति, एक अंश तक, एक दूसरी शक्ति की सहायता से, होती है।

मनुष्य, जब तक मनुष्यता खो न दे, अपने स्थिर कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व से मुक्त नही हो सकता। इसलिये यह अपनी स्वतंत्रता भी नही छोड़ सकता है और न यह चाह सकता है कि प्रकृति के हाथ की कठपुतली बन जावे। उसके आचारिक अनुभव के आधार से, उसके अंदर यह विचार बना रहता है कि वह जड़ प्रकृति से अनादि काल से, असीम श्रेष्ठता रखता है। प्रकृति उसके विरुद्ध कुछ नही कर सकती परन्तु वह प्राकृतिक आवश्यकता में भेद पैदा कर सकता है उसकी दृष्टि में प्राकृतिक आवश्यकतावादी पशुओं का सा, स्वाभाविक

जीवन, व्यतीत कर रहा है। ऐसा जीवन नहीं व्यतीत कर रहा है, जिसे एक अच्छे और सदाचारी पुरुष का जीवन कह सकें, स्वतन्त्रता पर विश्वास रखने से मनुष्य का जीवन सदाचारप्रिय जीवन बना करता है। आचारिक जीवन की मुख्य विशेषता यह है कि उससे मनुष्य न तो स्वाभाविक जीवन पशुओं की तरह व्यतीत करता है और न वह अपने को ईश्वर ही समझने लगता है। उसमें उत्तरदायित्व और कृतज्ञता के भाव निहित रहते हैं।

मनुष्य के, दुःखसम्बन्धी, साधारण अनुभव में यह विश्वास शामिल रहता है कि उसके लिये अनेक प्रकार के कर्मों के मार्ग खुले हुये हैं, इसलिये ऐसे ही कर्म करने चाहियें जो दुःखप्रद न हों और आगामी जीवन में वे उसके काम आवें। भूलों के लिये पश्चात्ताप करने की भावना, बाहर से नहीं किन्तु निश्चय है कि भीतर ही से, उत्पन्न हुआ करती है हमारी आचारिक प्रकृति, उच्चताओं की प्राप्ति का मतालिबा करने में, बड़ी कठोर है और इसी प्रकार, उन उच्च आदर्शों के पूरा न कर सकने की अवस्था में भी, उसकी कठोरता वैसी ही बनी रहती है। इस प्रकार से देखा जावे तो मनुष्य-जीवन में संभावना और वास्तविकता के लिये एक ही जैसे विचार रहा करते हैं अथवा यों कहिये 'जो होना चाहिये था' उसको जो "हुआ है" उसमें परिणत करने की भावना बनी रहती है।

इक्कीसवां अध्याय

आचार को लक्ष्य मे रखते हुये, जिस इच्छास्वातंत्र्य की अपेक्षा हो सकती है उसके स्वीकार करने का फल यह होगा

इच्छास्वातंत्र्य और अद्वैतवाद

कि हमे, उन सारे दार्शनिक प्रकारों से, हाथ धोलेना पड़ेगा जो ऐक्य या जड़ाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जब हम इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हम एक ऐसे अध्यात्मजगत् को स्वीकार करते हैं जो इस प्राकृतिक जगत् से, प्रकार की दृष्टि से भिन्न है और इसीलिये वैज्ञानिकसंयोग के दावे से भी दस्तबरदार होते हैं।

(२) इसका यह भी अभिप्राय है कि हम जीव के बहुत्व को स्वीकार करके चेतनाद्वैत को भी रद्द करते हैं।

(३) प्रोफ़ेसर जेम्स ने भी यही कहा है कि स्वतंत्रतामय व्यक्तित्व के स्वीकार करने से हम अनेक प्रकार के अद्वैतवादों से पृथक् होकर अनेकतावाद के संसार में दाखिल हो जाते हैं।

(४) इस (इच्छास्वातंत्र्य) के स्वीकार करने से यह भी आवश्यक होगा कि जगत् में नेकी के साथ बदी की सत्ता को भी स्वीकार किया जावे, इस बदी की सत्ता के स्वीकार करने का फल यह होगा कि दार्शनिक और धार्मिक प्रसन्नता को भी ख़ैरबाद कहा जावे या कम से कम यह मानने के लिये बाधित होना पड़ेगा कि हर्षवाद की इमारत मे, दुःखवाद के खुले और सीधे द्वार से प्रवेश करें। ये सब कठिनाइयां जो अध्यात्म-

जगत् को उठानी पड़ेंगी और एक तमपूर्ण गुफा में जो उसे प्रवेश करना पड़ेगा, उसका एकमात्र कारण आचारिक बुद्धि की स्वीकारी और उसके मतालियों की पूर्ति करने की भावना है।

(५) इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि आचारिक इच्छास्वातंत्र्य का प्रश्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करने का भी प्रश्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया तो अनेक अध्यात्म प्रणालियों के मार्ग मे रोड़ा अटकाना पड़ेगा इन कठिनाइयों को लक्ष्य में रखते हुये भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इच्छास्वातंत्र्य आचार की बुनियाद है और इसी बुनियाद से आचार परखा जा सकता है।

विलियम जेम्स ने अपने "परतंत्रतावाद की भूल भुलय्या" शीर्षक के लेख में, कांट के स्वतंत्रता सम्बंधी सिद्धांत की पुष्टि करते हुये, लिखा है कि मैं एक व्यक्ति के रूपमें, आचारसंबंधी मर्यादाओं के विचार करने में, अपने को वैसा ही स्वतंत्र अनुभव करता हूं जैसी कि यांत्रिक या तार्किक सचाई के अनुभव करने में उनके विचारक अपने को अनुभव करते हैं। यदि कोई वाद, जो ब्रह्मांड का विवरण देने में, ऐसा हो, जो मेरे आचारसम्बन्धी सिद्धान्त में बाधा डाले, तो मैं उसका खंडन करने या कम से कम उसकी सत्यता में सन्देह करने के लिये अपने को स्वतन्त्र समझूंगा। मैं यह बात खुले तौर से स्वीकार करता हूं कि अनेकतावाद और इच्छास्वातन्त्र्य के मानने से जो अशान्ति जगत् में होती है, एक दरज़े तक अनुचित है और शायद बुद्धि के भी विरुद्ध हो, परन्तु इस (इच्छास्वातन्त्र्य) के स्थान पर जो वाद स्थापित किया जाता है वह

विलियमज़ेम्स
William James

कहीं उससे भी अधिक बुद्धि के विरुद्ध और अशान्तिप्रद है। निबन्ध को समाप्त करते हुए, जेम्स ने परिणाम यह निकाला है कि स्वतन्त्रतावाद से केवल हमारी बुद्धि की पूर्णता में बाधा पहुंचती है, और वह पूर्णता प्रशंसनीय नहीं, अपितु नियंत्रणीय है, परन्तु परतन्त्रतावाद से तो आचारिक सत्यता और उत्तर-दायित्व का भाव सर्वतोभावेन नष्ट हो जाता है[1]।



(१) The Will to Believe, and Other Essays by William James p. 145–183

बाईसवां अध्याय

जेम्स सेठ
James Seth

जेम्स सेठ ने, विलियम जेम्स के स्वतन्त्रतासम्बन्धी मत पर विचार करते हुए, लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के प्रश्न का यह हल तो ठीक है, परन्तु तो भी इस हल का वास्तविक आशय क्या है? उसे प्रकट कर देना ठीक होगा। यह हल कांट के पक्ष की पुष्टि करता हुआ घोषित करता है कि आचार का पक्ष, वैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा, प्रबल और शुद्ध है।

दो प्रकार के मतों का कारण

जिन दार्शनिक अथवा अन्य विद्वानों ने इस विषय में अपने अपने अनुकूल या प्रतिकूल मत प्रकट किये हैं, उनमें इस प्रकार के मतभेद का होना स्वाभाविक है। कारण स्पष्ट है कि समस्त मनुष्यों के अन्दर आचारिक अथवा तार्किक बुद्धि एक जैसी नहीं होती। किसी में एक की अधिकता और अन्यों की न्यूनता होती है और अन्यों में, इसके सर्वथा विपरीत अवस्था देखी जाती है, जैसे कुछ लोग तो जन्म ही से अद्वैतवाद और कुछ द्वैतवादी हुआ करते हैं। इसी प्रकार कोई जन्म ही से आचार-प्रिय होता है और दूसरा तार्किक और इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मनुष्यों के स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं, और ये भिन्न-भिन्न स्वभाव ही, भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति, उनमें उत्पन्न करने का कारण हुआ करते हैं कि किसकी प्रवृत्ति, इस विवादास्पद विषय की ओर क्या होगी।

जो विज्ञान और तर्क का पक्ष लेते हैं, उन्हे स्पाईनोजा के सामने झुकना पड़ता है और जो आचार और धर्म का

पक्ष लेते हैं, उन्हे कांट और लोजे (Lotze) की ओर जाना पड़ता है।

कोई इस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को, चाहे वर्तमान ज्ञान और खोजों के कम अनुकूल समझे, परन्तु उसके समर्थक उसे बुद्धिपूर्वक और तर्कसिद्ध विश्वास बतलाते हैं।

यदि आचारसंबन्धी अनुभवों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता निहित है और मनुष्य की सृष्टि भी इसी प्रकार की रची गई है कि वे स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझे, तब इस विषय के सिद्ध करने का बोझ, आचारवादियों के ज़िम्मे नहीं अपितु परतन्त्रतावादियो के ज़िम्मे पड़ता है कि वे अपने पक्ष को सिद्ध करें।

हम और हमारा आचारिक जीवन तथा शारीरिक और मानसिक जीवन, दोनों एक ही सत्यता के अंश हैं। आचारिक सत्यता और शारीरिक सत्यता, दोनों एक ही वास्तविक ब्रह्मांड के दो तत्व हैं।

दोनों पक्षो में मेल किस प्रकार रह सकता है?

आचारिक ज्ञान, जगत् की अनेक चेतनाओं या प्रकाश में से एक प्रकाश है[1]। हम ब्रह्मांड से आचार और उससे संबन्धित ज्ञान को पृथक् नही कर सकते, और न यह बनावटी वस्तु है। और न जगत् मे, कही बाहर से ला कर, रक्खी गई है।

यह (इच्छास्वातन्त्र्य) एक अकृत्रिम तथ्य, स्वयं जगत् का द्योतक और प्रकाशक है और इसलिये हमारा कर्तव्य है

---

(१) C. F. Fouillee. L Avenir de la Metaphysique p. 262. (English translation).

कि हम, इसी के प्रकाश में, जगत् की व्याख्या करें। जो कुछ भी कठिनाइयें आचारसंबंधी ज्ञानोत्पत्ति के कारण, आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में उत्पन्न हों, उन सबको, कृपा कर के नहीं, किन्तु प्रथम का अधिकार समझ कर दूसरे को सहना चाहिये, क्योंकि यह (आचारसम्बंधी ज्ञान) भी तर्क और सांसारिक तथ्य की आवाज़ है अथवा वस्तुओं का धर्म है। यदि परतंत्रतावाद, इसकी आवाज़ को रोकेगा या इसे केवल इन्द्रजाल या साम्प्रदायिक छलमात्र समझेगा तो यह न केवल मनुष्यस्वभाव का बल्कि स्वयं ब्रह्मांड का भी अपमान होगा। हमारी तार्किक और आचारिक बुद्धियों में जो अन्तर दिखाई पड़ता है वह केवल दिखावटी है वह वास्तविक या स्थिरतापूर्ण, अंतर नहीं है[१]। इसलिये हमको यत्न करना चाहिये कि दोनों की संगति लग सके। परतन्त्रतावादियों का कथन है कि इन दोनों वादों में विरोध का कारण, दोनों के यथार्थ ज्ञान की कमी है। यदि प्राकृतिक आवश्यकतावाद को ठीक तरह से समझ लिया जावे तो उससे स्वतन्त्रतावाद पृथक् नहीं किया जा सकता। इनमें मेल के उपाय की चिन्ता, बहुत दिनों यहां तक कि इडवार्ड के समय से, चली आती है, परन्तु इसका सबसे बड़ा पक्षपाती ह्यूम था[२]। ह्यूम के बाद जो इन दोनों के मेल का समर्थक हुआ वह "शैड-वर्ड-हौजसन" था। उसने एक जगह लिखा है। स्वतन्त्रता का सच्चा और सीधा अर्थ वह स्वतंत्रता है जो बलात्कार की विरोधी है और इसी प्रकार प्राकृतिक आवश्यकता (परतन्त्रता) का शुद्ध और सच्चा

(१) Ethical Principles by J. Seth p 375

(२) Enquiry Concerning Human Understanding by Hume Ch: VIII.

अर्थ वह आवश्यकता है जो यदृच्छा अथवा भाग्य का विरोध करती है इस प्रकार बलात्काररहित स्वतन्त्रता और यदृच्छा अथवा भाग्यवादशून्य आवश्यकता मे, यदि देखा जावे तो, फिर ये विरोधी अंक नहीं ठहर सकते,........एक परतन्त्रतावादी को पूरा अधिकार है कि इच्छास्वातन्त्र्य रक्खे[1]। फिर एक दूसरी जगह उसने लिखा है कि "इच्छास्वातन्त्र्यवाद एक ऐसी स्वतन्त्रता का स्वप्न देखता है जो प्राकृतिक आवश्यकता से शून्य हो ...... परन्तु यह आवश्यकता अवियोज्य है अथवा यो कहिये कि यह आवश्यकता स्वतन्त्रता का सहकारी अंग है। और उस सहकारी अंग के बिना, स्वतन्त्रता विचार मे, लाई ही नही जा सकती अथवा इसी प्रकार से असंभव है जैसे कोई विना भूमि के चलना या विना हवा के उड़ना चाहे[2]।"

हौजसन ने फिर एक जगह लिखा है कि वह वस्तु, जिसके साथ सर्वसाधारण की दिलचस्पी हो, इच्छास्वातंत्र्य ही है। स्वतंत्रता शब्द से, चाहे वह इच्छा की स्वतंत्रता हो अथवा अन्य किसी वस्तु की, उसका अभिप्राय, अधिकतर बलात्काररहित स्वतंत्रता ही समझा जाता है। सर्वसाधारण एक साथ ही दोनों प्रकार के विचार रखते हैं:—(१) इच्छास्वातंत्र्य या बंधनरहित होना (२) आवश्यकता (परतंत्रता) या कर्मों की एकरूपता। वह (हौजसन) इनमें किसी प्रकार का विरोध अनुभव नहीं करता[3]। अतः स्पष्ट है कि इच्छास्वातंत्र्य के संबंध

(१) Mind by O. S Shadworth Hodgson Vol. III p. 111.

(२) Mind by Shadworth Hodgson Vol. V, p. 252.

(३) Ethical Principles by James Seth p. 376.

में जो वादविवाद है, वह स्वयं दार्शनिकों के मध्य में है और इस विवाद का मूल, आवश्यकताशब्द की संदिग्धार्थता है और यह विवाद इसलिये और भी बढ़ गया कि वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों में, इस शब्द के अलंकारिक अर्थों का समावेश होगया। असल मे इस शब्द का अर्थ, चाहे वह मनुष्य के कर्तृत्व से संबंधित हो या प्राकृतिक विकास से, केवल समता है। आवश्यकता नियम (Law of Necessity) एक कर्त्ता या किसी सत्ता के रूप मे काम नही दे सकते थे तो भी चाहे प्राकृतिक घटना हो या मनुष्यों का कर्तृत्व, दोनों में उन्हें कर्त्ता के प्रतिनिधि होने का रूप दिया गया है अर्थात् असली कर्तृत्व इन्ही के हाथ में था। परन्तु वर्तमान परतन्त्रतावाद इन पुराने ढांचे के आवश्यकतावादियों के मार्ग का अनुसरण नही करता किन्तु वैज्ञानिकों के सरल वैज्ञानिक मार्ग का पथिक बना हुआ है[1]। ह्यूम ने सदैव के लिये, प्राकृतिक आवश्यकतावाद के विचारों को, जो अलौकिकता और शक्तिविशेषों से संबंधित थे, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के लिये छोड़ दिया है इसलिये स्पष्ट है कि जब हम, आवश्यकता नियम को, केवल समता समझते हैं तो सारा विवाद शांत हो जाता है और यह समतावाद, इच्छास्वातंत्र्य के पूर्णतया अनुकूल है। परन्तु फिर भी मामला इस प्रकार खत्म नही हो सकता क्योंकि बलात्कारशून्य इच्छास्वातंत्र्य केवल एक बात है किन्तु इच्छास्वातंत्र्य के पूरे विचार का इसमे समावेश नही होता। यदि हम मनुष्य को उसी अर्थ में स्वतंत्र कहें जिसमें प्रकृति स्वतंत्र है तो इससे काम नही चल सकता क्योंकि हम अभी प्रकट कर चुके हैं कि आवश्यकता का, प्राकृतिक घटनाओं से भी, शक्तिसाम्य नही है,

(१) Ethical Principles by James Seth p. 377.

प्राकृतिक नियम, संसार में काम करने वाली वस्तुओं की चाल ढाल मे सामंजस्यमात्र रखते हैं। इसलिये प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है कि किस प्रकार मनुष्य के कर्त्तृत्व को, उस कर्त्तृत्व से, पृथक् किया जावे, जो केवल प्राकृतिक नियमों के वशीभूत होकर काम में आया करता है जिससे कर्मों के आचारिक दृष्टि से निर्णीत होने में बाधा न पहुंचे? केवल समता, बलात्कार से कम न होगी और उसे स्वतंत्रता का अभाव ही कह सकते हैं[1]। फिर भी आवश्यकतावाद को समतावाद में परिवर्तित कर देने से, इच्छास्वातंत्र्य की समस्या हल करने में, वह एक उपयोगी साधन हो जाता है। एक संकुचित अर्थ में, समतावाद में परिवर्तित आवश्यकतावाद को, इच्छास्वातंत्र्यवाद का, सहयोगी अंश कह सकते हैं। जैसा कि लोज़े ने कहा है कि स्वतन्त्रता को, वही वस्तु समझ लिया जावे जैसा कि उसे समझा जाना चाहिये तो मान लेना पड़ेगा कि वह कारणवाद का अत्यंत व्यापक रूप है[2]। इस पर जैम्स सेठ कहता है कि यदि इस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की रक्षा करना इष्ट हो तो कारणिक समतावाद में, इच्छास्वातन्त्र्यवाद का, समष्टिरूप से समावेश नही होना चाहिये, किन्तु उसमे आचाराभिमानी जीव का समावेश होना चाहिये। समता या यांत्रिकवाद, मनुष्य जीवन मे कारण या कर्मसाधन हो सकते हैं परन्तु उस जीवन का सब से ऊंचा भाग, इच्छास्वातंत्र्य ही होगा।

जैम्स सेठ ने इच्छास्वातंत्र्य के लक्षण इस प्रकार किये हैं:—

---

(१) Ethical Principles by James Seth p. 377 and 378

(२) Do p. 378

आचारिक स्वतंत्रता का लक्षण और उसकी सीमा

स्वतंत्रता का अर्थ आत्मनियतिवाद करना, अनियतिवाद की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें समता का निषेध-परक भाव लाने की अपेक्षा, समता का उसमें पहले से समावेश है, ऐसे विचार का रखना, उत्तम है[1]।

प्रत्येक मनुष्य की आंतरिक प्रकृति और वाह्य परिस्थिति में कुछ रेखायें खिची हुई होती हैं, जिनके अनुकूल ही उसका चरित्र बना करता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये सब कुछ होना संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक का आचारिक क्षेत्र पृथक् होता है और यह प्रत्येक के लिये निश्चित होता है और यही उसके जीवन में, प्राप्त हुई वस्तु है और इस निश्चय के बनाने वाले दो साधन होते हैं:—

आंतरिक साधन

(१) आंतरिक (२) वाह्य। आंतरिक साधन ये हैं:—(१) प्रकृति (२) शील (३) स्वभाव (शारीरिक और मानसिक) ये ही वस्तुयें हैं जो मनुष्य के आचारिक जीवन की, प्रारंभिक सजावट किया करती हैं।

वाह्यसाधन

वाह्यसाधन ये हैं:—(१) वाह्यस्थिति-बल (२) उसके जीवन के स्थान और अवसर (शारीरिक और सामाजिक) जिन्हें परिस्थिति भी कहते हैं।

जहांतक निश्चय का संबंध है और जहांतक मनुष्य के कर्तृत्वक्षेत्र का संबंध है प्रत्येक मनुष्य के लिये वह नियत है, फिर भी इच्छास्वातंत्र्य के लिये जगह है। आचारसम्बन्धी

(१) Ethical Principles by James Seth p 378

कार्य्यों की विशेपता और स्वरूप, प्रत्येक मनुष्य के लिये, भिन्न भिन्न हो सकते हैं और प्रत्येक के लिये निश्चित भी हो सकते हैं परन्तु फिर भी आचारसम्बन्धी विकल्प का मार्ग, क्षेत्र के भीतर रहते हुए भी, प्रत्येक के लिये खुला रहता है। मनुष्यत्व के निर्माण के लिये, उसके अच्छे या बुरे होने की सम्भावना पर्याप्त है। इसकी ज़रूरत नहीं कि उसके लिये अच्छे या बुरे-पन का कोई विशेष स्वरूप नियत हो। अच्छे या बुरेपन का कोई भी स्वरूप ग्रहण किया जा सकता है। जो कोई भी स्वरूप ग्रहण किया जायगा, वही किसी व्यक्ति के लिये निश्चित समझा जावेगा परन्तु यह निश्चय उस व्यक्ति का किया हुआ न होगा परन्तु विकल्पों में से, किसी एक के पसन्द करने की इच्छा, सभी सूरतों में एक ही होगी और वह इच्छा भले और बुरे में से, किसी एक के पसन्द के लिये ही होगी और इस इच्छा का व्यक्तियो के आधीन होना ही आवश्यक है।

अतः प्रकृति और वाह्य परिस्थिति कच्चे माल हैं, जिनसे मनुष्य अपना चरित्र वनाया करता है। ये कच्चे माल (द्रव्य) तो हैं परन्तु है आकारद द्रव्य, जिनसे संगतराश की तरह, वह जैसी चाहता है, अपने विचारानुकूल, मूर्त्ति बना लिया करता है, मनुष्य भी अपनी इच्छानुसार अपना चरित्र बना लिया करता है।

संसार मे प्रत्येक व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा भिन्नता रखता है। यही कारण है जिससे सदाचार के आदर्श में भी प्रत्येक व्यक्ति के भिन्नता होती है। एक व्यक्ति का सदाचार उस के भाई तक से नहीं मिलता। आचार के विवरण में इतना अन्तर होते हुए भी मूलकार्य की

सदाचारिक सीमानिरूपण ही मुख्यतया व्यक्तित्व का बोधक है।

बाह्य रेखा सब के लिये एक जैसी रहती है। मूलकार्य, प्रकार की दृष्टि से, सार्वलौकिक है। यद्यपि उसे अवयवों के एक विशेष प्रकाश में देखा जाता है परन्तु उसकी सार्वलौकिकता का ह्रास किये बिना भी उसे प्रत्येक अवयव में देख सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपना एक आदर्श रखता है कि उसे ऐसा होना चाहिये और विस्तृत अर्थों में भलाई और बुराई के मध्य उसी के पसंद करने की उसकी इच्छा होती है। इसलिये प्रत्येक के लिये, मूलरूपेण, एक ही (वही) कार्य्य होता है।

अंत:प्रकृति और बाह्य स्थिति से काम लेने से अवसर आने पर मनुष्य का चरित्र बन जाया करता है क्योंकि चरित्र, मूर्त्ति की तरह बनाई हुई वस्तु होती है और इसीलिये उसके बनाने के लिये भी मूर्त्ति के सदृश, कुछेक द्रव्य अपेक्षित होते हैं। चरित्र किस प्रकार अच्छा या बुरा बना करता है, इसका कारण उपलब्ध अंत:प्रकृति और बाह्य स्थिति हुआ करती है। इस प्रकार चरित्रनिर्माण का उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य ही पर होता है। आकारद द्रव्य से उत्तम स्वर्गीय आदर्शानुसार चरित्र का बना लेना मनुष्य की विशेषता हुआ करती है।

क्या मनुष्य के सदाचारिक जीवन के उपस्थित किये हुए कारण आकारद चरित्र का रूप बनाने वाले नहीं हैं? क्या बहुधा यह नहीं देखा जाता है कि प्रतिकूल कारणों से, आश्चर्य-प्रद सदाचारिक परिणाम निकल आया करते हैं?

जब किसी काम को कठिन और प्रायः असम्भव समझ लिया जाता है तो क्या कभी कभी यह नहीं देखा जाता कि उसी में आशातीत सफलता हुई है? और इसके विपरीत कई बार अच्छे साधनों से क्या काम बिगड़ते नहीं देखा जाता?

इन घटनाओं को लक्ष्य में रखते हुए बहुत सुगमता से यह परिणाम निकल आता है कि सफलता या विफलता केवल साधनों पर निर्भर नहीं है बल्कि उसका असली कारण मनुष्य की बुद्धि और योग्यता होती है जिससे वह साधनों का सदुपयोग और दुरुपयोग किया करता है। मनोवैज्ञानिक न सही आचारनीतिशास्त्रीय कामना ही सही उसमें अवश्य वास्तविक पर्याय पाया जाता है जिससे मनुष्य अच्छे या बुरे दोनों में से एक अपने लिये छांट लिया करता है।

विज्ञान से इस प्रश्न का हल संभव नहीं है क्योंकि विज्ञान की ओर से जो समाधान मानुषी जीवन का उपस्थित किया जाता है यदि वह ठीक मान लिया जावे तो फिर उसमें इच्छास्वातन्त्र्य के लिये गुंजाइश ही नही रहती[1]। शैडवर्थ हौजसन (Shadworth Hodgson) ने एक जगह कहा है कि "यदि इच्छास्वातन्त्र्य सत्य है तब तो वैज्ञानिक वर्गीकरण अपर्याप्त है और यदि वैज्ञानिक वर्गीकरण पर्याप्त है तो इच्छास्वातन्त्र्य भ्रममात्र है[2]।

अध्यात्मविद्या इस प्रश्न के हल करने में समर्थ है

विज्ञान के इस पर्याप्ति या अपर्याप्ति का निर्णय करना दर्शनशास्त्र के अधिकार में है जिसको उचित रीति से विश्वसमालोचक कहा जाता है। दर्शनशास्त्र की रू से, इच्छास्वातन्त्र्य की स्थापना, निपेधक और विधायक दोनों प्रकार की, युक्तियों से हो सकती है। निषेधक युक्ति यह है कि विज्ञान के वर्गीकरण

(१) यहां विज्ञान से उसका वह स्कूल लक्षित है जिसके द्वारा मानुषी जीवन का आधार जड प्रकृति का विलक्षण संमिश्रण कल्पित है।

(२) Ethical Principles p 381

को अयथेष्ट बतलाकर उनका खंडन किया जावे और विधायक तर्क यह है कि इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक और पर्याप्त वर्गीकरणों का विज्ञान में समावेश किया जावे क्योंकि यदि मनुष्य को मनुष्य न समझ कर उसे केवल प्रकृति का बाह्यद्रव्य या आकार ही समझा जावे जैसा कि जड़ाद्वैतवादी वैज्ञानिक कहते हैं या ईश्वर का प्रकाश (अंश) ही समझा जावे जैसा कि चेतनाद्वैतवादी समझते हैं तो फिर वह स्वतन्त्र नही हो सकता इसीलिये विकासवादी चाहे वे अध्यात्मवाद के पोषक हों या यन्त्रकलाज्ञ अपने अपने अनुयायियों को इच्छास्वातन्त्र्य के विरुद्ध ही शिक्षा दिया करते हैं[1]।



---

(१) Ethical Principles p. 381 and 382.

तेईसवां अध्याय

मिल ने इस वाद का जो रूप दिया है उसका स्थान आध्यात्मिक संवेदन विज्ञानवाद और आचारिक परतन्त्रतावाद के मध्य कहा जा सकता है, यह सिद्धान्त असल में ह्यूम ने निकाला था और उस (सिद्धान्त) की तर्कानुरूप-अधीनता, उसके आध्यात्मिक अनुभव के वाद से कम स्पष्ट नहीं। अर्थात् यदि मैं अपनी सज्ञान अवस्थाओं में विलीन हो जाने योग्य हूँ, अर्थात् यदि मैं संवेदनों, इच्छाओं, कामनाओं, प्रेम और चित्त की वृत्तियों का एक पुलिंदा हूँ। और मेरी सत्ता केवल नाम-रूपात्मक है तब तो वह नाम रूप (बाह्य दृश्यमात्र) जो कि "मैं" हूँ, अपने उद्गम स्थान को लौट सकता है, जिस प्रकार अन्य दृश्य अपने उद्गम स्थान में अन्त को लीन हो जाया करते हैं अस्तु, उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया कि इच्छा-स्वातन्त्र्य की सिद्धि अध्यात्म-विद्या ही से हो सकती है। हां ह्यूम ने जो मनोवैज्ञानिक विवरण सदाचारी पुरुष या जीव का दिया है उसमें इच्छास्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है। जीवात्मा क्या है ? यह प्रश्न अध्यात्म विद्या से संबन्धित है, और उसी विद्या के सहारे से उस (जीव) की खोज होनी चाहिये।

मनोवैज्ञानिक परतन्त्रतावाद

एक ओर वैकल्पिक अतीतात्मक या भावप्रधानात्मक विवरण दिया जाता है और वह यह कि जीवात्मा अनुभवों और भावों के संग्रह के तुल्य है। जो कुछ हो, यह साफ़

ज़ाहिर है कि आचारनीति का मुख्य प्रश्न जीवात्मा के ज्ञान, स्वभाव और वृत्ति के मुख्य प्रश्न के तुल्य ही है। इसलिये हमको प्रत्यक्षमूलक और अतीतात्मक इन दो में से एक के किये हुये जीवसंबन्धी समाधान को ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि यह माना जावे कि जीवात्मा की और कोई सत्ता सिवाय उसके बाह्यदृश्य के नहीं है तब तो इच्छास्वातन्त्र्य का विषय समाप्त हो जाता है। जब जीव की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं तो फिर स्वतन्त्रता कहां और किस में ? इसके विपरीत यदि यह मान लिया जावे कि जीव अनुभवों का पुलिंदामात्र नहीं है बल्कि आचारनैतिक अनुभव सिद्ध करते हैं कि जीव के प्रत्येक दरजे पर स्थिर रीति से मौजूद होने के सिद्धान्त का मानना अनिवार्य है, तब इच्छास्वातन्त्र्य का विषय ग्राह्य हो जाता है।

जीवात्मा का केवल अनुभवमूलक होना, उससे अधिक और कुछ न होना आचारनीति में भी, उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार ज्ञानक्षेत्र में उसका ऐसा होना निराद्रित है। आचारनीति के समझ लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वह आत्मा के कर्तृत्व का फल है इसी प्रकार बुद्धिमय जीवन भी इसी का उत्पन्न किया हुआ है। जीवात्मा का कर्तृत्व ही समस्त कार्य्यप्रणालियों का केन्द्र है। यही बात है जिससे जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ता है। न तो आचारनीतिवान् और न बुद्धिमान् पुरुष ही किसी व्यक्ति के अनुभव के अंगमात्र माने या समझे जा सकते हैं। यदि परतन्त्रतावाद को स्थापित करना है तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक कार्य का कर्त्ता नाम

जीवात्मा के अतीतात्मक समाधान का विचार

रूपमात्र है परन्तु कर्त्तृत्व के स्रोत (जीव) को नामरूपमात्र नहीं कहा जा सकता।

परतन्त्रतावाद से कर्म के सूक्ष्म पहलू (अंग) प्रकट होते अथवा कर्म का व्यवच्छेद होता तो है परन्तु वह विश्लेषण इस प्रकार का होता है कि स्वयं कर्माभिमानी जीव भी उन्हीं विश्लेषित जड़ तत्वों में विलीन हो जाता है और आचारनैतिक जीवन के संस्थापक और सांयोगिक मूलतत्व (जीव) का चिह्न भी बाकी नहीं रह जाता। परन्तु जब हम निदिध्यासन अथवा अन्तर्दृष्टि से देखते हैं तो साफ़ दिखाई देने लगता है कि जीवात्मा ही आचारनीतिवान् व्यक्ति और वही कर्म का स्रोत है। प्रयोजन, परिस्थिति, स्वभाव और चरित्र जो परतन्त्रतावादियों के समष्टिजीवन के अवयव हैं। यदि वे इनके साथ आचारनैतिक जीवन तथा समस्त कर्म के स्रोत जीव की सत्ता को भी स्वीकार कर लेवें तो फिर ये सबके सब जीव के कर्त्तृत्व में समाविष्ट हो जावंगे ? और फिर उसे कर्म करने मे परतन्त्र भी न कह सकेंगे। जीव की हालत ठीक उसी मकड़ी के सदृश होगी जो अपने आप जाला बना कर उसमें इधर उधर घूमती है।

अनुभव क्या है ?

अनुभव शब्द स्वयं अर्थव्यंजक नहीं है उसके व्याख्या की ज़रूरत होती है। प्रत्यक्षमूलक अथवा मनोवैज्ञानिक जीव वस्तुतः तत्त्वात्मक नहीं अपितु नामरूपात्मकमात्र है। ऐसी हालत में उचित रीति से पूछा जा सकता है कि वह कौन सी वस्तु है जो अपने को नामरूप के रूप में प्रकट करती है और उसके इस प्रकार स्वयंभू होने की उपपत्ति क्या है ? इसका अतीतात्मक समाधान स्पष्ट है और वह यह है कि अनुभव

सम्बन्धी समस्त कार्य्यप्रणाली जीव के कर्त्तृत्व की कार्य्यप्रणाली मात्र है।

एक मनोवैज्ञानिक का संवन्ध केवल अनुभव (प्रत्यक्ष) मूलक कार्य्यप्रणाली से है। उसका काम यह है कि पूर्व और उत्तर की घटनाओं में कारण कार्य्य का संवन्ध स्थापित करे। परन्तु यदि बुद्धि के निर्देश से यह दिखाया जा सकता है कि अपरोक्षानुभूत विवरणों के समन्वय में ज्ञान का पूर्व से चिंतन कर लेना जीव का निरन्तर कर्त्तृत्व है और यह कि विना आत्मा के एकत्व के, नियमबद्धता के साथ, क्रमपूर्वक अनुभव का निर्माण असंभव है तो यह भी कम स्पष्ट नहीं है कि विना एक सविवेक मुख्यात्मा के इसी प्रकार के सांयोगिक कर्त्तृत्व के आचारनैतिक अनुभव का भी एकत्व असंभव है[1]।

---

(१) ग्रीन ने भी मानसिक और आचारनैतिक कर्त्तृत्व के मध्य इसी प्रकार की समता दिखलाई है (देखो Prolegomena to Ethics by Green Book II) और प्रो० लौरी (Laurie) ने अपने ग्रन्थ Companion Volumes, Metaphysica and Ethica में ग्रीन के मत का समर्थन किया है।

चौबीसवां अध्याय

जीवात्मा अपने बौद्धिक और आचारनैतिक अनुभवों का जाला पूरा करता है। अपनी आवश्यकताओं, प्रोत्साहनों और अपने ग्रहणशक्ति के प्रकोपों से जीवात्मा, अपने कर्त्तृत्व के आधार पर, जो कार्य्यसिद्धि के लिये किये जाते हैं, अपने कर्त्तृत्व के उद्देश्य और परिणाम नियत किया करता है इस प्रकार उद्देश्यों के नियत करने का समस्त कार्य्य, जीवात्मा अपनी सत्ता और सामर्थ्य के भीतर किया करता है। जीवात्मा के सम्बन्ध में, मनोवैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्षमूलक दृष्टि ही को मानने के लिये चल देना कि आचारनैतिक जीवन के संबंध में वैज्ञानिक निरूपण ही अंतिम और पूर्णतापूर्ण निरूपण है, अनिपुणता का ग्रहण करना है, विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि एक दूसरा दृष्टिकोण मौजूद है जो निपुणतापूर्ण और पहले वाद की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। कहा जाता है कि अनुभव-मूलक या नामरूपात्मक जीव अनुकूल और प्रतिकूल प्रवृत्तियों और प्रवर्तक शक्तियो का बंडलमात्र है जिसके नाम और रूप (बाह्यदृश्य) का नाम ही जीवन है परन्तु जब हम पूछते हैं कि प्रवर्तक शक्ति क्या हैं? तो इसका उत्तर मिलता है कि प्रवर्तक शक्ति जीव ही है, जीव से भिन्न कुछ नहीं। "यह वस्तु मेरी है" "मैंने इसको बनाया"। इन वाक्यों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि "मैं" प्रवृत्तियों का न विषय ही हूँ न उनका स्थिर कोष किन्तु मैं इन समस्त कार्य्यप्रणालियों का क्षेत्र हूं और ये सब काम मेरे भीतर ही हुआ करते हैं।

जीवात्मा

मनुष्यजीवन, जो असल मे व्यक्तिगत (Personal) है, मनोविज्ञान की दृष्टि में एक अकर्तृक (Impersonal) विचार प्रवाह अथवा चेतना का नामरूपात्मक क्रम है।

अध्यात्मविद्या मनोविज्ञान के इस विभिन्नत्व को दूर करेगी जैसा कि विज्ञान का विभिन्नत्व उससे दूर हुआ है। आचार नैतिक जीवन की आलोचना उसे (अध्यात्मविद्या को) उपर्युक्त जीवन के व्यक्तिगत केन्द्र और आत्मत्व के दृष्टिकोण से, जो एक मूलतत्त्व होने के कारण नामरूप के बंधन में नहीं आ सकता, करनी चाहिये क्योंकि विना उस जीव के निरन्तर कर्तृत्व के बाह्य कार्य्यप्रणाली का प्रारंभ भी नहीं हो सकता। और न होकर जारी रह सकता है। मनोविज्ञान उस मूलतत्व (जीवात्मा) का न तो विवरण ही दे सकता है और न उसकी व्याख्या ही कर सकता है क्योंकि प्रत्येक मनोवैज्ञानिक व्याख्या में उस (जीव) की पहले ही से कल्पना करली जाती है।

इस सबका सार यह है कि आचार नैतिक दृष्टि से जीव व्यक्तित्व रखता है। जीव के व्यक्तिगत चारित्र ही से आचार-नैतिक महत्व प्रकट हो सकते हैं। अकर्तृक चरित्र कोई सत्ता-मय वस्तु ही नहीं है। यह मूलतत्व (जीव) उस व्रत का केन्द्र है जिसकी परिधि का मनोविज्ञान ने सावधानता और परिश्रम से वर्णन किया है।

प्रचलित मनोविज्ञान से पहले, मनोविज्ञान की प्रवृत्ति यह है कि जीव को न माना जावे, उसकी ओर से कहा यह जाता है कि शारीरिक जगत् के सिवा, मानसिक संसार मे, हमको किसी मूलतत्त्व के होने की पेशीनगोई नहीं करनी चाहिये।

जीव के अतीतात्मक समाधान मे कुछ कठिनतायें

उसकी दृष्टि में अतीतात्मक कोई वस्तु असली (सत्य) नहीं है। नामरूपात्मक या अनुभवमूलक वस्तु ही सत्य हो सकती है, उसी को जान कर उसे श्रेणीवद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार जिसको हम जानते हैं या जिसका हम वर्गीकरण कर सकते हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि में, वह जीव नहीं है अपितु उसे केवल "मानसिक आलोक" या "मनोवैज्ञानिक अहम्" कहा जा सकता है। इसी वाद को डाक्टर वार्ड (Ward) ने व्यंजक दृश्यवाद का नाम दिया है।

जिस प्रकार शारीरिक घटनाये घटित होती हैं उसी प्रकार मानसिक भी और प्रत्येक अवस्था में हमको पूर्व और उत्तरघटित घटनाओं के मध्य सम्बन्ध की खोज करनी चाहिये। यह खोज एक क्रम के भीतर भी हो सकती है और बाहर भी। बाहर इस प्रकार कि यह देखना कि एक क्रम का दूसरे क्रम से क्या सम्बन्ध है। मनोविज्ञान प्रकृतिविज्ञान ही है इसलिये उसका क्षेत्र नामरूपात्मक जगत् ही होना चाहिये। उसकी सफलता इसी प्रकार हो सकती है कि जीवसम्बन्धी सभी कल्पनाओं को छोड़ कर दृश्य जगत् का विवरण देवे, परन्तु प्रतीत यह होता है कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान ने अध्यात्मविद्यासंबंधी जीवात्मा के विवरण देने का काम भी अपने ज़िम्मे ले रक्खा है।

आत्मा की कल्पना के विरुद्ध आक्षेप

यह कहा जाता है कि हम आत्मा के शुद्ध रूप को नहीं जान सकते, क्योंकि वह कभी हमारी चेतना के अन्तर्गतार्थ का कोई अंश नहीं बनता। जो कुछ जाना जा सकता है वह चेतनामात्र है।

चित्तवृत्ति, नामरूप, अनुभवमूलक विकृति, अचिरस्थायी जीव या "मैं" कुछ ही क्यों न हो, जो नामरूपात्मक जगत् का भाग नही बन सकता, नही जाना जा सकता। शुद्ध आत्मा या अतीतात्मक जीव, जो समस्त नामरूप का निमित्त है, इन्द्रियातीत है। अवश्य यह नये मनोविज्ञान का नया आविष्कार नही किंतु पुराना प्रसिद्ध सिद्धान्त है और प्रोटोगोरस (Protogoras) के समय से चला आरहा है और इसी को संवेदनवाद भी कहते हैं। लाक के अनुयायियों ने भी निश्चय किया था कि भावना या संवेदन ही निश्चित सत्य है। वर्क्ले (Berkeley) ने ह्यूम की अपेक्षा कम स्पष्टता से निश्चय किया था कि हम कदापि आत्मा को नही जान सकते। हमारा ज्ञान भावनाओं तक ही सीमित है। हमें आत्मा का, जिसे समस्त भावनाओं का कर्त्ता कहते हैं, कुछ भी ज्ञान, भावना या संवेदनरूप मे, नहीं है। परन्तु ह्यूम कहता है कि मैंने कभी अपने को विना अनुभव किये नही देखा। परन्तु जब मनोविज्ञान ने, प्रकृतिविज्ञान के रूप में होकर, ऐसे आत्मा के स्वीकार करने से इन्कार किया है जो अदृश्य और इन्द्रियातीत है तो वह इस इन्कार करने में पुराने प्रत्यक्षवादियों ही का अनुकरण कर रहा है। वैज्ञानिकों की ओर से फिर कहा जाता है कि हम विना अतीतात्मक आत्मा या "मैं" का विचार किये अनुभवमूलक आत्मा या मनोवैज्ञानिक "मैं" को स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि "मैं" आत्मार्थव्यंजक है और उसके सिवा किसी अन्य "मैं" की ज़रूरत नहीं है। इसके संबंध में वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान की उन्नति के साथ यह वाद भी, जिसे सत्याभास ही कह सकते हैं, उन्नति कर रहा है। यह वाद प्रकट करता है कि अंतःकरणों की माला संवेदनों की कठोर जंज़ीर नहीं अपितु

एक धारा है। वैयक्तिक अन्तःकरण, एक पृथक् वस्तु, पूर्ण और पर्याप्त नहीं है। उसे अपनी यथार्थता समझने के लिये अपने से ऊपर देखना पड़ता है। उसका चरित्र, चाहे वह गुण से सम्बंधित हो या मात्रा से, अन्तःकरणों की माला या चेतना के क्षेत्र में उसका जो स्थान है, उसके सम्बन्ध से निश्चय हुआ करता है।

मानसिक जीवन, जैसा कि अनुभव से प्रकट होता है, न भिन्न है और न परमाणुनिमित्त, न पृथक् रहने वाले संवेदनों अथवा सहज विचारों का संग्रह है बल्कि प्रकार की दृष्टि से प्रवाहरूप है। इस प्रकार से संकलन का प्रश्न, बिना किसी अतीतात्मक जीव का आश्रय लिये, चेतना के प्रकृतिमूलक होने के वाद को छोड़ देने और विचारधारा के स्वीकार कर लेने से, बहुत दरजे तक हल हो जाता है। प्रचलित मनोविज्ञान, इसके सिवा, अन्तर्बोध का अधिक पर्याप्त वैज्ञानिक या क्रमानुगत सहचार नियम उपस्थित करता है। केवल सहज सहचार की अपेक्षा यह नियम मानसिक जीवन के विभागों में अधिक दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करता है, अन्तर्बोध एक कार्य्यप्रणाली है जिससे कोई भी मानसिक प्रकार एक नये तत्व को संयुक्त करता है या संयोग करने के लिये प्रवृत्त होता है। इसी कार्य्य-प्रणाली को मानसिक ग्रहण परिक्रिया, भावुकता, इच्छा तथा तर्कपूर्ण कार्य्यप्रणाली कहते हैं जिससे केवल यही नहीं होता कि नया पुराने में मिल जाता हो अपितु प्रत्येक का प्रत्येक के साथ इस प्रकार समन्वय हो जाता है जिससे नया पुराना और पुराना नया हो जाया करता है। इस प्रकार मानसिक जीवन की एकता और निरन्तरता खोल कर प्रकट करदी गई जो नामरूप तथा अन्तर्गतार्थ के अक्षय परिवर्तनों से भी मुताबिक़त रखती

है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मनोविज्ञान ने वे हेतु वतला दिये जिनके आधार से अतीतात्मक जीव की ज़रूरत वाकी न रहे वलिक इसके विरुद्ध यदि उपर्युक्त (मनोवैज्ञानिक) वाद को ठीक तरह से समझ लिया जावे तो मनोविज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा कि उसको अपने विषय अनुभवात्मक (प्रत्यक्ष) जीव का विवरण देने के लिये अतीतात्मक जीव की ज़रूरत है। विना "मैं" के स्वीकार किये "मेरा" नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक एकत्व की असली वुनियाद क्या है ? प्रत्येक मानसिक दृश्य क्या है ? उत्तर में इतना तो निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि यह (मनोवैज्ञानिक एकत्व) संवेदनरहित शुद्ध अहम् या जीव नहीं है, इसके साथ इतना और भी कहा जा सकता है कि यह केवल संवेदन या संवेदनसंघात भी विना जीव या मन के नहीं हो सकता।

हम संवेदन से जीव या जीव को संवेदन से पृथक् नहीं कर सकते इसलिये दोनों मे से एक भी दूसरे की अपेक्षा अतथ्य नहीं है।

प्रो० जेम्स के शब्दों में कहा जा सकता है कि "विना विचारक के विचारप्रवाह असंभव है, विना विचार के विचारक के होने की तो संभावना भी हो सकती है।" यदि ह्यूम के शब्दों में कहो कि वारवार एक के वाद दूसरे अनुभव की शृङ्खला का नाम ही मन है तो उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभव के प्राप्त करने में मन तो पहले ही से मौजूद होता है। मौलिक और प्रारंभिक वैज्ञानिक तथ्य केवल चेतना नहीं किन्तु ज्ञानी आत्मा है। अर्थात् चेतना की विशेष

अवस्था से मिश्रित मन चेतनाविषयाश्रित (जीव) नहीं बन सकता। मनोविज्ञान बिना जीव के सत्याभासमात्र है।

जब हम मनोवैज्ञानिक दृश्य पर दृष्टि डालते हैं तो प्रकट होता है कि हम चेतनावस्था का वर्णन करते हैं, परन्तु अवस्था जड़ है, उसे अपना ज्ञान नहीं, वह मेरी चेतना की अवस्था है। यदि इसमें से "मेरी" शब्द निकाल दिया जावे तब उसकी कोई सत्ता बाक़ी नहीं रहती। इस "अवस्था" का किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से पृथक् प्रकट करना उसका नष्ट कर देना है। जब हम किसी मानसिक दृश्य का जिक्र करते हैं और उसको घटाकर उसके मूल तक पहुंचा देते हैं तो यह प्रकट होता है कि वह दृश्य किसी भी मस्तिष्क पर प्रकट नहीं होता और न वह किसी भी आत्मा तक पहुंचता है। अतः स्पष्ट है कि अध्यात्मविद्या का मतालिबा, कि चेतना के लिये विषय और विषयी दोनों के होने की ज़रूरत अनिवार्य्य है[1]।

जे० वार्ड ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक (आत्मस्थानी) तथ्य सत्य है। यदि उसे सत्य न माने तो मानना पड़ेगा कि वह प्राकृतिक है और अन्त में प्रकृति ही में लीन हो जावेगा और फिर उसके लिये यही कहना पड़ेगा कि नामरूप है तो सही परन्तु दिखाई किसी को नहीं देता, बल्कि ऐसी वस्तु है जिसकी सत्ता अभाव से परे कुछ नहीं अथवा वह एक ऐसा अन्तःकरण है, जिसका अन्तःकरणत्व कभी प्रकट नहीं हुआ[2]।

जे० वार्ड

---

(१) A Study of Ethical Principles by James Seth p 390

(२) Modern Philosophy by J Ward Vol II p. 54

जेम्स वार्ड के उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर जेम्स सेठ ने यह परिणाम निकाला है कि मानसिक जीवन को अकर्तृक या वाह्य दृश्यमात्र समझना अपनी वात का आप ही खंडन करने के सदृश है[1]।

मनोवैज्ञानिकों का, आत्मसत्ता को स्वीकार करने से, इन्कार वैसा ही है जैसे नामरूपवादियों का ईश्वर की सत्ता का न मानना। दोनों के इन्कार का आधार एक ही है कि वे आत्मा को, मिस्ल ईश्वर के, कुछ करता हुआ नहीं देखते। जेम्स सेठ की सम्मति में दोनों वातों का उत्तर एक ही है और वह यह कि आत्मा अध्यात्म जगत् में, जैसे ईश्वर वाह्य जगत् मे, सव वातों का कर्त्ताधर्त्ता होता है यदि माना जाय कि आत्मा कुछ नही करता और यह कि वह किसी अंतःकरण में मौजूद नहीं है तो वह उन (अंतःकरणों या अंतःकरण-गत विचारों) का योग भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक शून्यो से कोई संख्या नहीं वन सकती[2]। परन्तु आत्मा साक्षी होने, संवंध जोड़ने, अथवा अंतःकरणों के कर्तृत्व की अपेक्षा अधिक कर्तृत्व-शील है। वह (आत्मा) इन्द्रियों के कार्यों की एक दूसरे से तुलना करता और उन पर टीका टिप्पणी करता है, इसीलिये अफलातून ने उसे संवेदनों का समालोचक कहा था। क्या हम (जड़) अन्तःकरणों से, उनके भीतर से इस प्रकार की समालोचक (चेतन) शक्ति के निकल आने की आशा कर सकते हैं? फिर यह वाद कि "सव कुछ संवेदन ही है" किस प्रकार ठहर सकता है? क्या इन संवेदनों को मिलाने या इनमे संवंध

---

(१) Ethical Principles p 390 and 391.

(२) Do p 391.

जोड़ने के लिये किसी आत्मा की ज़रूरत नहीं है ? किस प्रकार यह संभव है कि कोई विशेष संवेदन, पूर्णतया, नये प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है और नाप तोल में इन संवेदनों का मूल्य रखता हो[१] ?

कर्त्तृत्व का विचार और अनुभव सदैव आन्तरिक कार्य्य होते हैं जब कि संवेदन (इन्द्रियवृत्ति) बाह्य कार्य्य, इसलिये आत्मा में दोनो प्रकार की शक्ति का होना, जिससे भीतर और बाहर दोनों ओर काम हो सके, आवश्यक है[२] ।

अतीतवाद की कठिनतायें

यह कठिनता कान्ट और हेगल के दो विभिन्न प्रकार के उपस्थित किये हुये वादों से उत्पन्न होती है:—

कान्ट ने वस्तुतत्त्व और नामरूप (बाह्य दृश्य-इन्द्रियज्ञान) के भेद की स्थिरता की पुष्टि करते हुये प्रकट किया है कि

कान्ट और इच्छास्वातंत्र्य

असली आत्मा, जिसके लिये इच्छा-स्वातंत्र्य माना जा सकती है, वह है जो अनुभव किया करता है परन्तु जेम्स सेठ इसे अवास्तविक और नाममात्र की स्वतंत्रता कहता है।

हेगल और इच्छा-स्वातंत्र्य

हेगल, दूसरी ओर, जीव को, ब्रह्म बतलाते हुये, एक नये प्रकार का परतंत्रतावाद उपस्थित करता है[३] ।

कान्ट ने यह देखकर कि परतंत्रतावाद से और किसी

(१) Ethical Principles by James Seth p 393.

(२) Do p. 394

(३) Do p 394 and 395.

प्रकार छुटकारा नहीं मिल सकता सिवाय इसके कि आचारवान् जीव को अनुभववाद या मनोविज्ञान के क्षेत्र से पृथक् रक्खा जावे क्योंकि अनुभववाद के क्षेत्र में परतंत्रता और विवशता का साम्राज्य है और कान्ट ने यहां क्या, प्रायः सभी जगह मानवीज्ञान की यथार्थता को झुठलाकर आचार की यथार्थता को सुरक्षित रक्खा है क्योंकि मनुष्य को ज्ञान तो केवल नामरूप का होता है, वस्तुतत्त्व का नहीं, और केवल इतने ज्ञान से स्वतंत्रता का प्रश्न हल नहीं हो सकता। कान्ट के मतानुसार जीवन अनेक आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह स्वतंत्रता-रहित है और कृत्य (व्यवसायात्मिका = Practical Reason) बुद्धि उस स्वतंत्रता का चिन्तन करने के लिये हमें बाधित करती है जिसे आन्तरिक बुद्धि कदापि नहीं जान सकती।

आचारशास्त्र का "तू होगा" (Thou shalt) कार्य्य-कारणवाद का सचाई से कम दरजा नहीं रखता और गहरे तर्क का फल है और अपने कर्त्ता में उपलक्षित है कि तू कर सकता है (Thou canst) इसलिये यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक या अनुभवमूलक जीवन के विवरण को झुठलाये बिना, जो विज्ञान के नामरूपात्मक दृष्टिकोण के आधार से दिया जाता है, यह दूसरा आचारमूलक जीवन का विवरण भी दिया जावे। यह विवरण, आचार के आंतरिक दृष्टिकोण से, कम प्रतिष्ठित न होगा।

आचारनीतिज्ञ होने के कारण, मनुष्य, प्राकृतिक नियमों और इन्द्रियों के विषयों की परतंत्रता से दूर रहता है और

बुद्धिवादी होने से, तर्क के शासनाधिकार मे रहता है और स्वतन्त्र होता है।

मनुष्य का आचारसंबंधी मुख्य काम यह है कि अपने को इन्द्रियाराम होने के स्थान में जीवन को बंधन से मुक्त करे और साथ ही उस स्वतन्त्रता को भी प्राप्त करे जिसके प्राप्त करने का अधिकार उसे, शुद्धबुद्धि के साम्राज्य का एक अंग होने से, प्राप्त है। इस प्रकार से कान्ट का कहना है कि विचारस्वातन्त्र्य, जो काल्पनिक रीतिसे, नियामक और आदर्श है, क्रियात्मकरूप से संस्थापक और सत्य है।



पच्चीसवां अध्याय

फ़ौली ने एक जगह लिखा है कि मैं अपने मानसिक सत्ता से स्वतन्त्र परन्तु अनुभवमूलक या नामरूपात्मक सत्ता से परतन्त्र और प्राकृतिक नियमों के बंधन मे हूं[1]।

एम० फ़ौली

फ़ौली और कान्ट

फ़ौली का यह विचार उससे कहीं अच्छा मालूम होता है जैसी कि कान्ट की स्थिति है कि एक कैदी को कहा जाय कि जेल से बाहर स्वतन्त्रता है और इसलिये उसे कल्पना करनी चाहिये कि वह जेल से बाहर है और इसलिये स्वतन्त्र है। हम इच्छा, इन्द्रियविषय और प्रवृत्तिहेतुशक्ति के वन्दीगृह में हैं और क़ैदी का सा ही जीवन व्यतीत करते हैं। हमको इस कहने से क्या लाभ कि स्वतन्त्रता है जब कि हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते और जब तक मनुष्य हैं उस (जेल) से मुक्त भी नहीं हो सकते। हमारा मनुष्यत्व ही हमारा जेलख़ाना है। इस पर यह कहा जा सकता है कि कान्ट ने जिस स्वतन्त्रता का विधान किया है वही अन्त को सच्ची स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता यद्यपि इस समय वास्तविक न भी हो तब भी आदर्श या अन्तिम मंज़िल के रूप मे तो है जिसके समीप एक सदाचारी पुरुष नित्यप्रति होता रहता है, परन्तु यदि उस स्वतन्त्रता को आदर्श भी माना जावे तो भी वह इकतरफ़ा (अधूरा) आदर्श

---

(१) L. Evolution Ensme des Idees Force by Mr Fouillee Introduction p. 76 (English Translation)

होगा क्योंकि कर्तव्यनिष्ठा का जीवन, जिससे वह स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, जीवन का एक ही अंग तो है क्योंकि कान्ट के कथनानुसार मनुष्य उसी समय तक स्वतन्त्र है जब तक वह बुद्धिपूर्वक इन्द्रियाराम हुए बिना कर्म करता है परन्तु जब वह प्रवृत्ति या आवेश के वशीभूत होकर काम करता है तब वह बुद्धि का काम नहीं कहा जा सकता और उस अवस्था मे मनुष्य स्वतन्त्र भी नहीं हो सकता। केवल नेकी स्वतन्त्रता का फल है बदी परतन्त्रता का प्रस्तुत किया हुआ काम होता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जावे तो वह स्वतंत्रता कैसी? स्वतंत्रता का अर्थ तो यह है कि मनुष्य बदी के पसन्द करने में भी उतना ही स्वतंत्र हो जितना नेकी के, तभी उत्तरदायित्व का भाव मनुष्य में पैदा हो सकता है।

यदि स्वतन्त्रता का कोई आचारनतिक मूल्य है तो वह इच्छित कर्त्तृत्व के संगृहीत जीवन में अनुभूत होना चाहिये। उसे प्राकृतिक नियमो के व्यक्त परतंत्रता में भी अनुभूत होना चाहिये ऐसा होने से स्वतंत्रता के यांत्रिक व्यापार मे परिणत हो जाता है। मनुष्य के इस वास्तविक जीवन से भिन्न कोई ऐसा जीवन, जिसमे इच्छाओं का समावेश न हो, केवल बुद्धि के अनुकूल उसकी गति हो, उसे, जहां तक हम अनुमान कर सकते हैं, केवल कल्पित ही कह सकते हैं, स्वतंत्रता को प्राकृतिक नियमों के यांत्रिक व्यापार और मनोवृत्ति तथा आवेग के क्षेत्र से पृथक् करके और उसके लिये शुद्ध बुद्धि का सर्वथा पृथक् एक क्षेत्र तैयार करके कान्ट ने स्वतन्त्रता को केवल एक बौद्ध पदार्थ बना दिया है जिसके लिये कहा जा सकता है कि वह आचारनैतिक जीवन का प्राणरहित ढांचा ही ढांचा है।

कान्ट के द्वैतवाद के विरुद्ध, हीगलवाद, वस्तुतत्त्व को, मनुष्य की व्यावहारिक सत्ता में, नाम रूप के अन्तर्गत ही ठहराता है। उसके मतानुसार प्रत्येक अवस्था मे नित्य सत्य संयुक्तिक है और अन्य समस्त वस्तु, प्राकृतिक नियमों की अधीनता में पीछे से उत्पन्न होती हैं। आत्मा के संबंध में हीगल का मत है कि वह नित्य सत्य का आभासमात्र है। + + आत्मा केवल एक है और वही दिव्य और विश्वात्मा है।

हीगल और एक नये ढांचे की परतन्त्रता

मनुष्य की चेतना की दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में उसका आभास होता है या यों कहिये कि प्रकृति और मनुष्य दोनों के भीतर उसका प्राकट्य है और वे दोनों ब्रह्म (God) हैं यद्यपि दोनों का प्रादुर्भाव अपने अपने ढग से होता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य, प्राकृतिक नियमो के सदृश ईश्वर ही का एक रूप या अंश है इसलिये उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है पृथक् व्यक्तित्व केवल उसी का है जो मध्यवर्ती दीवार की तरह मनुष्य और ईश्वर को पृथक् करती है।

व्यक्तित्व को हीगल नामरूप ही मानता है। उस नित्य सत्य में व्यक्तित्व नहीं है[१]। यह मत ब्रेडले का है इसपर हीगल कहता है कि तब कहना चाहिये कि जीवात्मा अपनी सत्ता की दृष्टि से नित्य तत्व नहीं है, वह नामरूपमात्र है और यदि हम उसका कुछ और विवरण देते हैं तो वह व्याघातदोषपूर्ण होगा। आचारनैतिक जीवन दो परस्पर विरोधी आदर्शों

(१) Study of Ethics p. 398 (Mr. Bradley's view quoted by Hegel)

से शासित होता है:—(१) आत्मप्रतिज्ञा, (२) आत्म-बलिदान।

हीगल कहता है कि एक व्यक्ति के प्रकृतिरूपी कच्चे माल को इस प्रकार के (आचारनीतिसंबंधी) सर्वोच्च दरजे तक पहुंचा देना और प्रत्येक साधन को, चाहे वह किसी भी तरह से प्राप्त हुआ हो, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये काम मे लाना, निश्चित रीति से नेकी का सच्चा आदर्श है। दूसरी ओर उस परिणाम को, जिसकी प्राप्ति के लिये यत्नवान् होना है, यथा-संभव अधिक से अधिक विस्तृत कर देना और उस विस्तार का, उस व्यक्ति के क्षोभ या दुर्वृत्तता के द्वारा, अनुभव करना नेकी है। व्यक्तिवाद, जिसका उद्देश्य जीव का पृथक् मानना और फिर अपनी ही उन्नति के लिये, एक विस्तृत इष्ट परिणाम का, अपने को आधीन बनाना, ये दोनो आचार, नीतिनियम के दो पहलू हैं, और चाहे इन दोनों मे कितना ही भेद या विरोध क्यों न हो, इनमें से प्रत्येक, आचारनीति के नियमानुसार, नेकी है। निष्कर्ष यह है कि इनमें से कोई एक दूसरे से अच्छा नहीं कहा जा सकता[1]। फिर इन्हीं पर, विचार करते हुये, एक दूसरी जगह, हीगल ने लिखा है कि यह निश्चित है कि इन (दोनों) का विरोध दूर हो जायगा और अन्त में ये दोनों इकट्ठे हो जावेंगे, क्योकि उस नित्य सत्य से बाहर कुछ नहीं है और उसमे अपूर्णता भी नहीं है। उस (नित्य सत्य) मे प्रत्यक परिमित होते हुये भी, यदि चाहे तो पूर्णता प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है कि वह यथार्थ पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह इच्छामय है और यह भी कि जो

(१) Appearance and Reality by Bradley p. 414 and 415.

परिमित होता है वह न्यूनाधिक परिवर्तनीय होता है और परिवर्तनीय होने से पूर्णता प्राप्त होने के मध्य ही में प्रविलीन हो जाता है। यह सार्व-लौकिक, भाग्यविधान, निश्चित है कि नेकी का अन्त है परन्तु वे परिणाम, जो आत्मप्रतिज्ञा और आत्मबलिदान के द्वारा चाहे जाते हैं, एक ही भांति अप्राप्तव्य हैं। कोई व्यक्ति अपने आप में पूर्ण अविरुद्ध नहीं हो सकता और यदि विशाल आदर्श को लक्ष्य में रक्खा जावे, जिसके लिये मनुष्य तत्पर हुआ करता है, तो भी उसकी तत्परता, चाहे कितनी ही वेगवती क्यों न हो, वह आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर सकता और अपने व्यक्तित्व के सदुपयोग और दुरुपयोग करने के द्वारा ही वह अपनी प्रचलित सत्ता को खो बैठेगा और उसके इस प्रकार नष्ट होने के साथ ही नेकी भी तिरोभूत हो जावेगी[1]।

हीगल के सिद्धान्त पर विचार

हीगल के मत के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उसकी रू से न मनुष्य की स्वतंत्रता बाकी रहती है और न उसके आचारनैतिक जीवन की सत्यता। यदि हम ईश्वर के आभासमात्र हैं और हमारे व्यक्तित्व की कुछ भी वास्तविकता नहीं है तो इसका फल यह होगा कि हमारी स्वतंत्रता और हमारा आचारनैतिक जीवन दोनो ही समाप्त हो जावेंगे। यदि मनुष्य को स्वतंत्र कहा जावे तो आवश्यक होगा कि यह स्वीकार किया जावे कि उसकी, ईश्वर की तरह, स्वतंत्र सत्ता है। इसी हेतु से अतीतवादियों ने, स्वतंत्रता को, परतंत्रता के उच्च अर्थों में ठहराया है जब कि प्रकृतिवादियों ने उसे पर-

---

(१) Appearance and Reality by Bradley p 419 तथा Study of Ethics by James Seth p 398 and 399.

तंत्रता के निकृष्ट अर्थों में लिया है अर्थात् अतीतवादी स्वतंत्रता को ईश्वर के नियमों के अन्तर्गत रहने रूप परतंत्रता समझते हैं, परन्तु प्रकृतिवादी केवल प्राकृतिक नियमों की अन्तर्गत ही उसकी गणना करते हैं।

हीगल के मत मे, स्पाईनोजा की तरह, जीव के स्वतंत्रसत्ता की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी तरह प्रकृतिवाद, भावप्रधान-वाद की तरह, ब्रह्माड मे मनुष्य को केवल एक पद (चाहे वह कितना ही ऊंचा क्यों न हो) मानता है उस पद की आवश्यकता चाहे विकासवाद मे उससे अधिक कुछ न हो जितनी कि एक नीचे से नीचे पद की हो सकती है। अस्तु, हीगल के मतानुसार यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिये कि स्वतंत्रता ईश्वर मे है और परतंत्रता मनुष्य में, अर्थात् स्वतंत्रता समष्टि में है और परतंत्रता व्यक्ति मे।

हीगल का यह अतीतवाद प्रकृतिवाद के तुल्य ही है, यह वाद, नेकी और बदी के बीच मे जो भेद है, उसको भी स्थिर नहीं रखता, उसकी रू से, जो प्रकटरूप में बदी है, वह असली नेकी के ही अन्तर्गत है और वस्तुओं को, उनकी अन्तिम सत्ता के रूप में देखते हुए सबको नेकी ही कहना पड़ेगा। "नेकी (और बदी भी) केवल नाम-रूप और गोचर (दृश्य) विषय हैं और इसलिये स्वतः शीर्ण है[1]"। "नेकी एक पराधीन वस्तु है इसलिये जगत् का एक स्वतः शीर्ण दृश्य है[2]।"

(१) Appearance and Reality by Bradley p. 419.

(२) Do. p 420

इस प्रकार के भेद, जैसा कि नेकी और बदी में हैं, स्वयं हमारी कल्पना है, स्पाईनोजा ने भी एक जगह कहा है कि ये (नेकी+बदी) आंशिक ज्ञान का फल है और इसलिये समष्टि पर दृष्टि डालने से इन की कोई सत्ता बाक़ी नहीं रहती, परन्तु विचारणीय यह है कि मनुष्य आचारनीतिमय सत्तावान् होने से ब्रह्माण्ड का एक अंश है और अंश होने की दृष्टि से उसकी सत्ता बतलानी चाहिये थी न यह कि उसे वास्तविकता बतलाने की सीमा से बाहर ठहराया जाता। मनुष्य के आचारमय जीवन को केवल आभास ठहराने से न उसका व्यक्तित्व बाकी रहता है न आचारमय जीवन. अतः देख लिया गया कि इस, अद्वैतवाद के लिये, मनुष्य की सत्ता को ईश्वर में समाविष्ट कर देने का समाधान, सुगम कार्य्य नहीं है। इस प्रकार की एकता को सच्ची एकता नहीं कह सकते, क्योंकि विवादास्पद विषय का समाधान करने की जगह, यह उसकी सत्ता ही से इन्कार करता है। इस प्रकार का आचारनीतिरहित, एकीकरण, संभव है प्राकृतिक नियमों के, जहां तक उसकी सत्ता का संबंध उन नियमों से है, अनुकूल हो और यह भी संभव है कि बुद्धि से भी समर्थित हो परन्तु मनुष्य का मनुष्य होने की दृष्टि से या इस लिहाज से कि वह एक आचारनीतिमय सत्ता वाला व्यक्ति है, उपर्युक्त प्रकार के एकीकरण से, समाधान नहीं हो सकता। मनुष्य के साथ आचार का नाता जुड़ा हुआ होने से आवश्यक है कि वह स्वतंत्र हो, यदि मैं एक मनुष्य हूं और बुद्धि रखता हूं तो ज़रूर स्वतंत्र हूं। यदि मैं इस प्रकार का बुद्धिमान् पुरुष नहीं हूं तो बेशक मैं स्वतंत्र नहीं हो सकता।

जेम्स सेठ ने इच्छास्वातंत्र्य के संबंध में, अपने एक ग्रंथ[1] में विद्वत्तापूर्ण विचार करते हुये परिणाम यह निकाला है:—

जेम्स सेठ प्रोफेसर इडनबर्ग विश्वविद्यालय

इच्छास्वातंत्र्य की स्थापना के लिये हमें आचारनैतिक जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता का समर्थन करना चाहिये। वही (जीवात्मा) सदाचारमय जीवन का हृदय और केन्द्र है, वही आचारनैतिक स्थिति की कुंजी है। आचारनैतिक जीवात्मा की पूर्णता में दो प्रकार से कमी की जा सकती है:—(१) मनुष्य को प्रकृति में (२) अथवा ईश्वर में सम्मिलित करके उसकी स्वतंत्र सत्ता नष्ट करदी जावे। पहली सूरत कि मनुष्य को घटाकर प्रकृति में सम्मिलित कर दिया जावे यह बात वर्तमान परतंत्रतावाद के लिये तो अनुकूल होगी परन्तु दूसरी सूरत अत्यंत भयावह है। इसीलिए मनुष्य का संबंध, एक आचार-नैतिक स्वतंत्र व्यक्ति की हैसियत से, ईश्वर से क्या है, यह बात, प्रकृति से उसका संबंध विचार करने की अपेक्षा, विचार में लाना अत्यंत दुस्तर है। जगदुत्पत्तिवाद की अपेक्षा अध्यात्म-विद्या को, जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने में, अधिक कठिनतायें हैं। ईश्वर को सब कुछ स्वीकार करके फिर भी जीव की स्वतंत्रता वर्णन करना अध्यात्मविद्या के लिये मुश्किल काम है। जीव की सत्ता को केवल नामरूप ठहराकर, उसकी तह में ईश्वर ही को देखना और उसी को एकमात्र सत्य ठहराने का आशय आचारमय जीव का नष्ट करना ही है। यद्यपि ईश्वर और मनुष्य दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मान कर उनमें मेल रखने का विचार स्थिर करना कठिन है परन्तु फिर भी दोनों में

(१) A Study of Ethical Principles by James Seth p 401–403.

से किसी एक विचार को यदि छोड़ा भी जावे तो किस प्रकार? धर्मसम्बंधी परोक्षज्ञानवाद के लिये छोड़ा जावे या केवल अध्यात्मविद्यासम्बन्धी भावप्राधान्यवाद के लिये छोड़ दिया जावे, परोक्ष ज्ञानवादी सदैव चेष्टा किया करते हैं कि आत्मसत्ता क निषेध द्वारा ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया जावे। अथवा यों कहिये कि आत्मसत्ता का ही असीम विस्तार करके वही ईश्वरस्थानी स्वीकार करली जावे। अध्यात्मविद्या के लिये भी आत्मसत्ता अन्तिम वर्ग होगा। क्योंकि प्रत्येक दशा में ईश्वर-सम्बंधी श्रेष्ठ दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि आत्मासम्बंधी श्रेष्ठ दृष्टिकोण उत्पन्न किया जावे। आचार-नैतिक जीवन की सत्ता स्वीकार करने ही से अन्तमें ईश्वर-सम्बन्धी उच्चज्ञान भी हम में उत्पन्न होता है और इस ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद ही यह संभावना भी हम में उत्पन्न होती है कि आत्मा का ईश्वर के साथ मेल हो। और यह संगम और संसर्ग न केवल विचार का विचार के साथ हो अपितु इच्छा-शक्ति का इच्छाशक्ति के साथ भी। मनुष्य में प्रकृति की अपेक्षा आचार तेजस्विता और स्वतंत्रता की दृष्टि से जब अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का भान और विश्वास होने लगता है तभी मनुष्य अपने से उच्चतम और असीम एक शक्ति का विचार करता है। अपने व्यक्तित्व को, ईश्वर से क्यों न हो, विलीन कर देने का अभिप्राय यह है कि वह ईश्वर की महत्ता का, उन सब विचारों को अयुक्त ठहरा कर जिनसे उसे ईश्वर की महत्ता का भान हुआ था, निषेध करता है। हमारे लिये यह आव-श्यक है कि हम समझ लेवें कि जिस प्रकार ब्रह्मांड का भाग्य ईश्वर के हाथ में है, उसी प्रकार हमारा जीवन और भाग्य भी अन्त में ईश्वर ही के अधिकारमें है हमारे अपने हाथ में नहीं है,

× × × फिर भी मनुष्य यह नहीं ख्याल कर सकता कि वह ईश्वर के हाथ का एक यन्त्र मात्र है और ईश्वर की शक्तियों का एक निश्चेष्ट चक्र। कर्त्तृत्व मनुष्य के जीवन का, मनुष्य पद की दृष्टि से, अधिकार है और ईश्वर से उसका क्या संबंध है, यह उच्चतम विचार ही उसका सहयोग है। उसको समझना चाहिये कि वह एक सहकारी कार्य्य करता है और उसकी यह सहकार्यता ईश्वर तक भी पहुंचती है यह मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है जिसे उसे कभी नहीं बेचना चाहिये।



छब्बीसवां अध्याय

प्रो० राइस, जो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं, उन्होंने गिफर्ड लेक्चर्स में एक व्याख्यान "व्यक्ति और स्वतंत्रता" विषय पर देते हुये, इच्छा-स्वातंत्र्य के संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थेः—

प्रो० राइस और इच्छा-स्वातंत्र्य

मनोविज्ञान ने चिरकाल से बुद्धि (ज्ञान) और इच्छाशक्ति के काम को इस प्रकार बांट रक्खा हैः— अनिश्चित सत्य ग्रहण करने की योग्यता का नाम बुद्धि (ज्ञान) है और जिस शक्ति से घटनायें बदली जा सकती हैं उसे इच्छा कहते हैं।

बुद्धि और इच्छा

परंतु राइस का कथन है कि सर्वप्रिय मनोविज्ञान को प्रारम्भ ही से बाधित किया गया कि उसे यत्न करके उपर्युक्त दोनों शक्तियों को, जिन्हें उसने भूल से पृथक् कर रक्खा है, पुनः मिला देवे। क्योंकि थोड़ा सोचने ही से प्रकट हो जाता है कि हम जानने की इच्छा कर सकते हैं और यह भी कि हम आमतौर से बुद्धि के कार्य्यप्रणालियों में इच्छाशक्ति से पथ-प्रदर्शित होते हैं। दूसरी ओर देखते हैं तो मालूम हो जाता है कि हमारे समस्त ज्ञात इरादे के काम स्वयमेव ज्ञान के विषय हैं। उपर्युक्त बातों पर विचार करते हुये वर्तमान मनोविज्ञान के प्रचलित अन्तिम सिद्धान्त ये हैं.—

मनोविज्ञान के इस प्रकार के समस्त विभागों का अभिप्राय यह नहीं है कि वे समस्त विभाग प्राकृतिक हैं या एक दूसरे

वर्तमान मनोविज्ञान

से पृथक् कार्यप्रणाली रखते हैं। किन्तु उनका तात्पर्य यह है कि वे एक ही कार्यप्रणाली के भिन्न भिन्न रूप हैं × × × प्राणियों के जीवन सूक्ष्मतया समायोग के जीवन हुआ करते हैं × × चेतनामय जीवन को उपर्युक्त समायोग के साथ देखा जावे तो ठीक ठीक ज्ञान हो जावेगा कि वे समायोग क्या हैं? हमारा चेतनामय जीवन, हमारे कार्यों की साक्षिता, हमारे कार्यों के अनुमान और निरूपण, भावी कार्यों के कथनों और अपने कर्मों के प्रकाश में, समस्त ब्रह्मांड की व्याख्या का जीवन है × × परिणाम इस सबका, जहां तक हम जान सके हैं, यह है कि इन्द्रिय और संकल्प द्वारा प्राप्त दोनों प्रकार के ज्ञान हमारे मन में जमा होते हैं जिनसे हमारे मन में भावी कर्मयोजना बनती है और ये ज्ञानप्राप्ति की कार्यप्रणाली आंशिकरूपेण हमारी मूर्त्तिमयी इच्छा होती है[1]।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से जो सिद्धान्त बुद्धि और इच्छाशक्ति के संबंध में स्थिर होते हैं ये हैं, चेतना की कार्यप्रणाली को, जहां तक उसका संबंध इस बात से है कि समस्त घटनाओं का एकीकरण कर उसे चेतना ठहरावे, ज्ञान कहा जाता है और इसी समस्त कार्यप्रणाली को, जब वह लक्ष्यविशेष की पूर्ति में लगती है, इच्छाशक्ति का नाम देते हैं[2]।

राइस के मतानुसार अर्थ शब्द के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पहलू आते हैं क्योंकि हम जिसे अर्थ कहते हैं, वह असंदिग्ध

---

(१) The World and the Individual by J Royce p. 434–437.

(२) Do. p. 437

अर्थ किसे कहते हैं

शब्दों में अनेक घटनाओं का एकीकरण ही होता है और उसमें वह परिणाम भी शामिल होता है जिससे लक्ष्यविशेष की पूर्ति होती है। परन्तु जब हम बाह्यार्थ का विचार करते हैं तब हम उन विचारों को प्रकट करते हैं जिनकी अनुरूपता अपने पूर्व से कल्पित किसी बाह्यविषय से होती है और उस इच्छा को भी जो एक दूसरी वस्तु को पैदा करती है जिसकी अनुरूपता आन्तरिक अर्थ से होती है[१]।

इच्छाशक्ति के कार्यों के संबंध में सर्वसाधारण का मत यह है कि वे कारण जो हमारे भीतर रहने वाली चेतना को प्रकट करते हैं और वे कर्म जो उन्हीं कारणों से हमसे बाहर प्रादुर्भूत होते हैं, परन्तु सामयिक मनोविज्ञान का मत इससे सर्वथा भिन्न है।

इच्छा का काम

वह इच्छा को कारण नहीं समझता मनोविज्ञान के अनुसार कार्य शब्द केवल उस स्थूल कार्यप्रणाली को कहते हैं जिससे हमारा शरीर अपनी परिस्थिति के अनुकूल होता है। इन स्थूल कार्यों के कारण भी मनोविज्ञानानुसार स्थूल ही होने चाहियें। मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी चेतना न तो स्थूल कार्यों का, जिनके द्वारा हम अपनी इच्छाशक्ति को प्रकट करते हैं और न स्वयं मानसिक अवस्थाओं का, जिनसे हम भीतर संकल्प करते हैं, कारण है। हमारी इच्छा परिस्थिति की अनुकूलता प्राप्त करने के साथ प्रादुर्भूत होती है और हमारी चेतना को, आंशिक अनुकूलता प्राप्ति के अर्थों में,

(१) The World and the Individual by J. Royce, p. 437.

प्रकट करती है। हमारी इच्छाशक्ति प्राकृतिक नियमों का कोई अंग नही है[1]।

उपर्युक्त विचारों के सिवा मनोविज्ञान का एक और भी सिद्धान्त है जो परंपरा से चला आता है और जिसके मानने वालों की, मनोवैज्ञानिकों में, अच्छी खासी तादाद है और वह सिद्धान्त यह है कि हमारी चेतना से उत्पन्न संकल्प अथवा क्रियामय पक्ष न केवल स्वयमेव सत्य है वलिक अन्य शारीरिक तथा मानसिक घटनाओं का कारण भी है[2]।

मनोविज्ञान का दूसरा मत

इस सिद्धान्त के रूप से बुद्धि और इच्छाशक्ति में महत्व-पूर्ण अन्तर है और वह अन्तर केवल वाह्य रूप-रेखा का नहीं है जैसा पहले कहा जा चुका है। यदि मनुष्य केवल ज्ञाता हो जैसा वहुत लोग कह दिया करते हैं तो वह कुछ नही कर सकता केवल देख सुन सकता है, परन्तु कर्त्ता की हैसियत यदि उसे दी जावे तो फिर उससे वह स्वेच्छाकर्त्ता है और नई सत्ता के जन्म का कारण और उत्पादक भी है।

इस मत के रू से इच्छाशक्ति यदि प्रवल नहीं तो कुछ भी नहीं। एक कार्यप्रणाली जो केवल साथ रहती और प्रतिविम्वित होती है और कोई दूसरा प्रभाव नहीं डाल सकती और जिसे हमारे शरीर के अपनी परिस्थिति के अनुकूलता मात्र कहते हैं, वास्तविक इच्छाशक्ति नहीं हो सकती[3]।

---

(१) The Wo1ld and the Individual by J. Royce p. 438.

(२) Do. p. 439.

(३) Do p 439

प्रो० राइस ने सभी दृष्टियों से ईश्वर और मनुष्य की इच्छाओं के पार्थक्य पर विचार करते और उससे होने वाले परिणामों को भी लक्ष्य में रखते हुए सिद्धान्त यह स्थिर किया है:—"मैं स्थिर करता हूं कि ईश्वर और हमारी परिमित इच्छा दोनों ब्रह्मांड में पृथक् पृथक् प्रकट हो रही हैं और यह कि इस घोषणा से किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नहीं होता[1] ।"

व्यक्ति और ईश्वर की इच्छायें पृथक् पृथक् हैं

यह कहा जा चुका है कि अर्थ के अन्तर्गत दो बातें सम्मिलित हैं:—(१) समष्टित्व अर्थात् घटनाओं का संयोग। (२) व्यष्टित्व अर्थात् व्यक्तित्व का ठीक ठीक प्रकटीकरण जितना उसकी सीमा के अन्दर है।

मनुष्य की इच्छाशक्ति

समझे हुए निश्चय के साथ जहां एक ओर सन्तुष्ट इच्छा-शक्ति उत्पन्न होती है तो दूसरी ओर पूर्णतया प्रकट अर्थ से द्विगुणित चेतना विकसित हुआ करती है। जिस उत्पत्ति और विकास को इस प्रकार प्रकट किया जाता है:—(१) वह सब कुछ प्राप्त हो गया जिसकी खोज थी अब और कुछ नहीं चाहिये, (२) मुझे ठीक २ इन्हीं अन्तर्गतार्थ की ज़रूरत थी और उनको इस प्रकार मैंने अपना लिया है कि अब और कोई उनका स्थान नही ले सकता × × प्रत्येक बुद्धिपूर्वक सज्ञान कार्यप्रणाली का यह निर्वाचित चरित्र ही वह चरित्र है जो चेतना के प्रकाश-रूप में है और वही अन्त में व्यक्तित्व के निर्माण का साधन

(१) The World and the Individual by J. Royce p. 441.

हुआ करता है[1]। राइस के कथनानुसार यही चरित्र है जिसे सर्वज्ञ ईश्वर की संपत्ति कहा गया था और यही चरित्र है जिसे अब अल्पज्ञ जीव का स्वभाव कहा जाता है।

प्राणी की सत्ता के संबंध मे उसने लिखा है कि कार्य-कारणवाद को पृथक् करके देखा जावे तो पता लगेगा कि सत्ता संभाव्य वस्तुओं में से निर्वाचित वस्तुरूप हुआ करती है। जहां राइस ने इसे अपना मन्तव्य बतलाया है वहीं यह भी कह दिया है कि यही सिद्धान्त इच्छास्वातन्त्र्यवाद का भी है और एक प्रकार से यही भाव परोक्षज्ञानवाद का भी है।

इस निर्वाचन का कारण यह है कि जब यथार्थता की प्रतिज्ञा की जाती है तो उससे संभाव्य वस्तु पृथक् हो जाती है

निर्वाचन का कारण

यह हमारे रोज़मर्रा के अनुभव की बात है कि युवावस्था जो एक समय संभाव्य थी परन्तु अब उस को जाता हुआ देखते हैं इसी प्रकार अनेक घटनायें घटित होती हैं परन्तु वह अन्त को बाक़ी नहीं रहती। डार्विन का प्राकृतिक निर्वाचन भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों में से एक है। अंगरेजी के प्रारंभिक लौजिक में यह प्रदर्शित हुआ है कि अनेक पदार्थ निषेधात्मक सत्ता रखते हैं और उनके होने की न्यायानुसार संभावना होते हुए भी वे अन्त को नष्ट हो जाते हैं उनको उसी तर्क की परिभाषा में निषेधात्मक जगत् अर्थात् संभाव्य जगत् कहते हैं।

कल्पना करो कि उस निबंधात्मक (संभाव्य) जगत् में

---

(१) The World and the Individual by Royce p. 446-449.

दो श्रेणियों के पदार्थ हैं जिन्हें "क" और "ख" कहते हैं। इस कल्पना के अनुसार उस संभाव्य जगत् में ४ प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। (१) वे जो 'क' और 'ख' दोनों हैं (२) वे जो 'क' तो हैं परन्तु 'ख' नहीं (३) वे जो 'ख' हैं परन्तु 'क' नहीं (४) वे जो न 'क' हैं और न 'ख'। इसी प्रकार उदाहरण के लिये कल्पना करो कि तुम्हारे निबन्धात्मक जगत् में सदाचारी और प्रसन्न व्यक्ति रहते हैं तो उनमें ४ श्रेणी के व्यक्तियों के होने की संभावना होगी (१) सदाचारी और प्रसन्न (२) सदाचारी परन्तु अप्रसन्न (३) असदाचारी परन्तु प्रसन्न (४) न सदाचारी और न प्रसन्न। अच्छा अब इन चारों श्रेणियों के मध्य में जो संबंध हो सकता है उस पर विचार करो यदि यह कल्पना की जावे कि सभी सदाचारी पुरुष प्रसन्न होते हैं तो यह कथन निषेधात्मक सत्ता वाला अर्थात् संभावना का नाशक होगा क्योंकि तुम्हारे निबन्धात्मक जगत् में दूसरी श्रेणी ऐसे ही व्यक्तियों की है जो सदाचारी है परन्तु प्रसन्न नहीं। इस कल्पना के सत्य होने का आग्रह करने पर निबंधात्मक जगत् ३ ही प्रकार के व्यक्तियों वाला रह जायगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों की कल्पना करने से औरों की संभावना भी नष्ट होगी। यहां तक कि यदि एक ही सदाचारी पुरुष तुम्हारे निबंधात्मक जगत् में रह जावेगा तो उसके असदाचारी होने की कल्पना से उसका भी नाश हो जाना संभव है। यह फल केवल इसीलिये निकल सका कि जब पूर्णतया अविशेष रीति से विचार किया गया और इस बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया कि विशेष लक्षण व्यक्तित्व के क्या हैं? इसी के अनुसार प्रत्येक वस्तुस्वातन्त्र्य-वादी वस्तुस्वातन्त्र्य को संभाव्य में से निर्वाचित मानता है।

एक उदाहरण

राइस ने इस पर अपनी सम्मति दी है कि इस विषय में हम भी उससे सहमत हैं[1]।

परन्तु स्पाइनोजा ने वस्तुस्वातन्त्र्य के निर्वाचित होने से इन्कार किया है. उसका कहना है कि दिव्यदृष्टिकोण से समस्त संभाव्य वस्तु सत्य है। इन सब पर विचार करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि जबतक समस्त विचार और कल्पनाओं को लेकर इस विचार पर केन्द्रित न किया जायगा कि सत्य अखंड है तबतक अन्य कल्पनायें कल्पनाये ही रहेंगी और इनसे काम न चलेगा। परंतु इस सत्य की अखंडता का विचार भी आक्षेप से खाली नही है। इस पर कहा यह जाता है कि सत्य दो प्रकार का है (१) सापेक्ष सत्य (२) पूर्ण सत्य इसलिये सापेक्षता के साथ निश्चित सत्य, जिसके लिये शुद्ध संभावना अनुभव में आने की है और पूर्ण सत्य जिसमें कोई रुकावट नही और जो किसी उत्पन्न संकल्प से प्रकट होता है, इन दोनों में सत्य विभक्त होने से सत्य की अखंडता के सम्बंध में एक ही मत नही हो सकता क्योंकि जो कोई यहांतक कि अपने साधारण विचारों को विकसित करेगा जिससे उनके कोई पूर्ण परन्तु सापेक्षिक अर्थ हो सके तो कुछेक संभावनाओं को उसे आवश्यक रीति से तत्काल पृथक् कर देना पड़ेगा। राइस का कहना है कि इस विचार को, कि सत्य अखंड है, जो अपर्य्याप्त बतलाया गया उसका अभिप्राय यह स्वीकार कर लेने से था कि जबतक तुम किसी वस्तु का सर्वगत विवरण देते हो अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य प्रकार बतलाते हो

स्पाइनोजा इससे सहमत नहीं है

(१) The World and the Individual by Royce p. 449–451.

तबतक तुम न तो उसकी सत्ता बतला रहे हो और न भावना की सत्यता प्रकट कर रहे हो परन्तु तथ्य यह है कि हमारा समस्त अनुभव, जिसके साथ वस्तुओं की सत्ता का विचार भी शामिल है, प्रकट करता है कि केवल संभावना का यह व्यावर्तन निश्चित घटनाओं की उपस्थिति में वस्तु की यथार्थ सम्बंधी बुद्धि को कम नहीं अपितु पुष्ट करता है क्योंकि ऐसी संभावनाओं के, जो व्यर्थ और निष्फल हैं, पृथक् कर देने से, हम इस योग्य हो सकेंगे कि अपने सोचे और समझे हुये उद्देश्यों को प्रकट करें और उसकी यथार्थ रीति से पूर्ति भी कर सकें[1]। × × × उसने फिर लिखा है कि ठीक जैसा कि साधारण तर्क और परंपरागत वस्तुस्वातन्त्र्यवाद ने, वस्तु को समझते हुये, स्वीकार किया है कि वस्तु की वास्तविकता समझने के लिये आवश्यक है कि उससे सम्बंधित व्यर्थ संभावनाओं को पृथक् कर दिया जावे उसी प्रकार हमारा विचार भी है कि जीवन में पूर्णता प्राप्त अवस्था आजाने पर, त्याग देने और ग्रहण कर लेने की योग्यता, हुआ करती है। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो प्रकट हो जायगा कि जीवन-क्षेत्र पूर्ण है और इच्छा के दोनों पहलू त्याग और ग्रहण ईश्वर और जीव दोनों के अन्दर समाविष्ट रहते हैं[2]।

व्यक्ति किसे कहते हैं? व्यक्ति तुल्यतारहित और अपने ढंग का एक ही प्राणी हुआ करता है। अथवा यह कि उसकी श्रेणी का और कोई नहीं होता[3]।

---

(१) The World and the Individual by J Royce p 451 and 452.

(२) Do. p. 454 and 455

(३) Do. p. 455.

व्यक्ति—राइस के मतानुसार, विशेष उद्देश्य वाली निर्वाचित सत्ता को, कहते हैं[1]। और यह ब्रह्मांड सोद्देश्य है[2]। एक दूसरी जगह इसी ब्रह्मांड को, पूर्णता की दृष्टि से, अपूर्व और अद्वितीय विश्व कहा गया है। ऐसा विश्व कि जिस के स्थान में अथवा जिस के किसी भाग के बदले, कोई भी निश्चित वस्तु, विना उस निश्चित और पूर्ण विश्व के विश्वत्व के खोये हुये, नहीं रक्खी जा सकती। इस के सिवाय कार्य्य-कारणवाद से सर्वथा पृथक् एक ग्राहक शक्ति है जिसका इच्छा के अन्तर्गत होना, साधारणमतानुसार, आवश्यक है जो हमारे ऊपर के दिये हुये विवरण के अनुसार, वास्तविक सत्ता है, वही दिव्य और सर्वज्ञ है [3]।

किस अर्थ में जगत् को दिव्य ईक्षण का और किस अर्थ में उसे दिव्य ज्ञान का, प्रकटीकरण कहा जाता है इस के उत्तर में राइस कहता है कि जगत् से दिव्य और ज्ञान की पूर्णता प्रकट होती है।

ईश्वर और जगत्

जगत् का प्रत्येक भाग और जगत् की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से इस प्रकार मेल रखते हैं जिस से वह रचना ज्ञान की पूर्णता प्रकट करती है। जगत् की सार्वत्रिक सार्थकता का फल यह है कि भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक विचार इस प्रकार एक दूसरे से मिले हुये हैं कि कोई भी निश्चित विचार जिसमें किसी दूसरे विचार का संकेत है अथवा जिसमें बाह्य संसार

(१) The World and the Individual by Royce p. 460.

(२) Do p. 460.

(३) Do. p. 461.

वर्णित है, प्रकार की दृष्टि से सार्वत्रिक है परन्तु इन समस्त विचारों का क्रियात्मक रूप अद्वितीय और व्यष्टित्वमय है। इन हेतुओं से, हम सर्वथा शुद्ध और निश्चित रीति से, जगत् को दिव्य ईक्षण का व्यक्त रूप में प्रकट होना या उसकी पूर्त्ति या उसकी मूर्त्तिमय बन जाना कह सकते हैं।

दिव्य ईक्षण

जगत् से, दिव्य ईक्षण के लिये यह प्रकट नहीं होता कि वह कोई बाह्यशक्ति है जिससे जगत् उत्पन्न हो जाया करता है, अपितु जगत् के समष्टित्व पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि वह उद्देश्यनिश्चायिका विद्या और उस अर्थ का द्योतक ज्ञान है जो दिव्य ईक्षण शब्दों में निहित है। जगत् जब पूर्ण हो जाता है और कोई कमी बाकी नहीं रहती तो जहां तक उसकी पूर्णता और अपूर्वता का संबन्ध है वह एक छुटे हुये आदर्श का प्रकटीकरण बन जाता है जिस आदर्श की पूर्त्ति दिव्य ईक्षण से हुआ करती है। अभिप्राय यह है यदि समस्त जगत् एक योजना का पूर्ण प्रकटीकरण है और वह उसका अद्वितीय प्रकटीकरण भी है तो उसमें घटित प्रत्येक घटना चाहे वह अन्य घटनाओं से असंदिग्ध रीति से भिन्नता ही क्यों न रखती हो तो भी यह अद्वितीय है और समस्त जगत् की अद्वितीयता का एक अंश है।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि एक वस्तु "क" है। पहले इसके लिये कल्पना करो कि वह समष्टिरूप से एक टाइप के केस के सदृश है फिर कल्पना करो कि वह एक व्यक्ति है। पहली कल्पना में वह वस्तु अद्वितीय नहीं हो सकती क्योंकि और भी अनेक केस इस प्रकार के होते हैं।

परन्तु जब "क" व्यक्ति है तब वह अद्वितीय है और उसका प्रत्येक अंश उस कुल का भाग है[1]।

अपने किसी किये हुये कर्म की कल्पना करो कि वह तुम्हारे सन्मुख है तुम उसे देखोगे और तुम्हें स्पष्ट रीति से प्रकट हो जावेगा कि वह तुम्हारा कोई अभिप्राय प्रकट करता है परन्तु राइस के मतानुसार उस कर्म में तुम्हारा संकल्प भी शामिल है इसलिये तुम्हारा वह कर्म और वह संकल्प जो तुम्हारे कर्म में शामिल है अन्य कर्मों और संकल्पों के साथ, उस सर्वज्ञ और चेतनापूर्ण की अद्वितीयता और एकमात्र सत्ता मे उपस्थित है। इस सर्वज्ञ और चेतनापूर्ण एकमात्र सत्ता मे तुम्हारा व्यक्तित्व लीन तो होता है परन्तु नष्ट नही होता अर्थात् तुम अपनी स्वतंत्र सत्ता की दृष्टि से, वैसे ही बाक़ी रहते हो जैसे अब हो। इस प्रकरण में फ़िर राइस ने प्रकट किया है कि उसके मतानुसार तुम्हारे आंतरिक विचार, तुम्हारा विषय निर्वाचन और प्रकटीकरण, जो किसी वस्तु के प्रतिरूपक उदाहरण है, असल में वस्तु है और ऐसी वस्तुओं में से एक हैं जिनके सम्मेलन का नाम जगत् है। निष्कर्ष यह है कि यदि समस्त जगत् ईश्वरीय अभिप्राय को प्रकट करता है तो एक व्यक्ति अथवा उसका कोई अंश भी एक दरजे तक ईश्वरीय अभिप्राय को प्रकट कर रहा है[2]। फिर एक जगह राइस ने लिखा है कि किसी तुच्छ व्यक्ति का आलोक भी, निसंदेह अद्वितीय ईश्वरीय अनुभव का

एक दूसरा उदाहरण

---

(१) The World and the Individual by Royce p. 461–464.

(२) Do p. 464.

एक अंश है और इसलिये वह भी अद्वितीय है[१]। सुतरां समष्टि जगत् की सत्ता, उपर्युक्त भांति, विभागों में विभक्त रहा करती है और ईश्वरीय सत्ता भी, इसी प्रकार प्रत्येक अल्पज्ञ प्राणी में मौजूद है जिससे कोई अल्पज्ञ प्राणी किसी दूसरे का स्थान, बिना समष्टि में स्पष्ट परिवर्तन किये, नहीं ले सकता। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि यदि कोई अल्पज्ञ प्राणी अपनी अद्वितीयता में रह कर अपनी ही बात के लिये अपना स्थान छोड़ दे तो भी कुल वह न रहेगा जो पहले था। अपने सिद्धांत का यह विवरण देते हुये, राइस ने प्रकट किया है कि तुम ब्रह्म में हो परन्तु तुम्हारी सत्ता वहां नष्ट नहीं होगई[२]।

अल्पज्ञ प्राणी और ईश्वरेच्छा

राइस ने एक जगह लिखा है कि वस्तुतत्त्वज्ञसंघ के अनुसार अनेक विभिन्नतापूर्ण सत्तायें एक ही सत्ता में हैं और रह सकती हैं परन्तु यह बात, उसकी सम्मति में, संभव प्रतीत नहीं होती। वह कहता है कि जो कठिनतायें इस संघ को, एक और अनेक के समाधान में, पड़ा करती हैं वे सबकी सब, उसका मत स्वीकार कर लेने से, दूर हो जाती हैं। हमारे लिये, राइस कहता है कि यह प्रश्न ही नहीं रहता कि किस प्रकार अनेक एक हो जाते हैं हमारे लिये तो ब्रह्मांड का एकत्व केवल चेतना एकत्व है। उसने अपनी बात को साफ करने के लिये फिर लिखा है कि जगत् की विभिन्नता आन्तरिक है

(१) The World and the Individual by Royce p. 464 and 465.

(२) Do. p. 465 and 466.

राइस के शब्द ये हैं:—"You are in God, but you are not lost in God"

परन्तु ऐसा नहीं है कि वह ठीक न हो। प्राणियों की विभिन्नता और उनकी योनियों के अनेकत्व, ये सब एक ही ईश्वरीय चेतना के अन्तर्गत हैं[1]।

इच्छास्वातन्त्र्य

इच्छास्वातन्त्र्य के प्रकट करने के लिये, राइस के मतानुसार, यदि सामान्य बुद्धि से देखा जावे तो दो बातें प्रकट होती हैं।

(१) सामान्य बुद्धि साक्षी देती है कि जब हमारी इच्छा प्रकट होती है तो हम स्वयमेव उसके प्रकट करने वाले होते हैं।

(२) सामान्य बुद्धि से यह भी प्रकट होता है कि जब हमारी इच्छाशक्ति, हमारी इच्छानुसार, भीतर काम करती है तो हम व्यक्तिरूप में अपने को स्वतन्त्र समझते हैं।

राइस, इन बातों को प्रकट करते हुये, कहता है कि कार्य्यकारणवाद के कभी न समाप्त होने वाले, बखेड़े में, हम नहीं पड़ना चाहते क्योंकि समस्त हेतु, जो इस वाद में दिये जाया करते हैं वे प्राणियों के जीवन की घटनाओं के विशेष निदर्शन (उदाहरण) हुआ करते हैं, उनसे जीवनसम्बन्धी अन्तिम प्रश्न का हल नहीं होता। विचार करने से प्रकट होता है कि प्राणी की ससीम चेतना के प्रत्येक क्षण में, एक अद्वितीय झलक, पाई जाती है। हमारे हेतुक जीवन, हमारी क्षणिक इच्छा और उसका प्रादुर्भाव भी, उसी झलक ही की चमक हैं। हम अपनी इच्छाशक्ति में जो चमक और विलक्षणता देखते हैं उसका हल कार्यकारणवाद से नहीं हो सकता। कार्यकारणवाद से केवल उन घटनाओं या उनसे संबंधित अन्य घटनाओं का

(१) The World and the Individual by Royce p. 465 and 466

समाधान हुआ करता है जो सामान्य अवस्थावाली हुआ करती है, परन्तु जो जीवन की अद्वितीयता है, वहां कारणवाद की पहुंच नहीं है, न हो सकती है। परिणाम यह निकलता है कि जब वैयक्तिक जीवन और उसके अपूर्व और गहन पहलुओं का समाधान कारणवाद से नहीं हो सकता और न कारणवाद उन-से संबंधित किसी कार्य का अग्र निश्चय कर सकता है तो विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा, जैसा कि आचारशास्त्र कहता है कि ये हमारे स्वतंत्र कार्य हैं जिन्हें हमने अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से किया है।

ईश्वरेच्छा मनुष्य के अन्दर

यह कहा जा सकता है और सच भी है कि ईश्वर अपने सर्वव्यापकत्व से हमारे अन्दर भी है और यह कि वह हमारे भीतर अपनी इच्छा से काम लेता है और यह अनिवार्य फल उसकी चेतना के अद्वितीयत्व और समष्टित्व स्वीकार करने का है। परन्तु इसके साथ ही यह भी विलकुल सच है कि इस दिव्य (ईश्व-रीय) चेतना का अनुभव हम और केवल हम करते हैं और इस अनुभव करने का साधन भी हमारी अद्वितीय इच्छा का स्वातन्त्र्य ही है। अवश्य हमारा इच्छास्वातन्त्र्य और उसके अनुसार किये हुए हमारे कर्म ईश्वरीय चेतना का एक अंश हैं। वह अंश चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न हो परन्तु है वह उस चेतना का अंश ही। परन्तु इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं है कि ये हमारे किये कर्म ईश्वरीय चेतना का अंश होने से किसी दूसरी जगह किसी अन्य कर्त्ता के द्वारा दुहराये जाते हों[1]।

(१) The World and the Individual by Royce p. 466-468

राइस ने, कर्म के संबंध में, विचार करते हुए लिखा है:—हमारी वर्तमान इच्छाशक्ति, एक व्यक्ति की इच्छा के रूप में,

कर्म

अद्वितीय है, तब हमारे कर्म का अभिप्राय यह हुआ कि वह हमारी इच्छा का अद्वितीय क्रियात्मक प्रकाश है। इसी बात को और दृढ करने के लिये उसने, फिर एक जगह, लिखा है कि यदि कोई सार्वत्रिक प्राकृतिक नियम, जो सामान्य प्रकार का है, हमारे चरित्र और अनुभव में प्रकट हो रहा है अर्थात् हमारा चरित्र और अनुभव उसी नियम से प्रभावित है और स्वतन्त्र कर्म का फल नहीं है तो राइस कहता है कि तब तो हम "टाइप के केसों" से बढ़कर नहीं हो सकते और कोई कर्म भी, उस दशा में, स्वतन्त्रता से नहीं कर सकते परन्तु यदि उपर्युक्त भांति हमारी इच्छा का कार्य मे परिणत होना अद्वितीय है तब हम अपनी इस इच्छा के क्रियात्मक प्रकाश को अपना स्वतन्त्र कर्म कह सकते हैं। हमारी वर्तमान इच्छा, कार्यरूप में, परिणत होकर वैसी ही अद्वितीय है जैसी ईश्वरीय इच्छा और वैसी ही स्वतंत्र है जैसा कि ईश्वरीय इच्छा का क्रियात्मक प्रकाश यह ब्रह्मांड है। जिस प्रकार यह ब्रह्मांड किसी कल्पित कार्य-कारणवाद का, जो ईश्वरीय इच्छा के रूप में कल्पना किया गया हो, फल नहीं है इसी प्रकार अपने प्रबल प्रभाव और भौतिक साधन के रूप में हमारे कर्म भी स्वयमेव स्वतन्त्र कारण हैं[1]।

राइस ने, इच्छास्वातन्त्र्य के विषय का वाद समाप्त करते हुए, इस वाद के संबंध में लिखा है:—"इसलिये तुम कर्म करने

---

(१) The World and the Individual by Royce p. 468–469.

राइस की सम्मति का निष्कर्ष

में स्वतन्त्र व्यक्ति हो। ईश्वरीय सत्ता की अद्वितीयता, जब हम उस सत्ता को, इस मनुष्य जीवन की अद्वितीयता के साथ, मिलाकर लेते हैं तो वह प्रत्येक व्यक्ति पर भी चरितार्थ होती है और इसलिये जिस प्रकार वह स्वतन्त्र है, इसी प्रकार मनुष्य भी स्वतंत्र है। इसलिये वह प्रोत्साहन देता हुआ कहता है कि तुम स्वतंत्र हो और स्वतंत्र व्यक्ति की तरह से उठो, यह ब्रह्मांड ईश्वर का है और तुम्हारा भी।"



सत्ताईसवां अध्याय

प्रोफ़ेसर ग्रीन का मत

कर्म के सम्बंध में विचार करते हुये ग्रीन ने अपने विषय का प्रारम्भ कार्य्य और कारणवाद के सिद्धांत से किया है।

किसी वस्तु (कार्य्य) का कारण उसे कहा करते हैं जो उस (कार्य्य) की उत्पत्ति का हेतु बने। उस कारण में उस

कारण और कार्य्य

कार्य्य के पैदा करने की योग्यता पूर्ण और स्वाभाविक होनी चाहिये जिस प्रकार कार्य्य के पूर्व रूप में परिवर्तन ग्रहण करने की योग्यता स्वाभाविक हुआ करती है। प्रत्येक कारण का, चाहे वह साक्षात् कर्त्ता हो, या भिन्न अवस्थासमूह या कार्य्य का पूर्व-रूप, एक स्वभाव होता है और यह स्वभाव उस (कर्त्ता) के लिये अन्य कर्ताओं, भिन्न भिन्न अवस्थासमूहों और कार्य के पूर्वरूपों द्वारा निर्मित हुआ करता है। यह स्वभाव, कार्य्यों के नामरूप अथवा वाह्य दृश्यों में, ऐसा परिवर्तन उत्पन्न किया करता है जिसे देखकर स्पष्ट रीति से प्रकट होने लगता है कि कार्य्य की वर्तमान स्थिति और दृश्य आदि उस कारण से भिन्न है जिसका वह कार्य्य है[1]। यह कार्य्यकारणवाद प्रत्येक कार्य पर तो लागू हो जाया करता है परन्तु परतन्त्रता की दुनियां में, जहां समष्टिरूप से समस्त ब्रह्मांड परतन्त्र है और उसका एकमात्र कारण वह समतोत्पादक नियम

---

(१) Prolegomena to Ethics by Greene p. 469, 470 and 87.

है जो उस परतन्त्रता के भीतर निहित है, लागू नहीं हुआ करता[1]।

कर्त्ता को वह कार्य्य पूर्ण स्वतन्त्रता से अपनी ही सामर्थ्य से करना चाहिये जिससे जगत् स्थापित है। उसे, इस प्रकार से कार्य्य नहीं करना चाहिये जैसा संसार में परतन्त्रता से हुआ करता है। जगत् मे जगतत्व इसी कार्य्य से आया करता है। कर्त्ता का चरित्र भी इसी कार्य्य से प्रकट हुआ करता है।

परन्तु वास्तव मे, ज्ञान में मौजूद हमारा वह कार्य्य, ऐसा कर्म है जिससे अनेक प्रकार के नाम और रूप (वाह्य दृश्य)

कर्म

एक के वाद दूसरा, दूसरे के वाद तीसरा इत्यादि समष्टिजगत् में, जो अनेक पारस्परिक संवन्ध वाली वस्तुओं का संघात हुआ करता है, प्रादुर्भाव हुआ करते हैं और वह कर्म कर्त्ता की अपनी ही सामर्थ्य से किया हुआ होता है। परन्तु उसका ज्ञान जगत् के उन वाह्य दृश्यों से नहीं होता। अवश्य वे दृश्य उस दिव्य कर्म के प्रभाव से प्राणियों के समझे हुये अनुभव के अंग वन जाते हैं[2]।

जो ऐन्द्रिक कार्य्य, आंतरिक चेतना के प्रभाव से, होते हैं, मन के द्वारा निश्चित हुआ करते हैं। मन इन सबके लिये अपेक्षित वस्तु है। यह अपेक्षा इसी अर्थ में है कि वे सब इस विश्व के एक अंग हैं। यह ज्ञान भी, उसी मन का, उत्पन्न किया हुआ, होता है। यह उत्पत्ति आत्मा के गुणों की अपेक्षा

(१) Prolegomena to Ethics by Greene p 87.
(२) Do. p. 88.

से होती है जो अनेक प्रकार की वस्तुओं की समता प्राप्त अवस्था हुआ करती है[१]।

इस प्रकार, ग्रीन का कथन है, कि मनुष्य की ज्ञानोपलब्धि सम्बन्धी बात प्रकट करते हुए हम इस बात के प्रकट करने का अधिकार रखते हैं कि अपने गुणों का उपर्युक्त प्रकार, प्रकाश में लाते हुये, आत्मा अधिकारी है कि अपने को आत्मा कहे और इस प्रकार अन्यों से अपने को प्रतिष्ठित रखते हुये स्वतन्त्रता से कर्म करे। वह कर्म, जो न समय की प्रेरणा से है, न प्राकृतिक कार्य्यों की किसी शृङ्खला के रूप मे है, और न किसी कर्म की पुनरुक्ति है, असल में उस (आत्मा) का अपना ही आरम्भ किया और रचा हुआ होता है[२]।

उसने फिर एक जगह कहा है कि मनुष्य के कर्म, एक नित्य आत्मा के कर्मों की छायामात्र होती है। वह आत्मा मनुष्य के कर्तृत्वशक्ति को अपनी इन्द्रिय समझता हुआ, उन्हीं के द्वारा फिर अपने को प्रकट किया करता है[3]।

ग्रीन ने, उपर्युक्त रीति से, इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, विचार करते हुये, एक जगह उसके पक्ष और विपक्ष का वर्णन इस प्रकार किया है। प्रवृत्ति (Motive) शब्द के समझने में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं उन्ही के कारण इच्छास्वातन्त्र्य के समझने में भी, सन्देह उत्पन्न हो गये हैं। इस वाद के समर्थकों का कथन है कि कर्म करने से पहले, मनुष्य अनेक प्रवृत्ति

प्रवृत्ति हेतु

---

(१) Prolegomena to Ethics by Greene p 89.
(२) Prolegomena by Greene p. 92 and 93.
(३) Do. p. 93.

भेदों से प्रभावित हुआ करता है परन्तु उनमें से, एक भी नहीं है जो आवश्यक रीति से, कोई विशेष कर्म करना स्थिर और निश्चित कर देती हो बल्कि स्वयं कर्त्ता, उनमें से एक को छांट लेता है और कर्म करता है। यह कर्म किसी भी प्रवृत्ति का निश्चय किया हुआ नहीं होता।

इसके विरुद्ध विपक्षियों का कथन यह है कि कर्त्ता में, वाद के पक्ष में, कही हुई प्रवृत्तिरहित इच्छा या पसंद नहीं हुआ करती किन्तु अनेक प्रवृत्तियों में से, संघर्षण के वाद, जो सबमें बलवती होती है वही (प्रवृत्ति) आवश्यक रीति से किसी कर्म का करना निश्चय कर दिया करती है। इस कहने के साथ ही, विपक्षी इसको स्वीकार करने की उदारता दिखलाता है कि एक या किसी प्रवृत्ति का प्राबल्य, मनुष्य के चरित्र पर निर्भर हुआ करता है परन्तु चरित्र के सम्बन्ध में उनका कथन यह होता है कि वह इससे पूर्व की अनेक प्रवृत्तियों के काम में आने से बन जाया करता है और उन्हीं प्रवृत्तियों के आधार से, उस (चरित्र) में, इच्छा और द्वेष हुआ करते हैं।

ग्रीन ने, इस प्रकार दोनों पक्षों का विवरण देते हुये, पहले पक्ष के सबध में, लिखा है कि उसकी सम्मति में, बिना प्रवृत्ति के पसंद नहीं हो सकती जब तक कोई विषय न हो, जिसे कोई पसंद या नापसंद करता है, उसकी इच्छामात्र से किया हुआ कोई कर्म नहीं हो सकता। वह विषय उसकी पसंद में शामिल है अथवा यों कहिये कि वह उस पसंद का एक भाग है अथवा वही कर्त्ता का कर्म है। इसके बाद, प्रवृत्तिहेतु पर विचार करते हुये, ग्रीन का कथन है कि जिन प्रवृत्तिहेतुओं का उल्लेख पक्ष और विपक्ष के समर्थक किया करते हैं, असली

प्रवृत्ति हेतु, उन सबसे भिन्न है। असली प्रवृत्तिहेतु मनुष्य के प्रति कार्य्य से, जो अनेक प्रवृत्तिहेतुओं पर काम करता है, और उनमें से किसी एक को छांट लेता है, होता है, यही उसके सामयिक संतोष का कारण बनता है और यही उसका विषय, जिसकी प्राप्ति वह चाहता है, बन जाता है[1]।

ग्रीन ने, अपना मतलब साफ़ करने के लिये, एक उदाहरण दिया है—राम ने कुछ धन कृष्ण से उधार लिया था वह निम्न हेतुओं से उस ऋण को चुकाना चाहता था।

एक उदाहरण

(१) यह काम उसके अन्तःकरण के अनुकूल होगा।

(२) दूसरे पुरुष भी ऐसा करने से उसे अच्छा समझेंगे।

(३) ऋण से मुक्त होने पर उसका बोझ हलका हो जायगा।

परन्तु कुछ आदमी हैं जो राम को ऋण न चुकाने की प्रेरणा करते हैं। राम ने सब बातों का विचार कर के क़रज़ा चुका दिया।

इस उदाहरण को देते हुये, ग्रीन कहता है कि इस क़रज़ा के चुकाने में एक ओर जहां राम की प्रवृत्ति कारण थी तो दूसरी ओर उस उद्देश्य की पूर्ति भी इष्ट थी जो इस प्रकार की पूर्ति के तह में निहित हुआ करता है। परन्तु यह उद्देश्य, राम की किसी प्रवृत्ति का, नहीं था अपितु इच्छाशक्ति का उद्देश्य था, नैसर्गिक इच्छा द्वेष का फल नहीं था जिनसे राम क़रज़ा चुकाने की इच्छा करने से पहले, अभिज्ञ था। उद्देश्य का रूप आत्मतुष्टि थी जिसे राम प्राप्त करना चाहता था और

(१) Prolegomena by Greene p. 116, Sec. 103.

जिसको, ऋण चुका कर, उसने प्राप्त कर लिया। अवश्य उसकी प्रवृत्ति का रूप भी, आत्मतुष्टि की इच्छा ही थी परन्तु उस (राम) की इस प्रवृत्ति को न तो साधारण कोई एक प्रवृत्ति ही कह सकते हैं और न कतिपय प्रवृत्तियों का संघात ही, जो ऋण चुकाने की सम्मति स्थिर करने से पहले उस (राम) के भीतर थी और जो मनुष्यों के हृदयों में साधारण इच्छा द्वेष से उत्पन्न हो जाया करती हैं और न यह प्रवृत्ति वह प्रवृत्ति थी जिसे, विपक्ष के शब्दों में, प्रबल प्रवृत्ति कहा गया है, जो अन्य प्रवृत्तियों को दबाकर, अपना प्राबल्य दिखलाते हुए, कर्म का हेतु बन जाया करती है। राम ने जो विरोध होते हुए भी ऋण चुका दिया, इसके लिये कहा जा सकता है कि उसका चारित्र्यबल इच्छा-बल पर विजयी हुआ[१]।

ग्रीन ने, चारित्र्य-बल पर विचार करते हुए, अपनी सम्मति दी है कि जिसे हम चारित्र्यबल कहते हैं, उसीको प्रबल इच्छा-शक्ति भी कहते हैं। और प्रबल इच्छा-शक्ति का अभिप्राय दृढ़ व्यक्ति हुआ करता है जिसकी इच्छा प्रबल शक्तिमान हुआ करती है[२]। इस प्रकार चरित्र और इच्छाशक्ति पर विचार करते हुए, ग्रीन ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के विरोधी पुरुष जो कहते हैं कि मनुष्य के कर्म दो वस्तुओं का सम्मिलित फल हुआ करते हैं:—(१) चरित्र (२) परिस्थिति उनका यह कथन एक अंश में ठीक है और जिस अंश में ठीक

चारित्र्यबल और इच्छा-शक्ति एक ही है

(१) Prolegomena by Greene p. 116, 117, Sec. 104 and 105.

(२) Do. p. 118.

है उसमें भी वह कर्मस्वातन्त्र्य के विरुद्ध नहीं है[1]। जब इन दोनों को नैसर्गिक घटनाओं के रूप में या उसके रूपान्तर में, कल्पना किया जाता है, तभी ये इच्छास्वातन्त्र्य के विरुद्ध होते हैं।

मनुष्य जब अच्छी तरह से सोच समझ कर ऐसे विषयों को, जो अच्छे और ऐसे हों जिनसे उसकी आत्मतुष्टि होती हो, अपने भीतर समाविष्ट करता है तब उन्ही से उसका चरित्र बना करता है।

चरित्रनिर्माण व्यवस्था

जब इस प्रकार बने चरित्र से किसी कर्म का किया जाना निश्चय हुआ तो इसके अर्थ ये है कि वह कर्म, उस विषय या उद्देश्य द्वारा निश्चित हुआ, जिसे कर्त्ता ने अपना रक्खा है और इस अपनाने का कारण, वे कर्म हैं जिनको उस (कर्त्ता) ने, इस प्रकार करना निश्चय किया था। इस प्रकार कर्त्ता समझता है कि वह कर्म का कर्त्ता है[2]।

इच्छास्वातन्त्र्य के संबंध में, इस प्रकार मत प्रकट करते हुए, ग्रीन ने उसे और भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। यदि कहा जाय कि मनुष्य के कर्म, उसके चरित्र और परिस्थिति का परिणाम है तो उस परिणाम को अनिवार्य फल कहने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। परन्तु यदि वे इन दोनों (चरित्र परिस्थिति) का फल नहीं है अथवा अधिक अच्छी सूरत में यों कहना चाहिये कि वे चरित्र का, जिसका सम्पर्क

ग्रीन का मत इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में

---

(१) Prolegomena by Greene p. 118 and 119, Sec. 106.

(२) Do. p. 121, Sec 108.

कुछ परिस्थितियों से भी है, प्रकटीकरण नहीं है तो मानना पड़ेगा कि कोई और तीसरी वस्तु है जो कर्म की निश्चायिका है। अच्छा तो वह तीसरी वस्तु क्या है? कोई उत्तर दे सकता है कि वह मनुष्य का इच्छास्वातन्त्र्य है। इस पर ग्रीन कहता है कि या तो तुम इच्छास्वातन्त्र्य को समझे नहीं कि क्या वस्तु है? या इच्छास्वातन्त्र्य वह वस्तु है जो चरित्र के निर्मातृ अंगों में से एक मुख्य अंग है। इसलिये कर्म का आधार चरित्र समझना ठीक है।

परिस्थितियों के संबंध में, कि वे कर्म का कारण हैं, यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि यह कारणत्व इस प्रकार का है जो सब प्रकार की विवशताओं से मुक्त है।

यह कहना, कि कर्म परिणाम है और जो परिणाम है वह अपरिहार्य्य परिणाम चरित्र और परिस्थिति का है इसलिये कर्त्ता की उस कर्म के करने में परतन्त्रता है, विषय को गड़बड़ी में डालना है [1]।

---

(१) Prolegomena by Greene p. 122, Sec. 109.

अट्ठाईसवां अध्याय

जेम्स वार्ड ने, इच्छास्वातंत्र्य पर सम्मति देने से पहले, अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों पक्षों पर विचार करने के लिये, दोनों श्रेणियों के अनेक विद्वानों के मत प्रकट करते हुये, उनकी टीकाटिप्पणी की है। और यही टीकाटिप्पणी उसकी सम्मति थी मानो भूमिका है। जेम्स वार्ड की सम्मति और उसका आधार समझने के लिये इसलिये आवश्यक है कि उन सब पर एक दृष्टि डाली जावे। हम अत्यंत संक्षिप्त रीति से, उनका, यहां उल्लेख करते हैं:—

जेम्सवार्ड की सम्मति

जेम्स वार्ड ने पहले परतंत्रतावाद पर विचार किया है। परतंत्रतावादी प्रवृत्ति को शक्तिरूप में मानते हैं। जब मनुष्य कोई कर्म करना चाहता है तो उससे पहले ये प्रवृत्तियां आपस में संघर्षण करती हैं। इस संघर्षण का परिणाम यह होता है कि एक प्रवृत्ति सब में बलवान ठहरती है और वही कर्म का निश्चय किया करती है और उसी निश्चय के अनुकूल कर्म हुआ करते हैं। ग्रीन ने भी परतंत्रतावाद का कुछ इसी प्रकार के शब्दों में उल्लेख किया है जिसकी बात, ग्रीन की सम्मति प्रकट करते हुये, कही जा चुकी है। अस्तु, परतंत्रतावादियों के मतानुसार, जब प्रवृत्तियों का संघर्षण होता है और जब उनमें से बलवती एक, कर्म करने का निश्चय करके, उस निश्चय को, कार्य्य में परिणत किया करती है तब मनुष्य, एक अकर्मण्य दर्शक के रूप में, "टुक टुक दीदम दम न कशीदम"

परतंत्रतावाद और मनुष्य के कर्म

की कहावत के अनुसार, रहा करता है। प्रवृत्ति के इस संघर्षण को, जेम्स वार्ड ने, फ़जूल बतलाते हुये, लिखा है कि प्रवृत्तियों का संघर्षण करना ऐसा ही है जैसा कि यह कहना कि दूकानदार की अनुपस्थिति में, उसके, दूकान की वस्तुयें, आपस में एक दूसरे का सांमुख्य करते हुये, लड़ती हैं। होवस ने भी, यद्यपि परतंत्रतावादियों से मिलती जुलती बात कहते हुए प्रकट किया है कि अनेक इच्छाओं में से एक अन्तिम इच्छा, कर्म करने का निश्चय किया करती है, बाक़ी इच्छाओं का उस कर्म पर कोई प्रभाव नहीं रहा करता[1]। परन्तु जेम्स वार्ड ने इसे भी कोई महत्व की बात नहीं समझा है। वह कहता है कि प्रवृत्ति को कर्म का कारण न मान कर यदि यह माना जावे कि उससे कर्म करने की ओर मनुष्य की रुचि या झुकाव हो जाता है तो अधिक ठीक होगा[2]। वे (प्रवृत्तियें), बाह्यशक्ति के सदृश, कर्त्ता को गतिमान् या कुछ करने के लिये प्रवृत्त, नहीं बनाती बल्कि किसी अन्तःवस्तु की तरह, जेम्स वार्ड कहता है कि, कर्म करने की रुचि उत्पन्न कर दिया करती हैं। उसने अपना भाव स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया है:—

एक उदाहरण

भूख लगने से मनुष्य भोजन करता है। इस उदाहरण में भूख, गरमी से शीशा चटख जाने के उदाहरण में, जैसे गर्मी, वैसी नहीं

---

(१) English Works of Hobbes (Molesworth's Edition) Vol I p 408

(२) Pluralism and Theism by James Ward p. 283 and 284.

समझी जा सकती। पहले उदाहरण में कर्त्ता अपने कर्म से अवस्था बदल देता है परन्तु दूसरे उदाहरण में अवस्था अक्रिय वस्तु (शीशे) को बदल देती है परन्तु परतंत्रतावादी इनमें कोई अन्तर नहीं समझते।

होवस ने, जिसका अभी उल्लेख हुआ है, उस अन्तिम इच्छा के लिये लिखा है कि वह इच्छा मनुष्य के अधिकार से बाहर है और अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ करती है[1]।

होवस का तर्क

हेतु यह दिया जाता है कि मनुष्य की इच्छा उसकी प्रकृति पर निर्भर हुआ करती है। इसके सम्बंध में जब यह कहा जाता है कि मनुष्य की इच्छा प्रायः उसके चरित्र पर निर्भर हुआ करती है और उसके इस चरित्र ही से, उसकी प्रकृति भी, शासित होती है तो उत्तर इसका यह दिया जाता है कि उपलब्ध चरित्र का कारण, प्रकृति में हुये संशोधन, हुआ करते हैं और इन संशोधनों का कारण, परिस्थिति हुआ करती है इसलिये परिणाम वही निकला कि मनुष्य अपनी प्रकृति और परिस्थिति का बन्दा है।

जेम्स वार्ड ने, होवस के तर्क पर, विचार करते हुये लिखा है कि परिपक्वता और नई नई बातों की खोजों के प्रारंभ करने की योग्यता, इन दोनों बातों के सम्बंध में, इच्छास्वातंत्र्यवादियों का मत है कि मनुष्य में, उसके चरित्र से अलावे, हुआ करती है परन्तु

जेम्सवार्ड का उत्तर

(१) English Works of Hobbes (Liberty and Necessity) Molesworth's Edition, Vol. VI p. 274.

परतंत्रतावादी इसे नही मानते। इस पर, जेम्स वार्ड का कहना यह है कि, परतन्त्रतावादी चाहे इसे न स्वीकार करें परन्तु मनुष्य के जीवात्मा में, उससे कम योग्यता होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसके और जितने होने का मनुष्य स्वयं अनुभव करता है। अतः यह सम्भव नहीं है कि परतन्त्रता-वादियों के विचारों की संगति, मनुष्य के अनुभव से, लगाई जा सके[1]। इसके सिवा एक वात और भी है और वह यह कि कर्त्ता (मनुष्य) न तो जड़ होता है और न हालात से वेखवर बल्कि वह अच्छी तरह अपने उद्देश्य और परिणाम का ध्यान रक्खा करता है। इसलिये उन परिस्थितियों और हालात के सम्बंध में, जो उसके चारों ओर होते हैं, अपने उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुये, मनुष्य अपने कर्त्तृत्व को, इस प्रकार वदलता रहता है जिससे उन परस्थितियों और हालात को, अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधक वना सके। मनुष्य के उद्देश्य, किसी सार्वत्रिक नियम के आधीन नहीं होते हैं, उनके लिये केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे, किसी न किसी रूप में, आत्मरक्षा और आत्मोन्नति के सिद्धान्तान्तर्गत हुआ करते हैं। मनुष्य अपने चरित्र ही से निश्चय किया करता है कि किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करे। और इस प्रकार जो कुछ भी वह निश्चय किया करता है वह उसका, स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं निश्चय किया हुआ कार्य हुवा करता है, जो कोई, इससे इन्कार करता है, जेम्स वार्ड कहता है कि वह मानो अपनी आत्मसत्ता और अपने अनुभव से, इन्कार करता है[2]।

---

(१) Pluralism and Theism by James Ward p. 286–288.

(२) Do p 288 and 289

ह्यूम ने मन के लिये कहा है कि वह भिन्न भिन्न विचारों और अनुभवों का बंडल या संग्रह है जो सदैव गति या फैलाव में रहा करता है परन्तु उससे कोई विचार आत्मा की सत्ता का नहीं निकाला जा सकता[१]। इस पर बेन ने कहा है कि यदि वास्तव में कोई आत्मसत्ता हो तो मनोविज्ञान में उनके तीन विभागों (उद्वेग, इच्छा और बुद्धि) के सिवा एक चौथा विभाग आत्म-सत्ता (Self or me-ation) का बनाना पड़ेगा[२]।

ह्यूम और आत्मसत्ता

जेम्स वार्ड ने, ह्यूम और बेन के उपर्युक्त मतों का खंडन करते हुए, स्थिर किया है कि आत्मा अवश्य है। यदि उसे (आत्मा को) केवल विचारों और अनुभवों का बंडल कहें और उससे भिन्न कोई निश्चय और नियन्त्रण करने वाला आत्मा न मानें तो मनुष्य का फिर कोई उद्देश्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। इन सब बातों पर विचार करते हुए जेम्स वार्ड ने निश्चय किया है कि आत्मा है और इच्छा-स्वातन्त्र्यमय है[3]।

जेम्स वार्ड ने, इस इच्छास्वातन्त्र्य के संबंध में, एक तीसरे स्कूल का उल्लेख किया है। इस स्कूल के अनुयायी इच्छा-

(१) Treatise on Human Nature by Hume Vol. I p. 533 (Green and Gross Edition).

(२) The Emotion and the Will by Bain, Third Edition 1885, p. 492

(३) Pluralism and Theism by James Wards p. 290 and 291.

इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में एक तीसरा मत

स्वातन्त्र्य को आत्मनियतिवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसा स्वीकार करते हुए भी वे प्राकृतिक नियमों की परतन्त्रता मानने में, परतन्त्रतावादियों के साथ हैं[१]।

आत्मा अव्यक्त है और उसकी स्वतन्त्रता अनुभवातीत है

इस संबंध में कांट का मत

परन्तु उसका कर्त्तृत्व व्यक्त है और वह कर्त्तृत्व, आवश्यक रीति से, निश्चित है[२]।

कांट ने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि मनुष्य के समस्त कर्म, जहां तक वे व्यक्त होते हैं, प्राकृतिक नियमों के अनुकूल निश्चित हुआ करते हैं और यदि हम उनकी खोज करके पता लगावें तो मनुष्य का एक काम भी ऐसा न निकल सकेगा जिसकी, सूर्य्य ग्रहण की तरह, निश्चित रीति से, पेशीनगोई न की जा सके[3]।

इस पर जेम्स वार्ड ने लिखा है कि यदि मनुष्य के चरित्र नियत और अपरिवर्तनीय हैं ठीक उसी तरह जैसे सोने चांदी

जेम्स वार्ड का उत्तर

आदि धातुओं के गुण माने जाते हैं तो स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्यों के इतिहास का ज्ञान, ठीक उसी तरह से होने के योग्य है, जैसे

---

(१) Pluralism and Theism by James Wards p. 292

(२) Do. p 292

(३) Critique of Pure Reason (1st. Edition) p 550, M. M. S. translation p. 474, and Practical Reason (Harlenstain's Edition) Vol. V p. 104.

ग्रहों की चाल। और तब हम, अनुभव के आधार पर, चिरकाल से जमे हुये भाग्यवाद के सिद्धांत को भी स्वीकार करने के लिये तय्यार हो जावेंगे जैसा कि शौपनहार तय्यार था। इसके सिवा कान्ट ने जो परतन्त्रता की परिभाषा की है कि परतन्त्रता वह है जो दिये (ज्ञात) हेतुओं का अनुसरण करे। इसके संबंध मे जेम्स वार्ड कहता है कि यह परिभाषा, कान्ट को यह कल्पना करने में ठीक नहीं ठहरा सकती कि हेतु एक वार, सदा के लिये नियत, और अपरिवर्तनीय ठहरा दिये गये हैं[१]।



(१) कान्ट की परिभाषा का अंगरेज़ी अनुवाद यह है:—"That which follows from a given ground."

उन्तीसवां अध्याय

यदि आस्तिकवाद के प्रकाश में विचार किया जावे तो यह बात, आम तौर से, मानी जायगी कि पुराने मतमतान्तर के वादविवादों में जो सदियों तक चलता रहा है तर्क सदैव उस पक्ष का समर्थन करता रहा है जिसे आगस्टिन, एेक्वीनास (Aquinas), काल्विन, और एडवार्ड्स ने अपनाया था और जिसे त्रिकालज्ञता के नाम से कहा जाता है, जिस सिद्धान्त का भाव यह था कि "ईश्वर प्रत्येक घटना के घटित होने की आज्ञा देता है जिसमें कर्त्ता की इच्छा भी शामिल है और ऐसे निर्णा-यक निश्चय से आज्ञा देता है जिससे स्पष्ट हो जावे कि बिना किसी किन्तु परन्तु के घटनायें उसके निर्णीतव्य में सम्मिलित हैं[१]।"

त्रिकालज्ञता

दूसरे शब्दों में, यही बात, इस प्रकार कही जा सकती है कि प्रकृति के अन्य कारण इसकी स्वीकृति नहीं देते कि एक ही आदिकारण है। आस्तिकवाद की रू से, इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईश्वर में ऐसे ज्ञान की कल्पना की गई है जो अनुभव से सर्वथा स्वतंत्र है, कुछ तो वह स्वाभाविक है और कुछ नैमित्तिक। इस (ज्ञान) में वह (ज्ञान) भी शामिल है जिसका एक अंग ईश्वर भी है और जिसे हम जगत् से प्राप्त किया करते हैं और जिसके द्वारा मनुष्य जाना करता है कि

(१) Jonathan Edward's "Enquiry" 4th. Edition (1775 A. D.) p 4.

ईश्वर जिस जगत् को रचता है वह कैसा होना चाहिये। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और इन्हीं गुणों से संपन्न होने के कारण उसका नित्य और पूर्ण होना भी आवश्यक है।

जोनाथन इडवार्ड और त्रिकालज्ञता

"संसार का सब कुछ, पूर्ण रीति से, अनादिकाल से ईश्वर के ज्ञान में है। इसलिये उसके (जगत्सम्बंधी) आकार प्रकार और उद्देश्य ऐसी चीज़ें नहीं हैं जो नई बनी हों या जिनकी बुनियाद किसी नये ज्ञान पर अवलंबित हो बल्कि सभी नित्य बने रहने वाले उद्देश्य के लिये हैं[१]"।

इडवार्ड की इस सम्मति पर विचार करते हुये, जेम्सवार्ड ने लिखा है कि ईश्वर का विचार उपरोक्त भांति रखने से, किसी अन्य कारण या उद्देश्य के लिये स्थान बाक़ी नहीं रहता, नहीं असली जगत् के लिये भी कोई जगह बाकी रहती है जैसा कि एक स्काटिश प्रोफ़ेसर ने लिखा है:—

मारकस डाड प्रोफेसर स्काटलॅंड

"इस प्रकार से यदि ईश्वर, इस सबका असली कारण है तो जगत् के लिये कह देना पड़ेगा कि वह स्वयं ईश्वर का विकसित रूपमात्र है। न कोई जगत्-उत्पत्ति बाक़ी रहती है और न किसी अन्य की इच्छा, ईश्वरेच्छा के सिवा, बाक़ी रहती है जिसके अनुकूल कोई कर्म हुआ हो[२]।" इसलिये स्वीकार करना पड़ेगा जैसा कि लोज़े (Lotze) ने कहा है:— "घटनाओं के वास्तविक रूप में घटित होने से कोई नई

---

(१) Pluralism by James Wards p. 308.

(२) Rev. Marcus Dads. Ency. Brit. 9th. Edition, S. V. Predestination.

चीज़ प्रकट होनी चाहिये जो पहले न थी, और यह कि इतिहास, जगत् के नियमबद्धता के साथ उत्पन्न होने के वर्णन के साथ, कुछ और भी होना चाहिये"।

यह मतालिबा ऐसा है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस मतालिबा के पूरा करने से, उपेक्षा की दशा में, जगत् न केवल विचार के अयोग्य और व्याघातदोष-पूर्ण होगा बल्कि निरर्थक और अविश्वसनीय भी ठहरेगा[1]।

इन आक्षेपों के समाधान के लिये जो जो बातें कही गई हैं उन सबका समावेश ओरिजन (Origen) के इस प्रसिद्ध वाक्य में आजाता है:—"ईश्वर की सर्वज्ञता भविष्य मे घटित घटनाओं का कारण नहीं बल्कि उनकी भावी सत्ता ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण है कि वे होंगी[2]"।

प्रीस्टले (Priestly) का विरोध करते हुये प्रो० रीड ने, ईश्वर की त्रिकालज्ञता की संगति, इच्छास्वातंत्र्य के साथ, लगाने के लिये, भविष्य के ज्ञान का भूतकालिक स्मृति के साथ मुक़ाबिला किया है। उसने क्रियात्मक रूप में मान लिया है कि भूतकालिक स्मृति वही है जो एकबार भविष्य की ओर भावीस्मृति थी।

प्रो० रीड और त्रिकालज्ञता

रीड के उपर्युक्त मत पर विचार करते हुये, उसके शिष्य हेमिलटन ने लिखा है कि भूतकाल आवश्यक है यदि ईश्वर

---

(१) Metaphysics Sec. 65, E T. p. 117.

(२) Origen के शब्द ये हैं:—"God's pre science is not the cause of things future, but their being future is the cause of God's pre science that they will be"

हेमिलटन और त्रिकालज्ञता

का भविष्यज्ञान हमारी स्मृति से मिलता है तो इसका कारण यह है कि उस (ईश्वर) के लिये भूत और भविष्यत् दोनों एक जैसे हैं। न तो भूत ही कोई अचानक घटना है और न भविष्य ही ऐसा है[1]। हेमिलटन ने इस प्रकार सम्मति देते हुये भी प्रीस्टले का पक्ष नहीं लिया बल्कि पक्ष उसने रीड ही का लिया है।

एक और सुगम तरीके से त्रिकालज्ञता का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि यह प्रश्न हमारी समझ और अनुभव

त्रिकालज्ञता का एक अन्य प्रकार से समर्थन

से बाहर है। हेमिलटन ने इस विचार को इस रूप में रक्खा है कि "यह विषय समझने का नही अपितु विश्वास करने का है।" उसने यह भी कहा है कि समस्त प्रयत्न जो विद्वानों ने इस प्रश्न की संगति लगाने के लिये किये हैं, वे सभी निरर्थक और रद्द कर देने के योग्य हैं[2]।

जोनाथन एडवार्ड ने एक जगह लिखा है कि ज्यामिति की कोई साध्य ऐसी स्पष्टतया प्रकट करने योग्य नहीं है जैसा कि एक स्वतंत्र कर्त्ता की इच्छाओं का कि वह भविष्य में बिना किसी बन्धन के क्या करेगा, ईश्वर को पहले से ज्ञान हुआ करता है[3]।

राइस ने एक जगह लिखा है कि भविष्यज्ञान, ईश्वर को केवल उन्हीं बातों का होना सम्भव है जो साधारण हैं या किसी

(१) The Works of Thomas Reid, Hamilton's Edition, p. 631.

(२) The Pluralism by James Wards p. 311 and 312.

(३) Do. p 312.

प्रो० राइस त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में

ज्ञात कारण का निश्चित कार्य है परन्तु जो कार्य, कर्त्ता द्वारा, स्वतन्त्रता से किये जाते हैं उनका पहले से ज्ञान न तो किसी मनुष्य ही को हो सकता है और न ईश्वर ही को। एक ओर तो राइस इस प्रकार की वात कहता है और दूसरी ओर वह ईश्वर के लिये कहता है कि इस समस्त प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित तीनों काल की प्रत्येक वात का उसे पूरा ज्ञान है। परन्तु ईश्वर के इस भविष्यज्ञान को भविष्यज्ञान कहना ठीक नही है। यह ईश्वर का नित्य ज्ञान है[1]। राइस ने अपने इस कथन में, ईश्वर को भविष्य ज्ञान से वंचित ठहराते हुए उसे जो त्रिकालज्ञ कहते हुए तीनों कालों की प्रत्येक वात का ज्ञाता ठहराया है, जेम्स वार्ड की सम्मति में यह उसी प्रकार की गलती है जैसी अनेक ईश्वर-विश्वासी लोग किया करते हैं। ऐसे लोग ईश्वर और पूर्णकुल की दो पृथक् पृथक् सत्तायें समझा करते हैं। ब्रेडले ने भी इसी प्रकार से दो सत्ताओं के होने की वात कही है। उसके इस कथन को जेम्स वार्ड उचित रीति से उस कुत्ते का सा प्रयत्न समझता है जो दो स्वामियों के साथ चलना चाहता है[2]।

ब्रेडले कहता है कि पूर्णकुल (The Absolute) सव प्रकार से, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होना चाहिये परन्तु ईश्वर

ईश्वर के भेद

जिसकी सत्ता, उस (पूर्णकुल) से स्वतन्त्र है, वह सर्वज्ञ और सर्वक्तिमान् नहीं हो सकता।

(१) The World and the Individual by Prof. Royce Vol. II, p 374.

(२) C. F. Lacture by Bradley I I p. 44.

ईश्वर व्यक्तित्व (Personality) रखता है इसलिये उसके लिये कहा जा सकता है कि वह ज्ञान और अनुभव रखता है जगत् उसकी रचना अवश्य है परन्तु वह स्वयं जगत् नहीं है। पूर्णकुल, दूसरी ओर व्यक्तित्व नहीं रखता क्योंकि व्यक्तित्व रखने से उसके लिये भी आवश्यक हो जावेगा कि वह पृथक् हो और अन्य वस्तु उससे पृथक्। ऐसी अवस्था में जेम्स वार्ड का कहना है कि उस पूर्णकुल को ज्ञाता नहीं कह सकते शायद एक अस्पष्ट बात उसके लिये कही जा सके कि वह ज्ञान रखता है जिसके कुछ अर्थ न होंगे[1]।

ईश्वर और पूर्णकुल में भेद

संसार एक बाजा की तरह उत्पन्न नहीं हुआ है। सभी संभाव्य बातें हो ही जाया करें ऐसा कोई नहीं कह सकता। अनेक व्यक्ति असीम स्वतंत्रता रहित हैं अर्थात् उस स्वतंत्रता से रहित हैं जिसे उपेक्षा या पक्षरहित स्वतंत्रता कहते हैं और जिसे अचानक घटित हो जाने वाली स्वतंत्रता की कोटि में रक्खा जा सकता है। ईश्वर के रचे प्राणी, रचित होने पर भी रचना करते रहते हैं। द्वैतवादी कहते हैं कि उनका स्वभाव कुछ तो अपना है और कुछ अपने किये कर्मों से बना है, उन्हें करण (इन्द्रियां) दिये गये हैं चाहे वे उनका सदुपयोग करें या दुरुपयोग और यह भी है कि प्रत्येक संभाव्य बात प्रत्येक के लिये संभाव्य नहीं होती, तो भी उसके करने का प्रारम्भ प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे करण न

बीच का मार्ग

---

(१) Pluralism by James Wards p. 312 and 313.

दिये गये हों। संभवनीय बातों की, जो की जा सकती हैं, मात्रा नियत है और उस (मात्रा की) सीमा में रहते हुए हम जितना भी आगे जाना चाहें जा सकते हैं'।

मार्टीन्यू का कथन है कि एक असीम मस्तिष्क, जिसमें पूर्वदार्शिता भी है, प्रत्येक को दिया गया है और वह मस्तिष्क आश्चर्य और निराशता दोनों से ऊपर है + + बंधन वाले यांत्रिक जगत् में बंदी बनाने के स्थान में मनुष्य को स्वतंत्रता दी गई है कि वह यहां स्वतंत्रता से काम करे।

प्रश्न—क्या यह ईश्वर के भविष्य-ज्ञान की सीमाबद्धता नहीं है कि वह उन समस्त इच्छाओं और कर्मों का ज्ञान नहीं रखता जो मनुष्य भविष्य में करने वाले हुआ करते हैं ?

उत्तर—सीमाबद्धता तो है परन्तु यह स्वयमेव ईश्वर ही की उत्पन्न की हुई है कि उसने अपने कर्मप्रेरकत्व का एक भाग हम को दिया है और उसे वह अपनी सर्वज्ञता से आच्छादित नहीं करता।

डूगैल्ड स्टेवार्ट (Dugald Stewart) ने मार्टीन्यू के उपर्युक्त विचार और कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि ईश्वर ने, उत्तमोद्देश्य से पसंद किया है कि अपनी प्रजा के लिये कर्मस्वातंत्र्य का एक द्वार खोल दे और उसे अपनी सर्वज्ञता का क्षेत्र न बनावे तो इस में कुछ भी अनर्गलपन नहीं है।

जोवेट (Jowatt) ने लिखा है कि ईश्वर यद्यपि सब कुछ है परन्तु इस सब कुछ में यह शामिल नहीं है कि वह प्राणियों को प्रदान किये हुए कर्मस्वातंत्र्य में बाधा का कारण भी है।

---

(१) Pluralism by James Wards p. 315.

टेनीसन (Tennyson) ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य निस्संदेह एक चमत्कार है और यह चमत्कार ईश्वर ने, अपनी सर्वज्ञता का नियंत्रण और सीमित करते हुये, किया है और इसके द्वारा उसने स्वयमेव अपनी सत्ता का चमत्कार दिखाया है[१]। इन सब उपर्युक्त व्यक्तियों के विचार को प्रकट करते हुये, जेम्स वार्ड ने लिखा है कि इस कर्मस्वातन्त्र्य के सिद्धांत को स्वीकार करने से, पिछले जमाने में, कुछ लोगों ने, ईश्वर के सीमाबद्ध होने के विचार को, उत्पन्न किया और अनुचित रीति से उसका विस्तार किया[२]।

---

(१) In Memorium. Robinson' Edition p. 260.

(२) The Pluralism by James Wards p. 316.

तीसवां अध्याय

हेसर्टिग्स राशडाल ने, इच्छास्वातंत्र्य सम्बंधी लेख का प्रारम्भ करते हुये ही, इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जबतक इच्छास्वातंत्र्य न हो, आचार की सत्ता का विचार भी नहीं किया जा सकता इसलिये, वह कहता है कि यह आवश्यक है कि जगत्सम्बंधी विचार इस प्रकार के हों जिससे व्यक्तियों के कर्म, असली अर्थों में, स्वतंत्रता के साथ, उन्हीं के किये हुये समझे जा सकें।

आचारिक जीवन इच्छा-स्वातंत्र्य पर निर्भर है

एक साधारण व्यक्ति, इच्छास्वातंत्र्य के लिये अभ्यासवश कल्पना करता है कि उसके कर्म, किन्हीं पूर्व कर्मों या अन्य किन्हीं घटनाओं के फल नहीं हैं जो जगत् में, उन कर्मों के करने से पूर्व घटित हो चुकी हैं। और यह भी कि उसके पूर्व किये कर्मों के ज्ञान अथवा उसके पूर्व चरित्र की जानकारी अथवा उसके जन्मसिद्ध चरित्र के ज्ञान के आधार पर, जिसमें उसके किये हुये कर्मों से बहुतसा फेरफार होगया है, न तो स्वयं कर्त्ता न कोई अन्य पुरुष निश्चय के साथ, यह पेशीनगोई कर सकता है कि वह (कर्त्ता) भविष्य में, उस समय की परिस्थिति में, किस प्रकार से कौनसा काम करेगा यदि वह व्यक्ति अपने पहले किये हुये पापों पर दृष्टि डालता है तो ख़याल करता है कि यह नहीं करने चाहिये थे।

एक साधारण व्यक्ति इच्छा-स्वातंत्र्य को क्या समझता है ?

कुछ परवाह नहीं कि वह क्या था या उसने पहले क्या

किया था; इसकी भी कुछ परवाह नहीं कि किस प्रकार के संस्कार और वासनायें और किस प्रकार का चरित्र, वह इस संसार मे, जन्मसमय, अपने साथ लाया था और भी अन्य अवस्थायें उस समय तक, सबकी सब वैसी ही बाक़ी रहें, तब भी, कर्त्ता के वे कर्म, (बिना उसके किये) बिना किये हुये ही बाक़ी रहेंगे। और उस साधारण व्यक्ति के हृदय में, दृढ़ता के साथ, यही विचार बना रहेगा कि जो कर्म, अनेक प्रकार के कर्मों में से छांट कर, स्वतंत्रता के साथ, उसने किये हैं, वे पूर्व से निश्चित नहीं थे और यह भी निश्चित है कि कोई भी उन कर्मों की, भूत और वर्तमान पर ध्यान देकर पेशीनगोई नही कर सकता था। इच्छास्वातंत्र्य का यही अभिप्राय एक साधारण व्यक्ति सोच सकता है।

इससे दार्शनिक भी सहमत हैं

अनेक ऐसे दार्शनिक भी हैं जो खुले शब्दों मे, यह कहते हैं कि एक साधारण व्यक्ति ने इच्छास्वातंत्र्य को, जो कुछ समझा है, ठीक है और उसकी इस बात का भी अनुकरण करने के लिये वे तय्यार हैं कि यदि इस भांति इच्छास्वातंत्र्य न हो तो फिर आचार का कोई मूल्य बाक़ी नही रह सकता।

परतंत्रतावादी इसके विपरीत हैं

परन्तु परतंत्रतावादी इसके सर्वथा विरोधी हैं। उनका कथन है कि मनुष्य के सभी काम उसकी बनावट या उसके जन्मसिद्ध स्वभाव का अनिवार्य्य फल होते हैं अवश्य उस बनावट या स्वभाव में उन प्रभावों के कारण जो भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों से उसके जन्म से लेके कर्म करते समय तक कुछ परिवर्तन हो जाया करते हैं और उन्ही परिवर्तित बनावट या स्वभाव के कार्य मनुष्य के कर्म हुआ

करते हैं। इस प्रकार मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं अपितु परतन्त्र ही है। यदि मनुष्य के स्वभाव और परिस्थिति का ठीक ज्ञान हो तो उन्हीं के आधार पर, भविष्य में उनके किये जाने वाले, कर्मों की पेशीनगोई भी की जा सकती है। राशडाल ने दोनों पक्षों का, भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाय, इसके लिये एक उदाहरण दिया है। वह कहता है कि कल्पना करो दो भाई एक साथ पैदा हुये हैं और उनके जन्मसिद्ध स्वभाव एक ही हैं और उन पर एक ही प्रकार की परिस्थितियों के प्रभाव जन्म से लेकर, कर्म करते समय तक, पड़ते रहे हैं तो परिस्थिति (नियति) वादियों के अनुकूल २० वर्ष की आयु में उन दोनों के चरित्र एक होंगे और एक ही जैसे हालात में वे एक ही प्रकार के कर्म भी करेंगे परन्तु कर्मस्वातंत्र्यवादियों के अनुसार उनमें से एक सन्त और दूसरा दुष्ट बन सकता है।

राशडाल का कथन

राशडाल ने इन परिस्थितिवादियों के इस विचार पर, विचार करते हुये कि क्या मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के नियमों का मर्मज्ञ, मनुष्य के पिछले कर्मों के आधार से, उसके भावी चरित्र को बतला सकता है, लिखा है कि चरित्र का सम्बंध मस्तिष्क और नाड़ीगुच्छक से है और इसलिये किसी आदमी के भूतकाल के वास्तविक चरित्र से उसके आगामी चारित्र का यथार्थ विवरण नहीं दिया जा सकता। चरित्र में सदैव अविकसित संभावनायें सम्मिलित हुआ करती हैं किसी नई उत्तेजना के प्राप्त होने पर, किसी नई योग्यता के विकास अथवा किसी विकसित योग्यता के पुनर्विकास के रूप में, जो परिवर्तन उत्तरचरित्र में हो जाया करता है उसका यथार्थ विवरण बीते हुये

चरित्र के आधार से नहीं दिया जा सकता[1]। वह कहता है कि यह बिलकुल सम्भव है कि एक आदमी का चरित्र ऐसा हो कि एक खास प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होने पर वह ६६ वार एक ही प्रकार के कर्म करे परन्तु सौवी वार बिलकुल दूसरे प्रकार का। यह भी संभव है कि एक पुरुष की बनावट ऐसी हो कि एक हजारबार सुने हुये सरमनों का, उस पर कुछ भी असर न हो परंतु बिलकुल संभव है कि एक हज़ार एकवीं वार उस पर इतना प्रभाव पड़े कि उसका सारा जीवन उलट पुलट हो जावे।

चरित्र का परिवर्तन होना

इसलिये राशडाल का कहना है कि परिस्थितिवादियों के लिये जो यह कहा जाता है कि इनके सिद्धान्त के अनुसार, चरित्र में परिवर्तन नहीं हो सकता, ठीक नहीं है। और यह भी ठीक नहीं है कि जबतक वाह्य परिस्थिति मे कोई नई बात न हो चरित्र नहीं बदल सकता+ + + न केवल कर्म बल्कि मनुष्य के उद्देश्य, प्रवृत्ति, बल्कि कर्त्तृत्वनियम भी, बदल कर सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। परन्तु यदि चरित्र का मतलब कोई यह लेवे कि मनुष्य की सभी योग्यताओं की वह समष्टि है जिन (योग्यताओं) से भिन्न २ प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न हुआ करती है तो बेशक मानना पड़ेगा कि परिस्थितिवादियों के सिद्धान्तानुसार चरित्र नहीं बदल सकता। परन्तु चरित्र का अभिप्राय आचारिक नियमों के अनुसार यह नहीं लिया जा सकता + + + आचार के दृष्टिकोण से, चरित्र निःसन्देह एक अनुभूत घटना है। परिस्थिति अथवा अनियतिवाद जिसको

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 302–304

नही मानता, राशडाल ऐसे दोनों पक्षों से सहमत नहीं है[1]। वह कहता है कि परिवर्तन जो मनुष्य की प्रवृत्ति और उत्तेजनाओं में होते हैं वे सदैव बुद्धिपूर्वक नही होते जैसा कि शौपनहार ने कहा है:—मनुष्य पश्चात्ताप इच्छाशक्ति के परिवर्तन से नही अपितु ज्ञान के परिवर्तन से किया करता है[2]।

इस प्रकार राशडाल ने दोनों पक्षों से सहमत न होते हुए एक प्रश्न दोनों पक्ष वालों के सन्मुख रक्खा है:—

एक प्रश्न

वह क्या कारण है जिससे एक इच्छित विषय एक की अपेक्षा, दूसरे को, अधिक अपील किया करता है? कहा जाता है कि मनुष्य सदैव अधिक बलवती प्रवृत्ति के आधार पर काम किया करता है। राशडाल यही जानना चाहता है कि वह क्या हेतु है जिससे एक व्यक्ति की एक खास इच्छा, दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा की अपेक्षा, अधिक प्रबल हो जाती है?

परिस्थितिवादी का उत्तर

परिस्थितिवादी इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि वह कारण जिससे मनुष्यों में इच्छाभेद हो जाता है अथवा कोई विशेष इच्छा बलवती हो जाती है, मनुष्य के भीतर मौजूद होता है और उसका प्रारम्भ जन्मसिद्ध प्रकृति के रूप में हो कर, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं जैसा ऊपर कहा जा चुका है कर्म करने

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 305

(२) The World as Will and Idea, Eng Trans. I p. 382.

के समय यह जिस परिवर्तनरूप में हो जाती है वही वह कारण हो जाता है इस प्रश्न में जो पूछा गया है।

वह कारण कर्म करते समय ही उत्पन्न हो जाता है जिसकी पहले कोई सत्ता नहीं थी और न वह किन्हीं ऐसे कारणों का परिणाम होता है जो पहले से उपस्थित होते हैं। वह कारण बिलकुल नया उत्पन्न हुआ होता है। और इस नये कारण के उत्पन्न करने की योग्यता कर्त्ता में वार वार कर्म करने से, स्वयमेव आ जाया करती है। यह कर्म आत्मा की ओर से होते है परन्तु यह आत्मा अपना ही उत्पन्न किया हुआ होता है[1]।

इच्छास्वातन्त्र्यवादी राशडाल का उत्तर

इन प्रश्नोत्तरों पर विचार करते हुये राशडाल कहता है कि इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के प्रकट किये हुये कारण के लिये, जो उन्होंने प्रकट किया है कि उसका कोई संबंध चरित्रादि से नहीं है यह बात अनुभव के विरुद्ध है और यह बात भी कि उनके प्रकट किये हुये कर्म के प्रेरक आत्मा की भी कोई स्थिरता नहीं है, विचार योग्य नहीं है। अधिक से अधिक इच्छास्वातन्त्र्यवादी जो कह सकते हैं वह यह हो सकता है कि कर्म जो पूर्व से अनिश्चित इच्छा द्वारा होते हैं वे एक साधन उत्पन्न करते हैं जो चरित्रनिर्माण का हेतु हुआ करता है यह साधन हो तो सकता है परन्तु इसे छोटे से छोटा, साधन ही कहा जा सकता है। राशडाल का कहना है कि १०० में से ६६ हिस्से चरित्र के वंशपरम्परा, शिक्षा, परिस्थिति

इच्छास्वातन्त्र्य और राशडाल

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 306 and 307.

और जन्मसिद्ध प्रकृति से बने हुये होते हैं, केवल सौ वां ($\frac{1}{100}$) भाग उपर्युक्त अनिश्चित इच्छा से किए हुये कर्मों से बना हुआ हो सकता है। इतना अल्पभाग ही क्यों न हो परन्तु कर्त्ता के कर्मस्वातन्त्र्य के सिद्ध करने के लिये इतना ही काफ़ी है जैसा कि प्रो० चैंडलर (Prof Chandler of Oxford) ने कहा था "इच्छास्वातन्त्र्य की सिद्धि के लिये एक कर्म का भी स्वतन्त्रता से किया हुआ होना, काफी है[1]।" इस पर राशडाल ने कहा है कि यथार्थ में इस बात की ज़रूरत नहीं है कि कोई एक सर्वथा पृथक् कर्म इच्छास्वातन्त्र्य से किया हुआ कहा जाय अपितु इतना कहना ही काफी होगा कि मनुष्य के कर्म, उसके परिपक्व चरित्र के कारण, केवल दो नहीं, बल्कि तीन हैं, (१) जन्मसिद्ध प्रकृति (२) परिस्थिति और (३) पूर्व से अनिश्चित इच्छा[2]।

आत्मपरिस्थितिवाद

आगे चल कर राशडाल ने परिस्थितिवाद पर विचार करते हुये बतलाया है कि अत्यन्त आवश्यक है कि प्रचलित परिस्थितिवाद से, उस परिस्थितिवाद को, पृथक् किया जावे जो आत्मसत्ता को, स्वीकार करता है और मनुष्य के कर्म का संबंध, उसी आत्मा के चरित्र से, जोड़ा जावे। और उस यान्त्रिक परतन्त्रतावाद से उसका नाता तोड़ दिया जावे, जो कर्मों को, एक दूसरे कर्मों के कार्य्य होने की शिक्षा देता है अथवा जो बतलाता है कि कर्म, भौतिक घटनाओं के, जिनको भी, कर्म ही कहा जाता है और जिनके साथ

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p 307 and 308

(२) Do p. 308

आत्मशक्ति भी सम्मिलित की जाती है, फल होते हैं[1]। इस भेद किये हुये परिस्थितिवाद का नाम, जिसका वह समर्थक है, "आत्मपरिस्थितिवाद" उसने रक्खा है। उसने एक दूसरी जगह यह भी लिखा है कि आत्मपरिस्थितिवाद में, आत्मा आचारिक नियमों से, प्रभावित होता है और यह वाद केवल हर्षवाद से सर्वथा पृथक् अथवा उसके विपरीत है[2]।

आत्मपरिस्थितिवाद के समर्थक

राशडाल कहता है कि अनेक पुरुष असल में आत्मपरिस्थितिवादी हैं परन्तु परतन्त्रता(परिस्थिति)वाद से बचने के लिये अपने को इच्छास्वातन्त्र्यवाद का पोषक कहते हैं। सेंट थामस एक्वीनस (St. Thomas Aquines), हेगल (Hegil) और इङ्गलैंड के दार्शनिक ग्रीन आदि इसी प्रकार के, इच्छास्वातन्त्र्यवादी हैं इसके विरुद्ध प्रकृतिवादी, हर्षवादी[3] और अन्य भ्रमोत्पादक संस्थायें जो परतन्त्रता शब्द के चारों ओर एकत्रित हैं, यदि अपने को इच्छास्वातन्त्र्यवादी कहें तो बिलकुल ठीक होगा परन्तु इच्छास्वातन्त्र्यवाद का अभिप्राय उपर्युक्त आत्मपरिस्थितिवाद ही से पूरा होगा। राशडाल ने अपने को इसी आत्मपरिस्थितिवाद की कोटि में रक्खा है[4]।

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 309.

(२) Do p 310.

(३) Hedonism—The doctrine that the chief good of man lies in the pursuit of pleasure

(४) Theory of Good and Evil by Rashdall p. 310.

यह वादविवाद तीन अवधियों में होकर प्रचलित समय तक पहुँचा है।

इच्छास्वातन्त्र्य और परतंत्रतावाद का इतिहास

(१) प्रारंभ में यह केवल धार्मिकवाद के रूप में था और उस समय इस वाद का मूल यह था कि किस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की, ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से, संगति लगाई जावे? उस समय जिन पुरुषों का विचार यह था कि मनुष्यत्व का विस्तार हो, वे इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक थे परन्तु जो इलहामी मतों के उत्साही पुरुष थे, परतन्त्रतावाद के समर्थक थे। परन्तु यूनान के पादरी, जिनको दार्शनिक शिक्षा मिली थी, स्वतन्त्रता के समर्थक थे। इससे भिन्न अफ्रीका के अर्धसभ्य और अन्य पश्चिम के निवासी परतन्त्रता के पोषक थे। लूथर और उसके सुधार के समर्थक सभी परतन्त्रतावादी थे। इरासमस (Erasmus) और मनुष्यत्व के प्रसारक, इच्छास्वातन्त्र्यवाद, के पोषक थे।

इस वाद के दूसरे दर्जे में भी विवाद का क्षेत्र मुख्य करके धार्मिक था और उस समय के विवाद का मूल यह था कि

दूसरा दरजा

कार्य्यकारणवाद से किस प्रकार आचारिक स्वतन्त्रता की संगति लग सकती है। होबस (Hobbas) के समय से जो लोग ईसा के ईश्वरत्व अथवा ईश्वर की सत्ता में सन्देह करने वाले थे और ईसाई धर्म में विश्वास नही रखते थे प्रायः सभी परतन्त्रता-वाद का समर्थन करते थे परन्तु धर्म और आचार के विश्वासी आमतौर से इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक थे।

वर्तमान समय में पहले दोनों समयों के विवाद की मूल बात तो ज्यों की त्यों विवादास्पद बनी हुई है ही, उनमें अवश्य

तीसरा दरजा

वृद्धि हुई है और जो वृद्धि हुई है वह परतन्त्रतावाद के समर्थन मे हुई है और उस वृद्धि के कारण ये हैं। (१) इस बात की खोज से कि योग्यता और स्वभाव मे घनिष्ट संबंध है। (२) मस्तिष्क और नाड़ीगुच्छक की अन्वेषणा से। (३) विकासवाद प्रतिपादित वंश-परंपरा के ज्ञान से। (४) अपराधों के अङ्कों का औसत, प्रायः एक जैसा बना रहने से। (५) इस बात की जानकारी से कि व्यक्तियों के चरित्र सामाजिक परिस्थिति से गहरे प्रभावित होते हैं[1]। इन बातों को राशडाल ने अनुभव और परीक्षण का फल बतलाते हुए लिखा है कि यदि मनुष्य की सहज बुद्धि ने स्वाभाविक स्वतन्त्रता को न छोड़ दिया तो विज्ञान और दोनों की प्रचलित प्रवृत्ति परतन्त्रतावाद की ओर है ऐसा समझना चाहिये[2]।

राशडाल ने इन कारणों में से कुछ पर प्रकाश पड़े इसलिये मन और मस्तिष्क के संबंध पर विचार करते हुये लिखा

मस्तिष्क ढांचा और शक्ल

है कि यह बात अच्छी तरह से समझ ली गई है कि मनुष्य की शक्ल ढांचा मस्तिष्क की योग्यता और नाडीगुच्छक एक ओर तो संस्कार और कर्तृत्व दूसरी ओर, इन दोनो में संबंध है उसने उदाहरण में दक्षिण इटली और स्पेन के निवासियों को पेश किया है और लिखा है ये लोग अंग्रेज़ों और स्केण्डनेविया वालों की अपेक्षा अधिक क्रोधी (तुनक मिजाज) भावुक और

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 310 and 311

(२) Do p. 311 and 312.

लड़ने के लिये शीघ्र तय्यार हो जाने वाले होते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि यह अपनी स्वतन्त्रता का अधिक उपयोग करते हैं वल्कि इसका कारण यह है कि ये लोग मस्तिष्क और नाड़ियों की विभिन्न वनावट के साथ ही पैदा होते हैं। इस संवंध में यह कहा जा सकता है और उचित रीति से कहा जा सकता है कि यहां केवल व्यक्तियों की भावुकता और रोगसंवंधी सार्वत्रिक स्वभाव पर विचार किया गया है इसका संवंध मनुष्यों के व्यक्तिगत सदाचार से नहीं है। या मनुष्यों की प्रकृति का विचार किया गया है जो मनुष्यों को अच्छा या वुरा कर्म करने की उत्तेजना देती है उनके वास्तविक कर्त्तृत्व का यह विचार नहीं है। इसके उत्तर में राशडाल कहता है किसी जाति के कर्त्तृत्व पर विचार करें कि क्या होगा तो औसतन वह वैसा ही निकलेगा जैसा उस ज ति के व्यक्तियों की भावुक प्रवृत्तियां होती हैं। उसने यह भी लिखा है कि संभव है कि भौतिकविज्ञानसंवंधी योग्यता वढ़ने पर मनुष्य की वास्तविक इच्छा जानी जा सके और उसके उन स्वभावों का ज्ञान भी हो सके जिनके विरुद्ध मनुष्य का अन्तरात्मा काम करता है और वह हद भी जानी जा सके जहां तक जीव अच्छी या वुरी प्रकृतियों को सह लिया करता है और स्वयं उन प्रकृतियों के प्रकार का भी ज्ञान हो सके। क्योंकि यह स्पष्ट है कि जातियों के शारीरिक भेद जितने ही वढ़ते जाते हैं उतना ही उनका आचारभेद भी वढ़ता जाता है[१]। और यह तो अब भी स्पष्ट है कि सिर में गहरी चोट लगने से मनुष्य की दिमागी हालत वदल जाती है।

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 310, 311, 312.

लोम्बरोसो (Lombroso) और उसके अनुयायियों ने एक सिद्धान्त स्थिर किया था कि जो लोग अपराध किया करते हैं उनके मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के होते हैं। यद्यपि यह वाद स्थापित नहीं हो सका परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि कम से कम, इस प्रकार के अपराधी अधिक से अधिक कम दिमागी योग्यता के मनुष्य होते हैं, उन के चेहरे की रेखायें और दृष्टि का प्रभाव भी तेजस्विताशून्य हुआ करता है।

लोम्बरोसो का सिद्धान्त

इनका वर्णन करते हुये राशडाल ने लिखा है कि किन्ही किन्ही सूरतों में शरीर की बनावट और चरित्र में ऐसा खुला और स्पष्ट संबंध होता है कि उनको कारण और कार्य्य कहने मे जरा भी संकोच नही हो सकता। राशडाल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसने जो कार्य्यकारण संबंध वर्णन किया है यह उसी भाव और अर्थ में है जिस भाव और अर्थ मे यह भौतिकविज्ञान मे प्रयुक्त होता है। यह सब कुछ कहते हुये उसने अन्त में कहा है कि यह बात याद रखनी चाहिये कि जो बातें प्रमाणरूप में ऊपर कही गई हैं वे इस बात के सिद्ध करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त हैं कि केवल शारीरिक अवस्थायें ही मानसिक और आचारिक अवस्थाओं के, एकमात्र, कारण हैं। परन्तु उनसे यह ज़रूर मालूम होता है कि प्रवृत्ति यह है कि ये इन शारीरिक अवस्थाओं को मनुष्य कर्म से पहले होने वाले कारणों में सम्मिलित करना आवश्यक है। और यह भी कि मनुष्यों के कर्म यदि पूर्ण रीति से भौतिक कारणों के परिणाम

शरीर की बनावट का चरित्र पर प्रभाव

नहीं हैं तो कम से कम कारणों से तो अवश्य निश्चित होते हैं[1]।

मस्तिष्क के सम्बन्ध में विचार करते हुये राशडाल ने लिखा है कि "हमको स्वयं मस्तिष्क का कुछ अनुभव नहीं है। परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि मस्तिष्क में कुछ और शामिल है जो मस्तिष्क नहीं किन्तु उससे भिन्न है और उसी से हम काम लेते हैं और यह भी याद रखना चाहिये कि जब एक आदर्शवादी मस्तिष्क को कारणरूप मे देखता है तो उसका यह देखना केवल सापेक्षिक होता है यथार्थरूप में नहीं क्योंकि मस्तिष्क की सत्ता केवल मन के लिये है। राशडाल ने यह प्रकट किया है कि मन का शरीर से क्या सम्बन्ध है यह विषय इस प्रकरण में नही आता परन्तु इस प्रश्न का कोई भी पहलू उपर्युक्त कथन के विपरीत नही जिस (कथन) में दो बातें शामिल हैं:—

(१) जीवात्मा का असली कारणरूप मे होना (२) अन्तिम सत्ता का आत्मिक रूप में होना[2]।

राशडाल[3] ने, वंशपरपरागतवाद को, इच्छास्वातन्त्र्य का

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 311, 312. 313.

(२) Do p 313 Foot Note.

(३) डारविन ने जिस वशपरम्परागत सिद्धान्त की मुख्यता दी थी आज उसका उतना मान नहीं है इसीलिये राशडाल ने लिखा है:— There are the familiar facts of heredity, emphasized by modern biological investigation, but not really much better known to us than to those who lived before Darwinism and the ideas associated wiht it were dreamed of. (Do. p. 313 and 314).

विरोधी समझा है उसका कहना है कि बालक और उसके माता पिता की सूरत में प्रायः मेल होता है। इसी प्रकार का मेल, बालक के चरित्र और उसके दूर के पूर्वज या किसी कुनबे के अन्य सम्बंधी के चरित्र से प्रायः देखा जाता है। अतः स्पष्ट है कि कर्मस्वातन्त्र्यवादियों के पक्ष का, यह अनुभव भी द्योतक है।

वंशपरपरागत
Heredity

मनुष्य के जन्मसिद्ध चरित्र के सम्बंध में, इसी वंशपरंपरा पर विचार करते हुये, राशडाल, कहता है कि यदि गर्भविकास-सम्बंधी हमको पूरा ज्ञान होता तो इस (जन्मसिद्ध) चरित्र का निश्चयात्मक विवरण दिया जा सकता था, परन्तु अब इस के ज्ञान को वैसा ही कह सकते हैं जैसे ऋतुविद्या के आधार पर वर्षा आदि की पेशीनगोई की जाया करती है। यह स्पष्ट है कि यह पेशीनगोई बहुत ग़लत और अधूरी निकला करती है परन्तु फिर भी ऋतुविद्या एक विद्या मानी ही जाती है, इसी प्रकार उन साधनों को भी, चाहे वे ऋतु-विद्या की भांति, कितने ही अधूरे क्यों न हों, एक विद्या कह सकते हैं[1]।

गर्भविकास का अधूरा ज्ञान

राशडाल अपराधों के अंकों वाली दलील पर विचार करते हुये कहता है कि इन अंकों के आधार पर हम यह पेशीनगोई कर सकते हैं कि लंडन में एक वर्ष के भीतर कितने आदमी आत्मघात करते हैं इसमें बहुत थोड़ी भूल की संभावना

(२) अपराधों के अंकों का औसत

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 313 and 314.

हो सकती है यदि किसी देश में आत्मघात का औसत बढ़ जावे तो राशडाल कहता है, कि उसके कारण इस प्रकार के हो सकते हैं—

(१) उसकी सामाजिक अवस्था में कुछ विगाड़ हो गया है।

(२) यह भी उसका कारण हो सकता है कि वहां के निवासी प्रोटिस्टेंट मतानुयायी हों रोमन केथोलिक न हों।

(३) या अनिवार्य्य फ़ौजी सेवा लेने में निर्दयता की गई हो।

(४) या भूमि की मिलकियत कृषकों की न हो बल्कि जिमींदारों की हो।

इन और इन्हीं प्रकार के कारणों से अंकों के न्यूनाधिक्य का कारण बतलाया जा सकता है परन्तु इनका कारण इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता[1]।

संभावनावाद (Doctrine of Probabilities)

"अधिक संभवनीय विचार नियम के आधार से मनुष्य के भावी चरित्र की पेशीनगोई, वर्षा आदि के पेशीनगोई की अपेक्षा, अधिक शुद्धता के साथ, की जा सकती है। राशडाल ने यह युक्ति हलडेन महाशयों के लेखों के आधार से दी है[2]।

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 314–316.

(२) Pathway to Reality by R. B. Holdane Vol. I, p. 240 also Dr. J. S. Holdane's two Gay's Hospital lectures on Life and Mechanism.

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य के भीतर जन्म ही से अच्छाई या बुराई के ओर जाने की प्रवृत्ति हुआ करती है और यह कि यह प्रवृत्ति शिक्षा और भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से, परिवर्तित हुआ करती है और यह भी कि ये परिवर्तित प्रवृत्ति, मनुष्य के चरित्र को, प्रभावित करती रहती है परन्तु मनुष्य इन प्रवृत्तियों के कारण अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। इनके अच्छा या बुरा कहने या असली कारण मनुष्य के चरित्र का वह भाग है जो जन्मसिद्ध चरित्र और परिवर्तित प्रवृत्तियों के, एक जैसा होने पर भी, मनुष्यों में विभिन्नता पैदा करता है[1]।

आचारिक उत्तरदायित्व के लिये क्या इच्छास्वातन्त्र्य अनिवार्य्य है ?

राशडाल ने यह वर्णन करते हुये कि परिस्थितिवाद में भी मनुष्य के चरित्र परिवर्तन की गुंजाइश है, आत्मपरिस्थिति-वाद का इस प्रकार समर्थन किया है कि यह बिल्कुल भ्रम है कि मनुष्य के वर्त्तमान कर्म भूत कर्मों के परिणाम हैं। अवश्य पिछले कर्मों के आधार से, वह कहता है कि आगे के कर्मों का अनुमान किया जा सकता है। वर्त्तमान कर्म का कारण पिछले कर्म नहीं किन्तु वह आत्मा है जो पिछले कर्मों का भी कारण है उसने यह भी कहा है कि वह आत्मा न तो कोई एक घटना है न कुछेक घटनाओं का क्रम है इच्छा, भाव और अन्य मनोवैज्ञानिक प्रभाव, जिनके लिये कहा जाता है कि आत्मा को गति देते हैं, उनकी आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। आत्मा प्रत्येक में मौजूद है और

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 318.

वे जो कुछ हैं उसी आत्मा के बनाये हुये हैं[१]। राशडाल ने यह भी लिखा है कि यांत्रिक कार्य्यों में वर्त्तमान का निश्चय भूत से हुआ करता है परन्तु मनुष्यों के कर्म के सम्बन्ध में इसके विपरीत यही कहा जा सकता है कि भविष्य से वर्त्तमान का निश्चय होता है। यह सच है कि जो भविष्य वर्तमान का निश्चय करता है उसे वर्त्तमान में विचार के रूप में होना चाहिये[२]। राशडाल ने उपर्युक्त वाद को स्थापित करने में जैम्सवाद और टेलर के विचारों का आश्रय लिया है[३]। राशडाल ने बहुत अच्छे शब्दों में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है "केवल विचार परिणाम (फल) उत्पन्न नहीं करते। विचार यद्यपि आत्मा के समस्त स्वभावों से पृथक् होते हैं परन्तु वह इच्छा को प्रभावित करते रहते हैं और उसका परिणाम कर्म के रूप में प्रकट होता है। साथ ही यह कहना भी सर्वथा सत्य है कि इच्छा भी विचारों को प्रभावित किया करती है। इसलिये कर्म न केवल उन विचारों का परिणाम है जिन्होंने, उस कर्म से पहले, मनुष्य के मस्तिष्क को घेर रक्खा था, किन्तु समष्टि रूप से, मनुष्य की सभी शक्तियों के समुदाय का नतीजा हुआ करता है। इसलिये मनुष्य न केवल ज्ञान और अनुभव रखता है किन्तु यत्नशीलता भी उसका स्वभाव है[४]।"

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 326 and 327

(२) Do. p. 327.

(३) The Naturalism and Agnosticism by Prof. James Ward p. 108 and 189 also Prof. Taylor's Elements of Metaphysics Book IV Ch: V p. 316.

(४) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 327.

राशडाल कहता है कि इस परिस्थिति या परतन्त्रतावाद से लोगों के घृणा करने का कारण यह है कि ये परतन्त्रतावादी कहते हैं कि कार्य और प्रतिकार्य, जो विचारों के बीच होते रहते हैं, मनुष्य उनका केवल रंगमंच है जो स्वयं अकर्तृत्व के साथ उन्हे सह लेने के सिवा कुछ नही कर सकता परन्तु राशडाल कहता है कि आत्मपरिस्थितिवाद ऐसे किसी कथन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नही ले सकता, जिससे आत्मा के असली कारणत्व या कर्त्तृत्व में वाधा पहुंचती हो वल्कि कुछ आत्म-परिस्थितिवादी तो यहां तक कहते हैं कि असली कारणत्व आत्मा के सिवा और कुछ नही है और जव यह कहा जाता है कि यह या वह भौतिक या अभौतिक घटना इसी प्रकार की एक दूसरी घटना का कारण है तो इस कथन के द्वारा केवल यह प्रकट किया जाता है कि किस ढंग और क्रम से चेतनापूर्ण इच्छा काम करती है जव इस प्रकार की घटनायें मनुष्य या इसी प्रकार की अल्पज्ञतापूर्ण इच्छा से निश्चित नही होतीं तो वे ईश्वरीय इच्छा का फल होनी चाहियें[1]।

परिस्थितिवाद से घृणा का कारण

परिस्थितिवाद का असली स्वरूप

उपर्युक्त वर्णन के बाद राशडाल कहता है कि अब यह मान लेना चाहिये कि हमने परिस्थितिवाद को आत्मपरिस्थितिवाद के रूप ही में ग्रहण किया है। इससे हमारे स्वतन्त्र निर्णय के जायज़ होने का भाव नष्ट नही होता है।

राशडाल का मत

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 328.

चरित्र का अर्थ यह है कि वह समस्त आत्म-शक्तियों का संयोग है जिससे एक विशेष प्रकार के इच्छित कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है[1]।

चरित्र का अर्थ

अपने स्वीकृत परिस्थितिवाद को स्पष्ट करने के लिये राशडाल ने लिखा है कि वह भाग्यवाद नहीं है उस (भाग्यवाद) का उसने एक उदाहरण दिया है कि यदि एक तुर्क के घर में आग लग जावे तो वह बैठा हुआ हाथ पर हाथ रक्खे उसे देखता रहेगा। आग बुझाने का कुछ भी प्रयत्न न करेगा वह कहता है कि यदि अल्लाह की इच्छा है कि मेरा घर जल जावे तो उसके विरुद्ध पुरुषार्थ करना निष्फल है और यदि अल्लाह चाहता है कि मेरा घर बच जावे तो फिर उसको किसी प्रकार की सहायता की ज़रूरत नहीं है परन्तु राशडाल को, चाहे वह परिस्थितिवाद को इस प्रकार का भाग्यवाद न स्वीकार करे जैसा कि यह तुर्क मानता है, तोभी इन शब्दों मे स्वीकार करना पड़ा कि परिस्थितिवाद अनाचार की वृद्धि का कारण है, वह कहता है—निःसन्देह इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि मानसिक गड़बड़ जो भाग्यवाद या परिस्थितिवाद के अशुद्ध समझे हुये रूप से होती है वह कभी २ अकर्मण्यता और अनाचार का कारण हो जाती है ईश्वर के अच्छापन, माफी की संभावना और इस खोज का कि बुराई के भीतर भी भलाई के तत्त्व निहित होते हैं दुरुपयोग करके यह बात ठीक

परिस्थितिवाद, भाग्यवाद नहीं

एक उदाहरण

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 329.

सिद्ध की जा सकती है कि इन से पाप करने की उत्तेजना प्राप्त होती है, जिधर मनुष्यों की स्वभावतः प्रवृत्ति होती है[1] ?

परिस्थितिवाद पर, राशडाल कहता है कि एक और प्रकार का भी आक्षेप होता है कि इस वाद के स्वीकार करने से प्रायश्चित्त या उत्तरदायित्व का कोई अर्थ बाक़ी नहीं रहता। परन्तु इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद से, ये दोनों सार्थक बने रहते हैं। एक इच्छास्वातन्त्र्यवादी कह सकता है कि "मैं चाहे किसी प्रकार पैदा हुआ, चाहे कैसी ही शिक्षा मिली, चाहे इससे पहले कैसे ही (अच्छे) कर्म मैंने किये, चाहे उस घड़ी से पहले मैं कैसा ही (अच्छा) था परन्तु उस घड़ी जो मैंने पाप किया उसे मैंने जानबूझ कर किया और यदि मैं न चाहता तो सम्भव था कि वह पाप न होता।" परन्तु यह विचार परिस्थितिवादियों की दृष्टि में भ्रममात्र है। राशडाल कहता है कि एक ओर, उपर्युक्त गड़बड़ी, का विचार कर के दूसरी ओर (इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के) इस विश्वास पर दृष्टि डाले तो इस विश्वास का अवश्य आचारिक मूल्य है। × × × क्यों उस व्यक्ति ने पाप किया? इसका समाधान यह किया जाता है कि यदि मनुष्य के भीतर पहले से बुरी प्रवृत्ति न होती तो वह यह बुराई कभी न करता और यदि उसके भीतर अच्छी प्रवृत्ति न होती तो वह इस प्रकार से पछतावा (प्रायश्चित्त) भी न करता[2]।

प्रायश्चित्त और उत्तरदायित्व का विचार

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 330 and 331.

(२) Do p. 332 and 333.

उत्तरदायित्व का भाव यह है कि एक पुरुष अच्छा या बुरा जैसा कर्म करता है उसका फल पावे परन्तु परिस्थितिवादियों के मतानुसार उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं इसलिये दंड भी नहीं पाना चाहिये।

उत्तरदायित्व

यदि सज़ा का उद्देश्य बदला देना है तो परिस्थितिवाद इसे न्याय नहीं समझता, यह सत्य है कि बदले के लिये दण्ड देने का संबन्ध इच्छास्वातन्त्र्यवाद से सदैव नहीं जोड़ा जाता और यह भी सत्य है कि कुछेक परिस्थितिवादी ही कठोर दण्डविधान के पक्षपाती हैं परन्तु फिर भी बदले के लिये दण्ड देने का विचार परिस्थितिवाद से स्वातन्त्र्यवाद की अपेक्षा कम सम्बधित है। दण्ड से बदले के विचार को पृथक् कर देने से उसका विरोध परिस्थितिवाद से बाक़ी नहीं रह जाता। यह बात कि एक व्यक्ति जैसा पैदा हुआ था, है या जैसी उसने शिक्षा पाई थी, है कोई कारण नहीं हो सकता कि क्यों वह व्यक्ति दण्डित न किया जावे। वह न्याय निर्णय की मर्यादानुसार जितना उसने पाप किया है उतना पापी है। एक पापी को जगत् में नहीं रहना चाहिये और यदि वह रहना चाहता है तो अच्छा बन कर ही रह सकता है।

परिस्थितिवाद का उत्तर

समाज की रक्षा, यह एक दूसरा कारण है जिससे पापी को दण्डित होना चाहिये। समाज की रक्षा का अभिप्राय यह है कि अन्य व्यक्तियों की असली भलाई हो, जिनमें से प्रत्येक का मूल्य उतना ही है जितना उस पापी का, या उससे भी कुछ अधिक + + +

समाज की रक्षार्थ दंडविधान

एक पापी को स्वतन्त्र रहने देना, जिससे वह समाज को आघात पहुँचाता रहे, केवल इस हेतु से कि उसने जो पाप किया है वह परिस्थिति का अनिवार्य फल था, और वह परिस्थिति भी दुश्चरित्रता का अनिवार्य्य परिणाम थी, अन्याय होगा, क्योंकि उस एक को दंड से बचाने से सहस्त्रों नर नारियों को कष्ट पहुँचेगा[1]। राशडाल ने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि एक पापी के साथ अधिक से अधिक दया का व्यवहार यही हो सकता है कि उससे पाप छुड़ा कर उसे अच्छा बना दिया जावे चाहे वह पाप छुड़ाने की प्रणाली कितनी ही कष्टप्रद क्यों न हो। यदि एक व्यक्ति के लिये दण्डविधान सामाजिक शस्त्रोपचार अथवा आचारिक औषधि हो तो उसका केवल इस हेतु से, कि वह पापी जैसा है (प्राकृतिक) कारणों का परिणाम है, उस पर उपयोग न करना वैसा ही अनुचित काम होगा जितना अनुचित उस व्यक्ति पर शस्त्रोपचार न करना होगा जिसको घाव अन्यों के द्वारा लगे हैं[2]।

उपयोगिता की दृष्टि से भी दंड मिलना चाहिये

एक आदमी ने ५ वर्ष हुये चोरी की थी उसकी सज़ा अब दी जाती है तो यह सज़ा परिस्थितिवाद के दृष्टिकोण से अनुचित न होगी चाहे वह बदले के विचार से ही दी जावे चाहे सुधार के उद्देश्य से, क्योंकि जिस जीव ने ५ वर्ष हुये चोरी की थी वही अब भी है इसलिये दंडविधान ठीक है परन्तु इच्छास्वातन्त्र्य (अनि-

एक उदाहरण

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 333 and 334.
(२) Do. p 335

यति) वादियों के विचार से यह दंड ठीक नहीं है क्योंकि ५ वर्ष हुये जिस आत्मा ने चोरी की थी वह अब नहीं है[1]। इसके उत्तर में इच्छास्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि मनुष्य का चरित्र उसके कर्मों पर प्रभाव डालता है परन्तु सर्वथा कर्म का निश्चय चरित्र से नहीं हो जाता। किन्तु सम्भावना रहती है कि कर्म बिना पहले चरित्र के प्रभाव के भी किये जा सकें। और इस प्रकार की कार्य्यप्रणाली का फल यह होगा कि एक ओर तो कर्म स्वतन्त्रता से होंगे दूसरी ओर चरित्र का क्रमशः निर्माण होगा जिससे एक समय में जाकर चरित्र में नवीनता आजायगी परन्तु ऐसा होने से भी पिछले किये कर्मों और पिछले चरित्र का उत्तरदायित्व बना रहेगा क्योंकि वे मनुष्य के स्वतंत्रता-पूर्वक किये कर्मों का फल है। राशडाल ने इस पर कहा है कि यदि इस प्रकार का पक्ष लिया जायगा तो यह याद रखना चाहिये कि संयोग या संभावना असली चीज़ नहीं है किन्तु ये हमारे उस मत के, जो काम में आते हुये कारणों के अधूरे ज्ञान से बना है, प्रकट करने के केवल ढङ्ग हैं[2]। जितना विश्वास हम ऐसी घटनाओं में रखते हैं, जिनके लिये कहा जाता है कि प्राकृतिक कारणों से निश्चित नहीं है उतना

(१) इस प्रकरण में इच्छा अथवा कर्मस्वातन्त्र्यवाद केवल अनियतिवाद (Indeterminism) के लिये प्रयुक्त हुआ है। भारतीय दर्शन की रू से इच्छास्वातन्त्र्यवाद दूसरी वस्तु है उसका अनियतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात इस प्रकरण के पढ़ने वालों को अपने ध्यान में रखनी चाहिये। पश्चिम के इच्छास्वातन्त्र्यवादी वे है जिनका आत्मा में विश्वास नहीं वे एक प्रकार के जड़वादी ही होते हैं।

(२) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 336 and 337.

संयोगमात्र में हमारा विश्वास है। और केवल संयोग के द्वारा किसी कार्य्य की संभावना का हम अन्दाजा भी नहीं कर सकते इसलिये यह भी भाग्य के विचार के सदृश बुद्धिरहित और विचार में आने के अयोग्य वस्तु है[1]।

राशडाल ने, परिस्थितिवाद के दृष्टिकोण से, कहा है कि जगत् में प्रारम्भ होने वाले प्रत्येक कार्य्य का कारण ईश्वरेच्छा है, प्रत्येक कार्य्य में जीव के अच्छे बुरे कर्म भी शामिल होते हैं[2]। इस स्थिति के लेने पर भी उसने अपने "आत्म-परिस्थितिवाद" के संबंध में कहा है कि इससे व्यक्तियों की आत्मा जो कर्म करती हैं उनका उत्तरदायित्व उन्ही (आत्माओं) पर रहता है. इस सिद्धांत में कोई हानि नहीं पहुँचती क्योंकि हम, अपने कर्मों के, कारण हैं यह समीपवर्ती अनुभव और आचारिक जागृति का विषय है[3] फिर भी मनुष्य के कर्म ब्रह्मांड में एक के बाद घटित दूसरी प्राकृतिक घटनाओं के सदृश नहीं हैं, जो केवल बाह्य कारणों से घटित होती हैं, बल्कि उन कर्मों के प्रकार, जीवात्मा के स्वभाव से जिसके वे कर्म हैं, निश्चित होते हैं। वह आत्मा सदैव पुरुषार्थी और प्रगतिशील है और आत्मविकास के द्वारा अपने स्वभाव को

मनुष्य और ईश्वर की इच्छाशक्ति

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 337.

(२) Do. p. 339.

(३) डाक्टर स्टाउट (Dr. Stout) ने मानसिक कर्तृत्व (Mental Activity) की बात उठाते हुए राशडाल के इस वाद का समर्थन किया है। (देखो Analytic Psychology Vol. I Book II Chapter I).

बदलता रहता है। इसके बाद, राशडाल फिर लिखता है कि यह, आत्मविकास, एक मौलिक प्रकार का, विकास है जिसे कोई व्यक्ति अपने लिये उत्पन्न नहीं कर सकता, और इस विकास के जारी रहने के लिये आवश्यक है कि ब्रह्मांड, जिसे उस व्यक्ति ने उत्पन्न नहीं किया है, बराबर मौजूद रहे[१]।

राशडाल ने लिखा है कि किसी दार्शनिक दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक घटित घटना का कारण, एक समष्टि की मूलप्रकृति है जिसका न कोई कारण है और न प्रारंभ यदि आस्तिक आत्मवादी ठीक हैं तो उस समष्टि में निम्न वस्तुयें सम्मिलित हैं।

समष्टि का कारणत्व और उसका विवरण

(१) ईश्वर (२) जीवों की सत्ता और उनका कारोबार ब्रह्मांड सहित जो उनका अनुभव है। और यदि जीव अनादि नहीं तो उसके चेतनामय व्यक्तित्व का प्रारंभ और उसके जीवन के बाद के दरजे भी उस समष्टि मे शामिल हैं जिन्हे अन्त में ईश्वरेच्छा का फल समझना चाहिये[२]।

उपर्युक्त विवरण ईश्वरेच्छा के देने के बाद भी राशडाल ने लिखा है कि इस विवरण मे ऐसी कोई बात नहीं है जिससे इस सिद्धांत मे कोई अदल बदल करने की ज़रूरत हो कि व्यक्ति स्वयमेव अपने कर्म का कारण है और यह भी कि वह व्यक्ति, निकटवर्ती ज्ञान अपने पुरुषार्थ का, रखता है। यदि ईश्वर को उन कर्मों का कारण

परन्तु मनुष्य अपने कर्म का कर्त्ता फिर भी स्वयमेव ही है

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p 338 and 339

(२) Do. p. 340.

कहा जाता है तो उस (ईश्वर) का कारण होना अन्य जगत् की घटनाओं के कारण होने के सदृश है। अन्य घटनाओं से तात्पर्य, जगत् में हुई प्राकृतिक घटनाओं और उन घटनाओं से जो भोगयोनि वाले पशु आदियों के भीतर हुआ करती हैं[१]।

आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि जीवात्मा ईश्वर के बनाये हुये हैं अथवा वह उनका कारण है। इस सम्बन्ध में कोई यह पूछ सकता है कि फिर उसने बुरी रूहों को क्यों पैदा किया जिससे बुरे कामों का प्रादुर्भाव हुआ।

जीवात्मा ईश्वर का बनाया हुआ है

राशडाल ने इसके उत्तर में कहा है कि बेशक बुरी रूहों को ईश्वर ही ने पैदा किया है और उनकी उत्पत्ति अन्तिम भलाई की प्राप्ति का एक साधन है जिस साधन के बिना वह भलाई प्राप्त नहीं हो सकती थी[२]।

ईश्वर ने बुरी रूहें क्यों बनाईं ?

राशडाल कहता है कि यदि हम इच्छास्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करें तो हमें मानना पड़ेगा कि पाप की वास्तविकता नहीं अपितु सम्भावना है कि वह हो सकता है असली सदाचार के लिये एक आवश्यक वस्तु है और वह सदाचार ईश्वर की उच्चतम भलाई का फल है, राशडाल फिर कहता है कि इस प्रकार से ईश्वर के उत्पन्न किये हुये जगत् में पाप होने का समाधान किस प्रकार किया जावे यह दिक्कत भी कम

आचार के आधार पर इसका समाधान

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 340.

(२) Do. p. 340 and 341.

होती है. और यदि इस (आचारसंबंधी) सिद्धान्त से जो (पापसंबंधी) कठिनता है पूर्णतया दूर हो जावे तो इस वाद के स्वीकार करने में मुझे कुछ भी कठिनता न होगी।

परन्तु राशडाल खुले शब्दों में स्वीकार करता है कि

इस कठिनता का समाधान असम्भव है

जगत् में व्यक्त कार्य कारणवाद के होते हुये जगत् में पाप होने का समाधान मैं नहीं कर सकता[१]।

ईश्वर का भविष्य-ज्ञान और स्वतन्त्रता

राशडाल कहता है कि ईश्वर की त्रिकालज्ञता कम किये विना इच्छा-स्वातन्त्र्य स्वीकर्तव्य नहीं हो सकता।

परिस्थितिवाद के स्वीकार करने से आचार या धर्म के लिये जो कठिनता उपस्थित होती है वह यह कि ईश्वर को

परिस्थितिवाद की कठिनता

इससे एक अंश में पाप का रचयिता मानना पड़ता है[२]। परन्तु राशडाल कहता है कि इसका यह तात्पर्य नहीं हुआ कि मनुष्य उस पाप का उत्तरदाता नहीं। मनुष्य तो साक्षात् उस पाप के करने की चेष्टा करता ही है परन्तु ईश्वर को जब उस पाप का रचयिता कहते हैं तो उसका मतलब यह है कि वह भलाई के साधन के तौर पर उस पाप के कराने की इच्छा करता है और जब कि वह पाप भलाई के साधन के तौर पर प्रयुक्त हो तब उसे पाप नहीं कह सकते[३]।

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p 342.

(२) Do. p 345.

(३) Do. p. 345

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये राशडाल ने अन्त में कहा है कि फिर भी अधिक से अधिक अच्छी बात यही है कि ईश्वर को पापेच्छा करने वाला किसी प्रकार से भी न माना जावे। इच्छास्वातंत्र्यवादी अवश्य ऐसा ही चाहते हैं परन्तु वह पूरी तरह से पूरा होता नहीं दिखाई देता, हां आत्मस्वातन्त्र्य-वादियों के इस दृष्टिकोण से कि साधनों की दृष्टि से, परिणाम जो निकलता है, काफ़ी होता है, ईश्वरीय शक्तियों के और अधिक ससीम करने के लिये बाधित नहीं होना पड़ता[1]।

इस आक्षेप से बचने के लिये, कि ईश्वर जीव को पापेच्छा के साथ पैदा करता है। आत्मा की नित्यसत्ता और पुर्नजन्म

आवागमन

का वाद प्लेटो ओरीजन के समय से माना जारहा है और वर्त्तमान "बहुसंख्य नित्यत्ववाद" भी इसलिये उठ खड़ा हुआ है। इस वाद का अभिप्राय यह है कि आत्मा अजन्मा है और जगत् की कार्य्यप्रणाली से, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति से नहीं, इन नित्य आत्माओं से पाप दूर हो जाया करते है और आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लिया करता है।

प्रो० होविजन (Howison) ने विकासवाद की सीमासंबंधी अपने निबंध, और शीलर महोदय ने अपने एक लेख में, यह

प्रो० होविज़न और शीलर का मत

सिद्ध करने का यत्न किया है कि आत्मा की नित्य सत्ता के स्वीकार करने से, इच्छास्वातन्त्र्यवाद माने बिना भी, पाप की उत्पत्ति का समाधान हो जाता है राशडाल ने इस सम्बंध में कहा है कि धार्मिक संसार में इस आत्मा की नित्यता पर

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 345.

विचार करते हुये इस आक्षेप के समाधान के उद्देश्य से, कि ईश्वर पाप का कर्ता न ठहरे ईश्वर की सत्ता के ही भेद कर दिये हैं। एक प्रकार के धार्मिक विद्वान् कहतेहैं कि ईश्वर की सत्ता का प्रकार की दृष्टि से आचार से कुछ सम्बन्ध नहीं है,

ईश्वर की सत्ता के दो भेद

और उसकी इस आचार से असंबन्धित सत्ता ही को सत्यासत्य और पापपुण्य की कसोटी ठहराते हैं[1]। दूसरे प्रकार के धार्मिक विद्वान् कहते हैं कि ईश्वर के काम, किसी मजबूरी से सीमित नहीं हैं बल्कि जो कुछ वह करता है अपनी श्रेष्ठता के ही आधार से करता है।

हूकर की सम्मति

इस सम्बंध में हूकर (Hookar) ने कहा है कि ईश्वर की सत्ता उसके कार्य्यों के लिये एक प्रकार का कानून है[2]।

राशडाल ने इस आत्मा के नित्य सत्ता के सम्बंध में कहा है कि इससे मनुष्य में भी उसी प्रकार की स्वतन्त्रता आती है जैसी ईश्वर में है और यद्यपि यह सन्तोष के योग्य है परन्तु इससे एक कठिनता दूर होकर सैंकड़ों कठिनतायें और पैदा हो जाती हैं उन कठिनताओं को सुनिये:—

---

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 346.

This tendency is exhibited by Dun Scotus, who based the second table of the Decalogue (मूषा के १० वर्ण) upon the arbitrary will of God and by Occam, who subsequently referred both tables to such a will a course to which he was followed by many ultra Calvinistic Divines

(२) Ecclesiastical Polity, Book 1, Chapter II.

मस्तिष्क और शरीर, चरित्र और इन्द्रियां, समष्टि और व्यष्टि के चरित्रों में परस्पर ऐसा घनिष्ट सम्बंध है कि यदि यह माना जावे कि मनुष्य का चरित्र उसके पहले जन्म के कर्मों से बनता है तो इस बात के मानने के लिये विवश

आत्मा के नित्यत्व मानने में कठिनतायें

होना पड़ेगा कि प्रत्येक आत्मा को उसकी प्रत्येक मृत्यु के बाद, किसी पृथक् स्थान पर रखना पड़ेगा जबतक कि विकास के द्वारा माता पिता विकसित न हो जावें जहां उचित रीति से वह भेजा जा सकता है और उसका अपना शरीर भी ऐसा न हो जावे जिससे उसकी वर्तमान आचारिक दशा ठीक २ प्रकट हो सके और जो आगे के लिये उन्नति मे साधक हो। इस कठिनता को उपस्थित करते हुये राशडाल ने लिखा है कि आत्मा का नित्यत्ववाद ऐसा नहीं है कि जिसे कोई निश्चित रीति से असिद्ध कह सके परन्तु यह ज़रूर है कि इसके लिये अनुभव की गवाही, जो प्रारंभिक बात है, नही है और इस पर जहांतक विचार किया जाता है कठिनतायें ही कठिनतायें सामने आती हैं इस वाद से ईश्वर की सत्ता सीमित होती है। अवश्य ईश्वर ससीम है परन्तु अपनी ही प्रकृति से और अन्यो की सत्ता से भी जिनकी सत्ता का कारण उसकी वही प्रकृति है। और इस ससीमता से उसमे कोई आचारिक कमी नहीं आती × × + × इसलिये ब्रह्मांड के कार्यों को सुगमता के साथ समझा हुआ होने के लिये अद्वैतवाद ही ठीक हो सकता है। बहुसंख्यनित्यत्ववाद, जिसके द्वारा और भी कई चीज़ नित्य ठहरती हैं, नही[1]।

डाक्टर मैकटैगार्ट (Dr. Mc Taggart) के मतानुकूल,

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 346 and 347.

जिसे पूर्ण कहते हैं, वह एक समाज है जिसमें असंख्य नित्य आत्माओं का समावेश है परन्तु उनमे से कोई एक भी अन्यों की अपेक्षा अधिक समर्थ नहीं है जिसे ईश्वर कहने की प्रतिष्ठा दी जा सके। इस मत पर भी राशडाल के मतानुसार, सब के सब वे आक्षेप घटित होते हैं जो बहुसंख्य नित्यत्ववाद पर किये जा सकते हैं। राशडाल कहता है कि इस कठिनता (आक्षेप) के दूर करने के लिये मैकटैगार्ट के बहुसंख्यक नित्य आतमाओं की एक समष्टि बनाली जाती है और इस प्रकार असंख्य आत्माओं की एक संख्या करदी जाती है परन्तु इससे एक दूसरा आक्षेप जो इस (मैकटैगार्ट के) मत पर किया जाता है बना रह जाता है और वह मैकटैगार्ट का इस प्राकृतिक जगत् का केवल अनुभवात्मक मानना है[1]।

डाक्टर मैकटैगार्ट का मत और राशडाल

राशडाल कहता है कि परिस्थितिवाद की एक बड़ी कठिनता यह है कि इस वाद के पोषक बाह्य परिस्थिति से विवशता के विचार को छोड़ना नही चाहते हैं जिससे विवश होकर एक आदमी, और सच्चा आदमी जो केवल प्रकृति ही का बना हुआ नही है, वह काम करता है जिसे वह करना नहीं चाहता और इसका फल यह होता है कि आत्मा का कारणत्व, जिससे आत्मा का विकास होता है यान्त्रिक शक्तियों के कारणत्व से रिलमिल जाता है। या वे समझते हैं कि यह आत्मा का स्वभाव है कि जिससे कोई कार्य्यविशेष निश्चय किया जाता है परन्तु आत्मा की कल्पना करने में वे उसकी सीमा वहीं तक

परिस्थितिवाद की एक और कठिनता

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 347 and 348.

समझते हैं जितना कि वर्तमान में उसकी चेतना का विकास हो चुका है और इसलिये वे यह भी कल्पना करते हैं कि प्रायश्चित्त उन्नति अथवा चरित्र परिवर्तन का परिस्थिति-वाद में निषेधक है। इस पर राशडाल कहता है कि वे भूल जाते हैं कि आत्मा वह है जिसकी पूर्ण प्रकृति इस समय अव्यक्त है स्वयं उस अथवा अन्य पुरुषों के परीक्षणों से भी अव्यक्त है, अवश्य यह कल्पना की जाती है कि वह ईश्वर से अव्यक्त नहीं है। और इस प्रकार आत्मा को समझने के विचार से मनुष्य के भावी चरित्र की पेशीनगोई का विचार बहुत सीमित रह जाता है। एक और बात है जिसका इसी सम्बन्ध

कठिनता का दूसरा पहलू

मे विचार कर लेना चाहिये कि हमारी आत्मिक अवस्थायें, गुणों की दृष्टि से, भिन्न २ हैं अर्थात् जिनको हम आत्मिक घटनायें कहते हैं उद्वेग, अनुभव, इच्छा आदि वे दो व्यक्तियों में या एक ही व्यक्ति में दो भिन्न समयों में एक ही नहीं होती प्रत्येक व्यक्ति में और मस्तिष्क की प्रत्येक अवस्था में दूसरे की अपेक्षा विषमता वाली होती है। अतः स्पष्ट है कि हम ऐसे नियम बनाने में सदैव असमर्थ रहेंगे जिनसे मनुष्यों के सभी भावी कर्मों की पेशीन-गोई की जा सके। यह नियम, कि एकही कारण सदैव एक ही कार्य्य उत्पन्न करता है, हमको आत्मिक क्षेत्र मे सहायता नहीं दे सकता क्योंकि एक ही कारण दुबारा उपस्थित ही नहीं हो सकता ये सब बातें बर्गसन महोदय द्वारा भलीभांति प्रकाशित हुई हैं[1]। यह ज़रूर है कि आत्मिक अवस्थाओं में भी कुछ बातें मिलती जुलती हैं और कुछ भिन्न, इसलिये केवल एक

(१) *Sur les donnees immed, de la conscience Passim*

ख़ास दर्जे तक ही, हम आत्मिक अवस्था में कुछ ऐसी बातें देख सकते हैं, जिनमें मेल है और कुछ ऐसी जिनका बाह्य घटनाओं से मेल पाया जाता है यद्यपि इन मेल के नियमों में भी, व्यक्तियों की विशेष विभिन्नता के कारण, अदल बदल होने की संभावना बनी रहती है।

बर्गसन की स्थिति

बर्गसन परिस्थितिवाद के विरुद्ध है और उसका निजी विचार आत्म-स्वातन्त्र्यवाद से मिलता जुलता ही है[1]।

राशडाल ने, इस इच्छास्वातन्त्र्य के विषय को समाप्त करते हुए, लिखा है:—"एक बार फिर मैं कहता हूं कि परि-

अन्तिम परिणाम

स्थितिवाद का जो रूप मैंने उपस्थित किया है उससे आचारवाद के समर्थकों को ज़रा भी निराशित नहीं होना चाहिये। मेरी सम्मति में वह इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के उपस्थित किये हुए जगत्संबंधी प्रश्नों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। मेरे वाद में ईश्वर को जगत् का अन्तिम कारण बतलाया गया है और जगत् को अनित्य। ईश्वर जगत् का उत्पादक होते हुए जगत् की कार्य-प्रणाली को इस प्रकार चलाता है कि जिससे वह अपने उस अन्तिम उद्देश्य की ओर चल सके जिसकी अच्छे से अच्छे रूप में अब तक कल्पना की गई है। ईश्वर उच्च आत्माओं को, जिन्हें स्वयं उसने ही पैदा किया है, प्रेरणा करता है कि वे सांसारिक मनुष्यों की इस कार्य में सहायता करें, पाप अपनी सत्ता रखता है, वह धोखा नहीं है, यह अवश्य है कि उसका भविष्य अधिक से अधिक कमी की ओर है। पाप कितना कितना कम

(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 348 and 349.

होगा और पुण्य की कितनी कितनी वृद्धि होगी, यह मनुष्य के पुरुषार्थ की मात्रा पर निर्भर है। यह निःसन्देह सच है कि ईश्वर जानता है कि हममें से प्रत्येक कितना उपर्युक्त पुरुषार्थ कर सकता है और कितनी मात्रा पाप की कम कर सकता है परन्तु हम नहीं जानते और न मनुष्य, करने से पहले, यह जान सकता है कि वह क्या करेगा। इन कार्यप्रणालियों में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिससे कोई विघ्नबाधा उपस्थित होती हो, अपितु प्रत्येक बात ऐसी है जिससे ऐसी इच्छायें और उत्साह पैदा हों, जिनके आधार पर यह निश्चय किया जा सके कि संसार के कल्याण होने में हम कितना यत्न कर सकेंगे।

हौजसन और इच्छास्वातंन्य

डाक्टर शैडवर्थ हौजसन ने भी इच्छास्वातन्त्र्य के, वैसे ही अर्थ किये हैं, जिस प्रकार के अर्थ राशडालने अपने आत्मपारिस्थितिवाद के किये हैं।



(१) The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 354 and 355

सूची हिन्दी के उन शब्दों की जो अंजेरजी के दार्शनिक शब्दों के स्थान पर इस पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं, अंगरेजी शब्दों के साथ

अ

अन्तःप्रकृति Inner Natuıe
अध्यात्मविद्या Metaphysics.
अतीतात्मक Transcendental.
अनुभवमूलक Empirical
अलक्षित Implied.
अभिसंधि Significance
अवभास Manifestation.
अध्यात्मविद्या Theology.
अवस्था Aspect.
अग्र निश्चय Pre-determination
अर्थ लगाना Interpretation
अन्तिम कारण Final Cause.
अन्तिम कारणवाद Finalism.
अप्रकट शक्ति Potentiality.
अतीतवाद Transcendentalism
अपरिहार्य Emergent
अनियत कारणवाद Theory of Occasional Causes.
अनुभवात्मक Empirical
अर्थवैपरीत्य Antethesis
अनेकतावाद Pluralism.

अनियतिवाद् Indeterminism.
अकर्तृक Impersonal.
अकर्तृक चरित्र Impersonal Behaviour.
अन्तर्गतार्थ Content.
अचिरस्थायी जीव Transient Ego
अन्तर्बोध Apperception.
अतीतात्मक जीव Metaphysical Soul.
अल्पज्ञ Finite
अव्यक्त Noumena
अनुभवातीत Transcendental.

आ

आचारिक जीवन Moral Life
आकारद् Plastic Material
आचारनीति Morality.
आन्तरिक बुद्धि Speculative Reason.
आचारनीतिज्ञ Moral Being.
आवेग Impulse
आचारशास्त्र Moral Law.
आचारिक उत्तरदायित्व Moral Responsibility
आचारिक जगत् Moral World
आदिमोत्पत्ति Origin.
आदर्श Ideal.
आन्तरिक आवश्यकता Subjective Requirement.
आन्तरिक अवस्था Subjective Condition.
आचारिक निमित्त Moral Causation
आवेग Emotion.

आचारिक आवश्यकतावाद Moral Necessity.
आनुषंगिक (अनुवार्तित) Consequent.
आध्यात्मिक अणु Monad
आपातिक (अचानक हो जाने वाला) Cotingent
आत्मनियतिवाद Self-Determination.
आध्यात्मिक अनुभवैकवाद Metaphysical Empiricism.
आत्मार्थव्यंजक Self-Explanatory.
आत्मप्रतिज्ञा Self-Assertion.
आत्मा Soul.
आत्मनियतिवाद Self=Determinism.
आत्मपरिस्थितिवाद Self=Determinism

इ

इन्द्रियविषय Sensibility.
इन्द्रियार्थ Sensibility.
इन्द्रियमय शरीर Organic Structure.
इन्द्रजाल Illusion
इच्छा Appetition.
ईश्वरांश Aspect of God.

उ

उत्पत्तिवाद Genetic Theory.
उत्पादक शक्ति Creative Force.
उष्णधर्म परिमाण Temperature.
उपपत्ति Rationale.
उद्देश्यनिश्चायिका विद्या Teleology.

ऋ

ऋतुविद्या Meteorology.

क

कृत्यबुद्धि Practical Reason.
कारणनियम-कारणशास्त्र Law of Causation.
कृत्रिमजीवनसाधक Artificer.
कार्य्य तथा प्रतिकार्य्य Reciprocity.
कर्मपूरक कारण Efficient Cause
कल्पक विकास Creative Evolution
कष्टप्रद हास्य Noxious Humour.
कारणिक समता Causal Uniformity.

ग

गतिमय कारण Efficient Cause
ज्ञानप्राप्ति Perception.
गणितिक निरन्तरता Mathematical Continuity.
ज्ञान माध्यम *Scientia Media.*

घ

घनात्मक शक्ति Positive Power.

च

चित्तवृत्ति Feeling, Conscious State.
चेतनाद्वैतवाद Idealism.
चेतना का प्रति मूलक होना Atomic Theory of Consciousness.

ज

जगदुत्पत्तिवाद Cosmology, Cosmic Evolution.
जन्मसिद्ध स्वभाव या प्रकृति Instinct.
जडत्व नियम Law of Inertia.
जीवपार्थक्यवाद Vitalism.

जडत्व Inertia

जीवात्मा Concrete Self.

जन्मसिद्ध चरित्र Original or Birth=Character.

ढ

ढांचे की बनावट Structure.

त

तय्यारी Equipment.

तत्त्व Substance.

तात्त्विक स्थिति Significance.

तर्कानुरूप अधीनता Logical Dependence.

त्रिकालज्ञता Pre=destination.

द

दिव्यभाव Grace.

द्वैतवाद Realism, Pluralism.

दिव्यतत्त्व Divine Substance.

दैववाद Fatalism.

दिव्य ईक्षण Divine Will.

ध

धर्म Virtue.

न

नियतिवाद Determinism.

नामरूप Phenomena.

नित्यसत्य Absolute, Absolute Reality.

निदर्शन Instance.

नीहार नैबिड्यम Nabular Hypothesi's.

नूतनसम्बंधनियमवाद New Principle of Relativity.

निरन्तरता Continuity.
निबन्धात्मक जगत् Universe of Discourse
नरक Tartarus.
निरवयव Simple
निमित्त Motive
निदर्शन Instance.
नित्यत्व वाद Pluralism.

प

प्रकृति, प्राकृतिक नियम Nature.
परस्थिति परिवेष्ट Environment.
परिस्थितिवाद, परतन्त्रतावाद Determinism.
प्रयोजन, प्रवृत्तिहेतु Motive.
परतंत्रता Heteronomy.
प्रवृत्ति Impulse
परतंत्रता Necessity (Opposed to the Freedom of Will).
प्रत्याहार Abstraction
प्राकट्य Manifestation.
पूर्ण Absolute
प्रकृतिवाद Naturalism.
परोक्षज्ञानवाद Mysticism.
प्राकृतिक चुनाव Natural Selection.
पसंद का माध्यम Faculty of Choice
प्रकाशमात्रावाद Theory of Light Quanta.
पुनः स्मरण Revival
परावर्तन Refraction.

प्रतिच्छाया Reflection.
प्रवृत्ति हेतु शक्ति Motive Force.
प्राकृतिक निमित्त Natural Causation.
प्रकोपोत्तेजन Provocation.
पूर्वबोध Premonition, Predate.
प्रतिव्याघात Counter=action.
परमाणु निमित्त Atomic.
प्रवाहरूप Continuons.
पूर्वगामिन इच्छायें Antecedent Volitions.
परिपक्तता Efficiency
प्रवृत्ति Motive.
पूर्वज Predecessor.

ब

बुद्धिवादी Rational Being
बौद्ध पदार्थ Abstraction.
बनावटी चुनाव Artificial Selection.
बलात्कार Compulsion.

भ

भावप्रधानात्मक Idealistic.
भाव Feeling.
भावप्रधानवाद Idealism
भाग्य Destiny, Spontaneity.
भावप्रधानमय घटनायें Ideal Facts.
भौतिक नियतिवाद Physical Determination.
भिन्न Discrete.

म

मर्त्य Significance.

मीमांसा Teleology
मन Mind.
मनोवैज्ञानिक परतंत्रतावाद Psychological Theory of Determination.

य

योनिविकास Biological Evolution
यदृच्छा Contingency.
यंत्रकलाज्ञ Machinist.

र

राग Desire.

व

वाह्यस्थितबल Force of Circumstances
वृत्ति Function.
वस्तुतत्त्व Noumena, Thing = in = itself.
व्यवसायात्मिका बुद्धि Practical Reason.
वस्तु स्वातन्त्र्यवाद Realism.
बहुसंख्य नित्यत्व वाद Pluralism.
व्यक्तिगत तथा आन्तरिक प्रश्न Abstract and Subjective Problems.
वाह्यावस्था Objective Condition.
वासना Feeding Impressions of Past.
व्यावर्तन Exclusion.
विशिष्ट गुरुत्त्व Specific Gravity.
वस्तुतात्त्विक जगत् The World of Thing = in = itself.
वैज्ञानिक संयोग Scientific Synthesis.
व्यंजक दृश्यवाद Presentational View of the Self.

वस्तुतत्त्वज्ञसंघ Realistic Union.

स

स्वभाव Disposition, Temperament.

सज्जीकरण Equipment

स्वरूप Complexion.

सयुक्तिक Rational

सामान्य बुद्धि Common Sense.

समयानकूल सरगामी Functional Activities.

समष्टि और वाह्यजगत् संबंधित प्रश्न Concrete and Objective.

सांचा Frame.

सोद्देश्यता Purposiveness.

सापेक्षिक विकास Imergent Evolution.

स्वतः शीर्ण Self=Contradictory.

समायोग Adjustment.

संभाव्य जगत् World of Possible Beings.

सत्य अखंड (है) The Real as Valid

सोपाधिक Conditional.

स्वयं चलद् यंत्र Automotion.

स्वेच्छा Spontaneity

समता Uniformity.

स्वरूप Complexion.

संवेदनविज्ञानवाद Sensationalism, Empiricism.

संकलन का प्रश्न The Problem of Synthesis.

संवेदन संघात Compexity of Sensation.

सर्वेच्छा Absolute Will

सामाजिक शस्त्रोपचार Social Surgery
संयोग Chance
संभावना Probability.
सकर्मक कारणत्व Transitive Causation.
सांसारिक परम्परा Social Heredity.
सर्वातिरिक्तवाद Transcendental Theory.

श

शील Disposition, Temperament.
शारीरिक कर्तृत्व Living Activity, Living Action.
शक्तिसामंजस्य Unity of Force.
शुद्ध अहम् Pure Ego.
शून्यवाद Nihilism

ह

हेतुवादी Rational Being.
हेतुविद्या Teleology.
हेत्वाभास Sophism
हेतुकजीवन Rational Life.
हर्षवाद Hedonism
हर्षवादी Hedonist.

——— ———